शांति का शाश्वत मार्ग

(वैदिक मानववाद)

डॉ० दिलीप वेदालंकार

एम०ए०, पीएच०डी०, डी०लिट०

(भारतीय संस्कृति एवं वेदों के अंतर्राष्ट्रीय प्रवक्ता)

ईश-वन्दना

सं नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवनां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥

अथर्ववेद 2.1.3

वही परब्रह्म परमात्मा हम सबका पिता, जनक और भाई है। वही सब पदार्थों, सब स्थानों तथा सब ज्ञातव्य को यथावत् जानता है। उस परमात्मा की शक्ति सब देवों में रहती है, इसलिए समस्त अन्य देवों के सब नाम उसके लिए प्रयुक्त किए जाते हैं—ये अन्य सारे नाम उसी के समझे जाते हैं। सम्पूर्ण पदार्थमात्र उसीमें जाकर एकरूप हो जाते हैं।

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥

यजु० 36.9

सबके साथ प्रेम करनेवाला (मित्रतुल्य), सबसे श्रेष्ठ, परम ऐश्वर्यवान्, सर्वव्यापक, न्यायकारी, वेदवाणी का स्वामी, विश्व का अधिपति और विशेष क्रम से कार्य करनेवाला ईश्वर हम सबका कल्याण करे।

ओ३म्
वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय
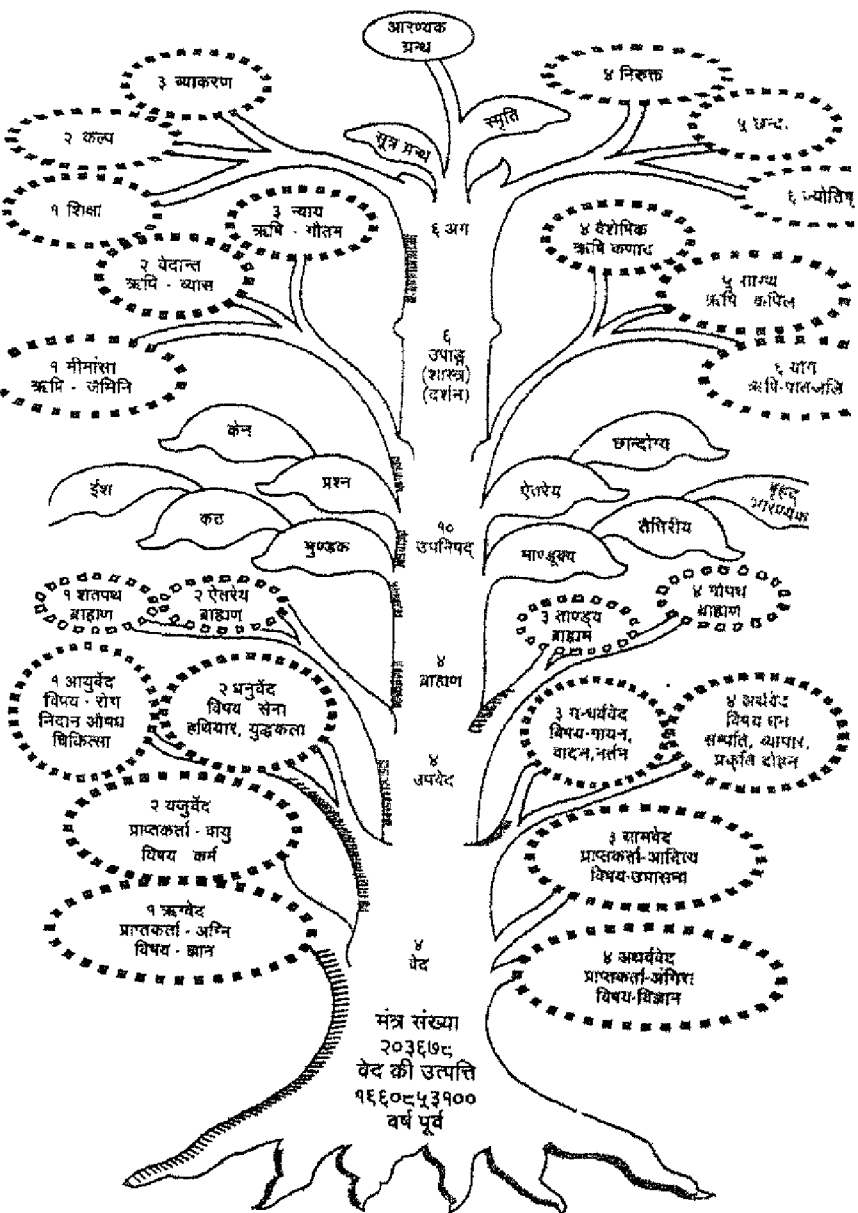
भूमिका

वैदिक मानववाद ही शान्ति का शाश्वत मार्ग है

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वंशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ *—यजु:० 36/17*

यजुर्वेद के इस मन्त्र में मनुष्यों की ही नहीं, सम्पूर्ण लोकों एवं जीवों की शान्ति की प्रार्थना की गई है। असल में 'शान्ति' शब्द संस्कृत की 'शम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। 'शम्' (शमु) का अर्थ है उपशम या समन्वित होना। चुपचाप निठल्ला बैठना शान्ति नहीं है, मुर्दनी शान्ति नहीं है। आप मन को चिन्ताओं में डुबाए शान्ति-भाव से बैठे हैं तो वह भी शान्ति नहीं है। श्मशान की शान्ति भी शान्ति नहीं है। वस्तुतः शान्ति उसे कहते हैं जिसमें शान्त रहने पर भी मन में एक आनन्दानुभूति विद्यमान रहती है। परिवार में पत्नी एक ओर मुँह फुलाए बैठी है, पति महोदय ऑफिस से आए और तने हुए चारपाई पर लेट गए। बच्चे अलग-अलग पड़े सो रहे हैं तो इस प्रगतिशून्यता या गतिहीनता को शान्ति नहीं कहेंगे।

वेदज्ञ जानते हैं कि हम प्रतिदिन जो यज्ञ करते हैं उनमें कम-से-कम 25 बार शान्ति शब्द दोहराया गया है। हमने ऊपर जो 'द्यौः शान्तिः' मन्त्र लिखा है, उसकी तो टेक ही शान्ति है। इस मन्त्र में केवल मानव-समाज की ही शान्ति की प्रार्थना नहीं की गई, जड़-जंगम सब जगह शान्ति की कामना की गई है।

शान्ति है क्या? शमु (शम्) धातु का एक अर्थ है समन्वित होना। समन्वित होना ही शान्ति है—वास्तविक शान्ति है। हारमोनियम बाजा आपने सुना होगा। 'स र ग म प ध नी' सात प्रकार के स्वर इसमें वर्तमान हैं। सातों स्वरों में कोई ऊँचा, कोई मध्यम और कोई नीचा है। इन सातों स्वरों में जब समन्वय हो जाता है तब हारमोनियम से अनेक प्रकार के राग-रागिनियाँ निकलने लगते हैं। इसी समन्वय का नाम शान्ति है एक नारगी लीजिए नारगी मे खट्टा मीठा नमकीन कई रस हैं परन्त वे रस आपस में ऐसे समन्वित हैं कि नारगी में एक विशेष प्रकार का

स्वाद अनुभव होने लगता है। शान्ति भी ऐसा ही रस है।

अब विश्वशान्ति स्थापित करने के लिए हमें अशान्ति के कारणों को सोचना होगा, साथ ही एकता के उपायों पर भी विचार करना होगा।

अभी एक लेख मेरी दृष्टि में आया। 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की एक शाखा यूनेस्को है। यह शिक्षा और संस्कृति के विकास का भी प्रयत्न करती है। उसकी भूमिका में लिखा है—"क्योंकि युद्धों का श्रीगणेश मनुष्यों के मनों में होता है इसलिए विश्वशान्ति की नींव भी मानव-मन में गाड़कर रखने से संसार में शान्ति हो सकती है।" बिल्कुल ठीक! यूनेस्को के विधान-निर्माताओं ने ठीकमार्ग को ठीक से पहचाना है। इसमें सन्देह नहीं कि युद्धों का सूत्रपात मानव मन में होता है, ठीक है, परन्तु उसका उपचार कहाँ हुआ? राष्ट्रसंघ में सैकड़ों देशों के जो प्रतिनिधि आकर बैठते हैं, वे देखने को तो एक-दूसरे के निकट बैठे होते हैं, परन्तु उनके मन एक-दूसरे से इतने ही दूर होते हैं, जितने उनके देश एक दूसरे से होते हैं। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति आ जाती है कि राष्ट्र—सभ्य राष्ट्र के प्रतिनिधि अपने विरोध में किसी बात को सुनकर असभ्यता के आचरण पर उतारू हो जाते हैं और अपने जूतों से मेज पीटने लगते हैं। ऐसी दशा में हम वाणी से शान्ति की चर्चाएँ करते हैं और मन से अशान्ति की।

श्री गंगाप्रसादजी उपाध्याय ने 'द्यौः शान्तिः' मन्त्र की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है। उसमें मानसिक अशान्ति को अशान्ति का कारण बतलाया है। उनका कहना है द्युलोक में पूर्ण शान्ति विद्यमान है। पूर्ण शान्ति का तात्पर्य है कि द्युलोक में पूर्ण समन्वय अर्थात् हार्मनी (Harmony) विद्यमान है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष आदि दसों पदार्थों का निरीक्षण करते जाइए, सबमें हार्मनी या शान्ति के दर्शन होंगे, परन्तु इस मन्त्र के दशों भाग तो पूर्ण हैं, अन्तिम अर्थात् ग्यारहवाँ भाग एक ऐसा भाग है जो स्वयं में पूर्ण नहीं। उसकी पूर्ति के लिए दूसरे वाक्यों की आवश्यकता है। 'सा मा शान्तिरेधि'—वह शान्ति जो ऊपर के द्युलोकादि दस पदार्थों में विद्यमान है—वह समन्वय, वह पूर्ण शान्ति जो इन दसों पदार्थों में है 'सा' वह शान्ति—प्रश्न उठता है कौन-सी शान्ति? यदि इस 'सा'-कौन सी शान्ति का उत्तर 'या' (जो) में न दिया जाए तो 'सा' का प्रयोग निरर्थक हो जाता है। उदाहरण के लिए आप कहें कि मुझे वह चीज ला दीजिए तो आप झट पूछेंगे कौन-सी चीज? जब तक 'कौन-सी' का निराकरण न हो 'वही चीज' का कोई अर्थ नहीं निकलता। इसलिए 'सा मा शान्तिरेधि' को पूरा समझाने के लिए अन्य वाक्यों की आकांक्षा रहती है। श्री उपाध्यायजी ने अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में युक्ति-युक्त रूप में इसको स्पष्ट किया है। उन्हीं के शब्दों में मैं कहता हूँ

जो मनुष्य ईश्वर से इस मन्त्र द्वारा प्रार्थना करता है वह स्वयं अनुभव करता है कि उसका मन शान्त नहीं है। चारों ओर से चिल्ल-पुकार मचती है कि संसार अशान्ति का घर है। जिधर देखो अशान्ति की आग लगी हुई है। दुःखी प्राणी चिल्ला रहा है कि शान्ति मिले, शान्ति मिले। सांख्यसूत्रों में कपिल महामुनि ने तो यहीं से आरम्भ किया है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

तीन प्रकार के दुःख हैं—(1) *आधिभौतिक* अर्थात् वे दुःख जो हमें दूसरो मनुष्यों या दूसरे प्राणियों से मिलते हैं, जैसे चोर हमारा सामान चुरा ले जाता है, शेर-चीते हमें घायल कर देते हैं, इत्यादि। (2) *आदिवैविक* दुःख वे हैं जो संसार के जड़ पदार्थों द्वारा प्राप्त होते हैं, जैसे आग लग जाना, अतिवृष्टि होना, भूकम्प आना, ओले या पाला गिरना। (3) *आध्यात्मिक* दुःख वे दुःख हैं जो हमारे भीतर से उपजते हैं, जैसे क्रोध, लोभ, मोह, शंका आदि। इन तीनों प्रकार के तापों से सन्तप्त होकर मनुष्य चिल्लाने लगता है 'ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्ति.।' अर्थात् हे प्रभो! हमें तीनों प्रकार के दुःखों से छुड़ाकर शान्ति दिलाइए। बिना शान्ति के जीवन बेकार है। हाँ, अशान्ति के लिए केवल एक ही स्थान है, वह है मनुष्य का मस्तिष्क। यह बड़ा विचित्र और दुस्साध्य है—'**विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः**' मधु में विष मिला देना मनुष्य के मन का काम है। मनुष्य शान्ति की तलाश में भटक रहा है। कभी वह शराब में शान्ति खोजता है, कभी वह विषयो मे शान्ति खोजता है, परन्तु वहाँ शान्ति नहीं। शान्ति तो मनुष्य के मन में है।

ईसवी सन् से तीन शताब्दी पहले अशोक ने मानव-समाज को हिंसा का नहीं अहिंसा का सन्देश सुनाया था। इस सन्देश में स्वार्थ और अहंकार नही, नि स्वार्थ तथा विनय निहित थी। जिस प्रकार का महा-सम्मेलन नैरोबी में हुआ था, उसी प्रकार की महासभा अशोक ने मुग्गलिपुत्त तिष्य के सभापतित्व मे, 'ससार को शान्तिधाम बनाने के लिए क्या उपाय किये जाएँ' इस विषय पर विचार करने के लिए बुलाई थी। उसने निर्णय किया था कि सब मनुष्य एक ही स्रष्टा की सन्तान हैं, भाई-भाई हैं। इस सन्देश को फैलाने के लिए उसने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को श्रीलंका भेजा। इसके बाद अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सन्देश लेकर परिव्राजकों की टोलियों-पर-टोलियाँ संसार के कोने-कोने में घूमने लगीं। ये लोग असम, बर्मा, बाली, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, चीन, जापान, तिब्बत, पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया, पूर्वी तुर्किस्तान, अफगानिस्तान—सब जगह पहुँचे। इनका सन्देश शान्ति का सन्देश था। इनका सन्देश तलवार का नहीं. आत्मा का था।

शान्ति का निवास मनुष्य का मन है। ह्वेनत्सांग 630 ई० में राजा हर्ष के समय भारत आया था। वह बारह वर्ष भारत में रहा और यहाँ के बहुमूल्य ग्रन्थों को लेकर जब अपने देश जा रहा था तो उसके साथ दो बौद्ध भिक्षु भी थे। उनका नाम था त्यागराज और ज्ञानगुप्त। इस यात्रा में एक दिन जब भयंकर तूफान आया और कप्तान ने आदेश दिया कि लोगों की जान बचाने के लिए जरूरत से ज्यादा सामान समुद्र में फेंक देना है तो ह्वेनत्सांग अपनी पुस्तकें समुद्र में फेंकने को तैयार हो गया। इतने में इन दोनों ने उसे ऐसा करने से रोका और बतलाया कि इन पुस्तकों को मत फेंको। इनका सन्देश हज़ारों आत्माओं को जीवन का सन्देश दे सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि यदि बोझ को हल्का ही करना है तो इन्हें समुद्र में फेंकने की अपेक्षा हम ही कूदकर बोझ कम कर दें। वे कूदकर समुद्र में विलीन हो गए। अभी ह्वेनत्सांग उन्हें ऐसा न करने के लिए कहने ही वाला था। यह दृश्य देखकर उसने उस भूमि को नमस्कार किया जिसने ऐसे नर-रत्नों को उत्पन्न किया था जो विश्व में शान्ति का सन्देश गुंजा देने के लिए जान पर भी खेल गए थे।

महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी ने अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रचार किया। यह वेदों का सन्देश था जो सदियों से भारत में लुप्त हो चुका था और इसे महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के माध्यम से विश्व में फैलाने का प्रयत्न किया। इसी सन्देश को फैलाने के लिए महर्षि दयानन्द ने वेदों का सन्देश दिया—

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्—सारे संसार को आर्य बनाओ। 'आर्य' शब्द का अर्थ क्या है, सुनिए—"आर्य शब्द सुनियन्त्रित जीवन, स्पष्टवादिता, शिष्टाचार, उच्चता, सद्व्यवहार, साहस, विनम्रता, पवित्रता, मनुष्यता, दया, निर्बलों की रक्षा, उदारता, सामाजिक कर्त्तव्यों का अनुष्ठान, ज्ञान की जिज्ञासा, बुद्धिमानी, विद्वानों के लिए आदर-बुद्धि और सामाजिक आदर्श का बोध कराता है। मनुष्य की भाषा में कोई भी अन्य ऐसा शब्द नहीं जो आर्य शब्द से अधिक पवित्र इतिहास रखता हो।"

'आर्य' वह है जो प्रयत्नशील है और अपने बाहर और भीतर की प्रत्येक वस्तु पर विजय प्राप्त करता है जोकि मानव की उन्नति के मार्ग में बाधक होती हैं। आत्मनियन्त्रण उसके स्वभाव का प्रथम लक्षण है।

आज हमारे पास सब-कुछ है—धन है, सम्पत्ति है, मकान हैं, मोटरें हैं, हवाई जहाज हैं, परन्तु हम सब अनार्य हैं, स्वार्थ में इतने डूबे हुए हैं कि भाई भाई को नहीं देख सकता, बहन बहन से झगड़ा कर रही है। माँ-बाप पुत्रों के शत्रु बने हुए हैं। यह तो परिवारों की बात हुई। अब संसार पर दृष्टि डालें एक देश दूसरे

देश के खून का प्यासा बना हुआ है। आतंकवाद को बढ़ाने देने का फल है कि जहाजों, रेलगाड़ियों, मोटरों और बसों को क्षति पहुँचाकर, निर्दोषों को लूटा और मारा जा रहा है। वैदिक संस्कृति चिल्ला-चिल्लाकर वास्तविक शान्ति की स्थापना के लिए कह रही है—"**शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः**"—हे दुनिया के लोगो ? तुम सब अजर-अमर भगवान् की सन्तान हो, भाई-भाई हो, भाई भाई की भाँति एक-दूसरे के साथ व्यवहार करो।

ऋग्वेद (10.192.2) में कहा है—

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

सम्पूर्ण मानव-समाज "द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः" द्युलोक, अन्तरिक्षलोक आदि में ही नहीं, अपने मनों में शान्ति के लिए कदम-से-कदम मिलाकर चले, सब मिलकर विचार-विमर्श करें, सब एक मनवाले हो जाएँ। पुराने लोग कहते है कि मनुष्य से देवता बनने का एकमात्र यही मार्ग है।

अथर्ववेद (12.1.60) में कहा गया है—

"**भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवत् मातृमद्भ्यः**"

पृथिवी के गर्भ में जितनी सम्पत्ति छिपी पड़ी है वह उस प्रत्येक प्राणी के लिए है जिसने माता के पेट से जन्म लिया है—मातृमद्भ्यः। वह समस्त भोग्य पदार्थों से भरा हुआ एक अक्षय पात्र है। वह उनके लिए प्रकट हुई है जो मातृमान् हैं और जिनके हृदय में माता और पुत्र के स्नेह का बीज अंकुरित हुआ है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की शरीर-रचना मातृकुक्षि में होती है और प्रत्येक को अपने जन्म के लिए जननी की आवश्यकता है, वैसे ही संसार के विधान में किसी-न-किसी देश या भूमि से मानव का सम्बन्ध होता ही है। वेदों का यह नवीन तथा अद्भुत विचार है कि माता की हर सन्तान का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि भूमिमाता ने जो कुछ उत्पन्न किया है, वह उसे भरपूर मिले। अथर्ववेद (3.30 6) मे कहा गया है—

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

तुम सबका खाना-पीना साथ-साथ हो, तुम सब इस प्रकार रहो मानो भगवान् ने तुम्हें एक-साथ जोड़ दिया है। जैसे रथ के पहिये में अरे एक नाभिस्थल में जुड़े होते हैं, इसी प्रकार तुम्हारे समाज की रचना हो।

यजुर्वेद के 40.6 मन्त्र में कहा गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥

जो सब प्राणियों को एक-समान और अपने को सब प्राणियों के समान देखता है, उसका मन शान्त होता है। उसे कोई संशय जीवन में डाँवाडोल नहीं कर सकता। शान्ति की स्थापना मन के द्वारा होती है और मन में तब विश्व एकता की भावना आती है।

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(दृते) हे अविद्यारूपी अन्धकार के निवारक जगदीश्वर वा विद्वन्! जिससे (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझको (सम् ईक्षन्ताम्) सम्यक् देखें, (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों को (समीक्षे) सम्यक् देखूँ (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से हम लोग परस्पर (समीक्षामहे) देखें। इस विषय में हमें (दृंह) दृढ़ कीजिए।

वेद ने इस मन्त्र में मैत्री-भावना और विश्वबन्धुत्व का सन्देश दिया है। वेद की कामना है कि विश्व के सब मनुष्यों में सद्भावना, मैत्री-भावना, विश्व बन्धुत्व और विश्व-भ्रातृत्व की भावनाएँ फैलें। मनुष्यमात्र में स्नेह-सम्बन्ध कैसे सुदृढ़ हों, हमें इस समस्या पर विचार करना है। आज विश्व में मनुष्य वैज्ञानिक उन्नति के कारण एक-दूसरे के बहुत निकट आ चुके हैं। आज विज्ञान के कारण देशों की दूरी निकटता में बदल चुकी है। आज समस्त संसार ही मानो एक देश के तुल्य बन चुका है। विज्ञान के वरदानस्वरूप जहाँ मनुष्य एक-दूसरे के बहुत निकट आ गए हैं, वहाँ विज्ञान के अभिशापस्वरूप संहारक अस्त्र-शस्त्रों के कारण विश्व की शान्ति को भी बहुत धक्का लगा है। मानव-समाज का इतिहास साक्षी है कि मनुष्य आदिसृष्टि से ही संसार में उपस्थित रहे हैं, परन्तु विज्ञान ने इस लड़ाई के विषय में जलती पर तेल डालने का काम किया है।

विश्व-शान्ति को भंग करनेवाले दो प्रमुख कारण हैं—साम्राज्यवाद और सम्प्रदायवाद। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भी कारण हैं, जैसे वर्ण (रंग), भूमि, सम्पत्ति, धन, अधिकार आदि।

वेद विश्व में शान्ति का उपासक है। वेद तो चाहता है कि अन्तरिक्ष शान्त हो, पृथिवी शान्त हो, जल शान्त हो, औषधियाँ शान्त हों, वनस्पतियाँ शान्त हों, सब देव शान्त हों, ज्ञान शान्त हो, सब वस्तुएँ शान्त हों, सर्वत्र शान्ति-ही-शान्ति हो और यह शान्ति सबको प्राप्त हो।

विश्वशान्ति को भंग करने का प्रमुख कारण है—साम्राज्यवादी भावना। जब

साम्राज्यवादी भावनाएँ किसी जाति में प्रबल हो उठती हैं तो वह जाति दूसरी जाति पर आक्रमण कर देती है। इससे दो जातियों में संग्राम होता है। लोहे से लोहा टकराता है, रक्त की नदियाँ बहती हैं। सिकन्दर और नेपोलियन इसी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के मूर्त्त रूप थे। लोहे के बल पर आज तक कोई संसार को नहीं जीत सका और न जीत सकेगा। यह केवल मस्तिष्क का विकार है जो कभी किसी व्यक्ति को और कभी किसी व्यक्ति को ग्रस लेता है। प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध इसी के उदाहरण थे। इन दोनों युद्धों से संसार को अपार हानि पहुँची है। अब संसार तीसरे विश्वयुद्ध की प्रतीक्षा में है। इसका अत्यधिक भयंकर परिणाम होगा।

विश्वशान्ति को भंग करने का दूसरा कारण अर्थ-लोलुपता है। अर्थाभाव के कारण एक भूखी-नंगी जाति दूसरी जाति के धनधान्य से लाभ उठाने के लिए उसपर आक्रमण कर देती है। भारत पर अधिकतर आक्रमण इसी दृष्टि से किए गए। अर्थ-लोलुपता के कारण भी एक जाति दूसरी जाति का संहार करती है जिससे विश्वशान्ति को हानि पहुँचती है।

विश्वशान्ति को भंग करने का तीसरा कारण साम्प्रदायिक भावनाएँ हैं। इस साम्प्रदायिकता के कारण भी विश्वशान्ति को बहुत हानि पहुँची है। इस्लाम और ईसाइयत के प्रचार के लिए संसार में जो रक्तपात हुआ है, उसने भी विश्वशान्ति को भंग करने में बहुत सहयोग दिया है। ईसाइयों और मुसलमानों के पारस्परिक युद्ध, मुसलमानों के भारत पर आक्रमण और अत्याचार में साम्प्रदायिकता का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

आर्थिक समस्याओं को लेकर साम्यवाद ने भी संसार में बहुत रक्तपात किया है और कर रहा है। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, शोषण का निराकरण, बेरोजगारी और महँगाई का निवारण आदि समस्याओं को लेकर संसार के विभिन्न देशों में बहुत रक्तपात हुआ है।

ये तो प्रमुख चार कारण हैं जिन्होंने संसार की शान्ति को बहुत भंग किया है। कुछ और भी गौण कारण हैं जो मनुष्यों के पारस्परिक कलह के आधार हैं जैसे वर्ण-भेद, प्रान्तीयता और सम्प्रदायगत भेद। काले और गोरे के भेद-भाव को लेकर मनुष्य ने मनुष्य पर बहुत अत्याचार किए हैं। एक ही देश के निवासी प्रान्तीयता के आधार पर लड़ते देखे जाते हैं। प्रान्तीयता के झगड़ों की जड़ में भी आर्थिक लाभ की भावना ही अधिक काम करती है। सम्प्रदायगत भेदों के कारण भी एक ही सम्प्रदाय में आस्था रखनेवाले व्यक्ति भी आपस में लड़ते देखे जाते हैं ईसाइयों में रोमन-कैथोलिक और प्रोटैस्टैण्ट्स के झगडे, मुसलमानों में शिया

और सुन्नियों के झगड़े इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

मल-मुत्र को साफ करने और चमड़े के व्यवसाय को लेकर संसार मे मनुष्य ने मनुष्य से घृणा की है। जो दूसरों की सेवा करते रहे, उन्हीं से लोग घृण करते रहे हैं और कर रहे हैं।

मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएँ समान हैं और उसकी मानसिक अनुभूतियाँ भी समान हैं, परन्तु मनुष्य भूमि, सम्पत्ति, धन और पदवी के कारण एक-दूसरे से घृणा करते हुए देखे जाते हैं। अधिक भूमि, अधिक सम्पत्ति, अधिक धन और ऊँची पदवी वाले व्यक्ति प्रायः कम भूमि, कम सम्पत्ति, कम धन और छोटी पदवीवालों को घृणा नहीं तो उपेक्षा की दृष्टि से अवश्य देखते हैं। मनुष्य मनुष्य के भीतर कितना भेद हैं! काले और गोरे रंग को लेकर भी गोरो ने कालों के ऊपर बहुत अत्याचार किए हैं। यह भी मनुष्य-जाति पर बहुत बड़ा कलंक है।

संसार से इस समस्त रक्तपात, कलह और घृणा को दूर करने का उपाय क्या है?—वेद इसका समाधान करता है। वेद मनुष्यमात्र को ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने का आदेश देता है। ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने के पश्चात् वेद ने इसके सर्वव्यापकत्व पर बल दिया है। सर्वव्यापकत्व के पश्चात् ईश्वर के पितृत्व पर बल दिया गया है। इसके पश्चात् वेद ने भूमि का मातृत्व स्वीकार किया है। ईश्वर के पितृत्व और भूमि के मातृत्व को स्वीकार करके वेद ने मनुष्यों को एक ही परिवार के सदस्य मानकर उनको घृणा और वैमनस्य से पृथक् रहकर मानसिक एकता का उपदेश किया है। वेद द्वारा विश्वशान्ति का यही एक उपाय बतलाया गया है।

भूमि का मातृत्व बताते हुए वेद ने घोषणा की है—

'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥' अथर्व० 22.2.22

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो, वावृधुः सौभगाय।

—ऋग्वेद 5.60 5

ईश्वर कहता है कि हे संसार के लोगों! न तो तुममें कोई बड़ा है और न छोटा। तुम सब भाई-भाई हो। सौभाग्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ो। ईश्वर इस मन्त्र में मनुष्यमात्र की समानता का उपदेश दे रहे हैं। इसके साथ साम्यभाव का भी स्थापन कर रहे हैं। मनुष्यमात्र को प्रेरित करते हुए ईश्वर कहते हैं कि तुम सब उन्नति के लिए अग्रसर होओ। उन्नति के मार्ग तुम सबके लिए खुले हुए हैं। उन्नति का सबको समान अधिकार है।

अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के तीसवें सूक्त में तो विश्व में शान्ति स्थापना

के लिए जो उपदेश दिए गए हैं वे अद्भुत हैं। ऐसे उपदेश विश्व के अन्य धार्मिक साहित्य में ढूँढने से भी नहीं मिलेंगे। वेद उपदेश देता है कि—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

—अथर्व० 3.30 1

मैं तुम्हारे लिए एकहृदयता, एकमनता और निर्वैरता करता हूँ अर्थात् तुम सब निर्मल हृदय और निश्छल मन से छलकते रहो, एक-दूसरे को तुम सब ओर से प्रीति से चाहो, जैसे न मारने योग्य गौ उत्पन्न हुए बछड़े को प्यार करती है।

वेद हार्दिक एकता का उपदेश देता है। इसके अतिरिक्त मन की एकता का भी उपदेश देता है। शत्रुता के छोड़ने का भी आदेश देता है। जब मन की स्वच्छता हो गई तो फिर यह आदेश दिया कि तुम एक-दूसरे को ऐसे देखो जैसे गौ अपने बछड़े को प्रेमपूर्वक देखती है। मन में निर्वैरता लाने के पश्चात् ही दूसरे को प्रेमपूर्वक देखा जा सकता है।

वेद आगे कहता है—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट सराध्यन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

—अथर्व० 3.30 5

बड़ों का मान रखनेवाले, उत्तम चित्तवाले, समृद्धि करते हुए और एक धुरा होकर चलते हुए तुम लोग अलग-अलग न होओ, और एक-दूसरे से मनोहर बोलते हुए आओ। तुमको मैं साथ-साथ गतिवाले और एक-मनवाले करता हूँ।

जहाँ अन्न और जल का समान भाव से उपभोग करने की बात कही गई है, वहाँ मिलकर ईश्वरोपासना की बात भी कही गई है। वेद कहता है कि जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे समान भाव से जुड़े हुए रहते हैं, इसी प्रकार तुम भी मानव-समाज के रथ में समान भाव से जुड़े रहो।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

—अथर्व० 3.30 7

यथावत् सेवन वा व्यापार से तुम सबको मैं साथ-साथ गतिवाले, एक-मनवाले और एक-भोजनवाले करता हूँ। विजय चाहनेवाले पुरुषों के समान अमरपन को रखते हुए तुम बने रहो। सायंकाल और प्रातःकाल में चित्त की प्रसन्नता तुम्हारे लिए होवे।

इस मन्त्र में भी शारीरिक और मानसिक एकता का वर्णन किया गया है।

इस एकता के फल हैं विजय, अमरता और मन की प्रसन्नता। ये उपलब्धियाँ तभी होंगी जब एकता होगी।

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में मानवमात्र की एकता का प्रतिपादन वेद ने किया है। सारे मनुष्य-समाज को एकता का पाठ पढ़ाया है। वेदमन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हमें सुखों से भरपूर कर—

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥

—ऋ 10.191 1

हे समस्त सुखों के बरसानेवाले प्रकाशस्वरूप प्रभो! स्वामी! तू समस्त प्राणियों और तत्त्वों को मिलाता है। वाणी के परमपद ओ३म् के रूप में प्रकाशमान होता है। वह तू हमें धन प्रदान कर।

सुख, ऐश्वर्य और धन की प्राप्ति का क्या मार्ग है?

जब तक मन में घृणा, ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि जल रही हो तो जिस तरह व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती, समाज को शान्ति नहीं मिलती, वैसे ही विश्व को भी शान्ति नहीं मिलेगी।

इसलिए वेद कहता है "शान्ति की खोज अपने मन में कीजिए, परिवार में कीजिए, देश में और विश्व में कीजिए।"

सांमनस्य सूक्त में कहा है—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

अर्थात् भाई-भाई, भाई-बहन, बहन-भाई, मनुष्य-मनुष्य का जीवन ऐसा हो कि वे एक-दूसरे से प्रेम में ऐसे बँधें जैसे गाय अपने बछड़े से प्यार करती है—'**अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या**'।

इस मंत्र में भी परस्पर मिलकर चलने, बातचीत करने और मिलकर ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है। वेद ने आगे कहा—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

—ऋ० 10.191 3

तुम सबका विचार समान हो, समिति समान हो, मन समान हो और चित्त समान उद्देश्यवाला हो। हे मनुष्यो! मैं परमेश्वर तुम्हें समान विचारवाला बनाता हूँ। तुम्हें समान खान-पान से युक्त करता हूँ अथवा समान हवि और यज्ञ-भावनाओं से यज्ञ करने की प्रेरणा देता हूँ।

इस मन्त्र में भी वैचारिक और मानसिक एकता की बात कहकर वेद सन्देश

देता है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

—ऋ० 10.191 4

हे मनुष्यो! तुम्हारे संकल्प समान हों, तुम्हारे हृदय परस्पर मिले हुए हो तुम्हारे मन समान हों जिससे तुम लोग परस्पर मिलकर रहो।

एकता तभी हो सकती है जब मनुष्यों के मन एक हों। वेदमन्त्रों में इसी मानसिक एकता पर बल दिया गया है। संगठन का यह पाठ केवल भारतीयो के लिए ही नहीं, अपितु धरती के सभी मनुष्यों के लिए है। संसार के सभी मनुष्य यदि वेद के इस आदेश पर आचरण करें तो संसार का कल्याण हो सकता है। कितना सुन्दर उपदेश है यह! यदि संसार के लोग इस उपदेश को अपना ले तो उपर्युक्त सभी कारण जिन्होंने मनुष्य को मनुष्य से पृथक् कर रखा है, वे सब दूर हो सकते हैं, संसार स्वर्ग के सदृश बन सकता है। काश! संसार के मनुष्य इस उपदेश पर आचरण कर पाएँ।

वेद के उपर्युक्त मन्त्रों के उपदेश से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि वेद का सन्देश संकीर्णता, संकुचितता, पक्षपात, घृणा, जातीयता, प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता से कितना ऊँचा है! इसी से विश्व-शान्ति सम्भव है। संसार का कोई अन्य तथाकथित धर्म-ग्रन्थ इसकी तुलना नहीं कर सकता। यही तो वेद का मानववाद है।

अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में मानवसमाज का वर्णन करते हुए कहा गया है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

—अथर्व० 12.1 45

जैसे एक गृहस्थ में भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुष, भिन्न-भिन्न विचारों को रखते हुए और भिन्न-भिन्न भाषाओं को बोलते हुए एकजुट होकर रहते हैं—**'यथौकसम्'**, इसी प्रकार सम्पूर्ण मानवसमाज को भिन्न-भिन्न विचारों तथा भिन्न-भिन्न भाषाभाषी होते हुए भी एकता के सूत्र में बँधे रहना चाहिए। ऐसा होगा तो जैसे गौ अचल खड़ी रहकर दूध की सहस्रों धाराएँ दे डालती है, वैसे ही पृथिवीमाता धन-धान्य को सहस्रों रूपों में देकर मानव का कल्याण करेगी।

विश्व को शान्ति के एक सूत्र में बाँधने के उपाय भी वेद में बताए गए हैं। **अथर्ववेद** (12 1 1) **में बताया गया है**

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए छह साधन आवश्यक है। सत्य विचार, सत्य कार्य यह नहीं कि मन में कुछ और वाणी में कुछ; जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ के विशाल भवन में विश्व-शान्ति और भ्रातृभाव के लच्छेदार भाषण होते हैं और अन्दर एक देश दूसरे देश को खाने को तैयार बैठा है। विश्व-शान्ति के लिए मन से ईश्वरीय अखण्ड नियमों का पालन करना होगा। ईश्वर के नियम अटूट हैं, अभेद्य हैं, उन्हें तोड़ना सरल नहीं; पर जो तोड़ेगा, वह व्यक्ति या वह राष्ट्र अशान्ति का कारण होगा। समाजसेवा का व्रत लेना होगा। हम दूसरों को तो समाजसेवा या मानव-प्रेम की दीक्षा देते हैं, किन्तु समाज के लिए जब आत्मत्याग का प्रश्न आता है तब हम अपने स्वार्थपूजन में लग जाते हैं। यह दीक्षा नहीं। भोग-विलास और वासना में न पड़कर तपस्यामय जीवन बिताना ही तप है दैवी शक्ति में विश्वास और दूसरों की भलाई में अपने स्वार्थ का उत्सर्ग। ये छह गुण धारण करके ही विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है। यूनेस्को के विधान-निर्माताओं ने युद्ध का सूत्रपात मानव मन को बताया है, क्योंकि अशान्ति, लड़ाई, झगड़ा और युद्ध—ये युद्धभूमि में नहीं लड़े जाते, मनुष्य की मनोभूमि में लड़े जाते हैं।

वास्तव में आज का मानव आकाश में पक्षी की तरह उड़ता है, पानी में मछली की तरह तैरता है। परन्तु आश्चर्य कि धरती पर मानव बनकर जीना भूलता जा रहा है। क्यों ?

आज विज्ञान के नानाविध आविष्कारों ने भूमण्डल को बहुत छोटा बना दिया है और मनुष्य को चाँद पर भी पहुँचा दिया है। परन्तु फिर भी वह सुखी नही है। क्यों ?

आज का मनुष्य अनगिनत भौतिक साधनों की उपलब्धि के कारण बहुत अधिक सम्पन्न बन चुका है, फिर भी वह सुख-शान्ति की खोज में आकुल-व्याकुल होकर मरुभूमि में मृग-मरीचिका की भाँति छलावे में भटक रहा है।

क्यों ?

क्योंकि वह वेदों के सार्वभौमिक एवं सनातन संदेश से विमुख हो गया है।

विषय प्रवेश

उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी में मानव के समष्टिगत कल्याण को लेकर पश्चिम में 'मानववाद' के नाम से एक चिंतनधारा व जीवन-दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। सैकड़ों दार्शनिकों ~~~~~~~~~~ और राजनीतिज्ञों ने मान गौरव की

स्थापना कर, उसे सब प्रकार के अन्धविश्वासों और पूर्वाग्रहों से मुक्त कर कल्याण के पथ पर प्रवृत्त होने का सन्देश दिया। इसके लिए उन्होंने ज्ञान और नैतिकता पर बल दिया। किसी को ईश्वर और आध्यात्म की आवश्यकता प्रतीत हुई तो अधिकांश ने इनके बिना ही मानव-कल्याण, विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति की कल्पना की। किन्तु दोनों विचारधाराओं के चिन्तक मानव-जीवन को एक अविच्छिन्न इकाई के रूप में प्रस्तुत कर उसके सर्वांगीण विकास और मानव-मानव में समता की भावना उत्पन्न करने के लिए कोई सुनिश्चित एव सुनियोजित दर्शन, समाज-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था और आचारशास्त्र (Ethics) नहीं दे सके।

हमारा विश्वास है कि वैदिक साहित्य में मानव के व्यष्टि और समष्टिगत सर्वविध विकास का सही मार्ग प्रतिपादित है। वह मार्ग सार्वदेशिक एव सार्वकालिक है और मानव-मात्र के लिए समान रूप से सेवनीय है।

उसमें लिंग-भेद, जाति-भेद, वर्ग-संघर्ष और हिंसा का कोई स्थान नही। वैदिक धर्म कोरा आदर्शवाद नहीं है, प्रत्युत मानव-हित एवं विश्व-शान्ति के लिए एक सुनिश्चित दर्शन, आचारशास्त्र, समाज-व्यवस्था तथा शासन-व्यवस्था प्रस्तुत करता है। उसमें मानवोपयोगी विज्ञान, कला-कौशन और उद्योग आदि का भी सन्निवेश है।

इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम 'वैदिक दर्शन एवं मानववाद' नामक अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि वैदिक दर्शन सर्वान्तर्यामी परमात्मा को सब प्राणियो का पिता-माता मानता है एवं इस प्रकार भ्रातृभाव एवं विश्व-बन्धुत्व को सबल आधार प्रदान करता है। प्राणिमात्र में एक ही आत्मतत्त्व के दर्शन करके समदृष्टि उत्पन्न करता है। ब्रह्म की तरह जीव और प्रकृति की भी वास्तविक सत्ता मानकर मानव को सांसारिक अभ्युदय से विमुख नहीं करता। कर्म-सिद्धान्त में आस्था उत्पन्न कर मनुष्य को नैतिक कार्यों में प्रवृत्त करता है तथा हिंसा आदि से दूर रखता है। वैदिक दर्शन तर्क को भी ऋषि मानता है और रूढ़ियों, आडम्बरों और अन्धविश्वासों में न फँसकर मानव-शक्ति द्वारा अज्ञान का निवारण कर सत्य-मार्ग पर अग्रसर करता है। वैदिक संहिताओं में परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति की चर्चा सिर्फ सुक्तियों के आधार पर की गई है, यद्यपि ब्रह्म-साक्षात्कार का मार्ग एकमात्र अप्रत्यक्ष (Intutional) ही बताया गया है।

तदनन्तर 'वैदिक धर्म और मानववाद' नामक अध्याय में बताया गया कि किस प्रकार यज्ञ की भावना त्याग एवं परोपकार है एवं षोडश संस्कार व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक एवं आत्मा सम्बन्धी परिष्कार करते हैं। यम-नियम वैदिक

धर्म का सम्बल हैं। इनमें जहाँ 'यम' समष्टि की स्थिति के लिए अनिवार्य हैं, वहाँ 'नियम' व्यक्ति के जीवन को पवित्र कर बहुत उन्नत कर देते हैं।

'वैदिक आचारशास्त्र एवं मानववाद' नाम अध्याय में वेद के सब नैतिक तत्त्व एवं ऋत प्रार्थनाओं को प्रस्तुत किया गया है। मानव-मात्र आचार एवं नीति सम्बन्धी उन निर्देशों और प्रार्थनाओं का पालन कर सुखी हो सकता है।

'वैदिक समाज-व्यवस्था और मानववाद' नामक अगले अध्याय में हमने बतलाया है कि यद्यपि व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद, साम्यवाद, समाजवाद आदि सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव भी मानववादी चिन्तनधाराओं से ही हुआ है, तथापि ये सभी समानता, स्वतन्त्रता और मानव-हित के उद्देश्य को लेकर ही चलते हैं। किन्तु निश्चित दर्शन के अभाव एवं एकांगी होने के कारण ये सगठन मानववाद के उद्देश्य को पूरा करने में सर्वथा असफल रहे हैं। यही कारण है कि मानव-समानता, मानव-स्वतन्त्रता, विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-शान्ति की रट लगाकर भी ये नेता हिंसा के ताण्डव को रोकने में असफल रहे हैं। वस्तुतः वैदिक अध्यात्मवाद के सबल आधार के बिना वास्तविक मानववाद मृग-मरीचिका ही है। वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था सब प्रकार के वर्ग-भेदों को समाप्त कर लोक सग्रह और व्यष्टि की सर्वविध उन्नति के मार्ग खोलती है।

'वेद की मानववादी शासन-व्यवस्था' भी प्रजातन्त्र की पद्धति पर आध्यात्मिक एवं नैतिक आधार को लिये हुए है तथा सब प्रकार के अन्याय, अत्याचार, शोषण एवं विषमताओं को समाप्त करती है।

अन्त में 'वेद में मानवोपयोगी ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल एवं वाणिज्य' नामक अध्याय में हम देखते हैं कि वेद कोरा दर्शन और थोथा धर्म ही नहीं, अपितु उसमें मानव के कल्याण के लिए अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कला कौशल, उद्योग-व्यापार का भी वर्णन हुआ है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य मानव की ऐहिक और पारलौकिक उभयविध उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। उसमें किसी वर्ग, जाति व सम्प्रदाय को लक्ष्य करने का विचार नहीं किया गया, अपितु समस्त मानव-जाति को लक्ष्य मानकर व्यष्टि के अभ्युदय और निःश्रेयस् का मार्ग बतलाया गया है। इसमें मानव-गौरव की सजग स्थापना होते हुए भी न तो काण्ट की भाँति ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की पूजा का विधान किया गया और न ही जॉन स्टुअर्ट मिल की तरह मानववाद को उपयोगितावाद से पोषित करने की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। इसमे भी अज्ञान को अभिशाप मानकर अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की बार-बार प्रार्थना की गई है। आडम्बरों और तर्कहीन विश्वासों का विरोध किया गया है।

नैतिक आचार-विचार की प्रमुखता मानी गई है और इस प्रकार इस युग के दार्शनिकों द्वारा कल्पित 'मानववाद' का स्फीत, स्वस्थ एवं मनोरम रूप वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है।

वेद और मानव

वेद अर्थात् ज्ञान। वेद सृष्टि के ज्ञान-विज्ञान के आगार हैं। वेद संसार की प्राचीनतम ज्ञानराशि है। वेद से पुरातन साहित्य आज तक विद्वानों को उपलब्ध नहीं हुआ है। सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर के शब्दों में—'Rigveda is the oldest book in the library of mankind.' अर्थात् "मानव-पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक वेद है।"

वस्तुत: 'वेद' संतप्त और दु:खी मानव-जाति के कल्याण का मार्ग बताने वाला दिव्य ग्रन्थ है। मानव-मात्र को वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का ज्ञान कराकर उसे सुख, शान्ति और आनन्द का सच्चा मार्ग बताना—यही वेदों का पवित्र उद्देश्य है। वस्तुत: वेद मानव सभ्यता का मूलस्रोत है, और भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का प्राण है।

वेदों में मानव-जाति के उन्नयन के लिए जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, उन्हें धर्म का नाम दिया गया है। जो ज्ञान या कर्म पतन से बचाए, उसका उपदेश दे—वही 'धर्मग्रन्थ' है। वेद के आदेश और उपदेश हमें नीचे गिरने से ही नही बचाते, अपितु निरन्तर ऊपर उठने की प्रेरणा भी देते हैं।

यही कारण है कि 'वेद' मानव-मात्र को 'अमृतपुत्र' कहकर पुकारता है। वेद कहता है '**शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा:**'—हे अमृत के पुत्रो! सब-के-सब सुनो!

यह है वेद का मानव-जाति के लिए सम्बोधन। सभाओं में भाषण देने से पूर्व जैसे प्रत्येक वक्ता आमतौर पर कहता है—"भाइयो और बहनो" या "लेडीज एण्ड जेण्टिलमैन!" यह वैसा सम्बोधन नहीं है। न ही इस सम्बोधन में "समस्त हिन्दुओ सुनो!" या "भारतवासियो सुनो!" वाली बात है। यह सम्बोधन न अपनी जाति-बिरादरी वालों के लिए है, न हम-मज़हब लोगों के लिए है, न ही हमवतन लोगों के लिए।

आज सारा संसार विभिन्न धर्मों, विभिन्न देशों, विभिन्न गुटों, विभिन्न जातियों और विभिन्न विचारधाराओं में बँटा हुआ है। परन्तु आश्चर्य है कि वेद की दृष्टि में न कोई ऐतिहासिक सीमा है, न ही भौगोलिक, न राजनैतिक सीमा है और न ही साम्प्रदायिक सीमा। ये सब सीमाएँ तो मानवकृत हैं। वेद इन सब

सीमाओं से ऊपर है। उसके लिए समग्र मनुष्य-जाति एक इकाई है।

साथ में विशेषण है ''**अमृतस्य पुत्राः**'' अर्थात् सारी मानवजाति अमृतपुत्र है, यह अमरता की सन्तान है--जो अक्षय आनन्द के स्रोत, सच्चिदानन्दस्वरूप, अमृतधाम मोक्ष पद के अधीश्वर परमपिता परमात्मा की सन्तान है। कोई एक ही अकेला खुदा का बेटा नहीं है--परन्तु वेद की दृष्टि में सभी खुदा के बेटे हैं, उसी परमपिता के पुत्र हैं।

अरे, अमरपिता की सन्तान यह मरणधर्मा मनुष्य! कैसा विचित्र विरोधाभास है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी विश्व-प्रसिद्ध 'गीताञ्जली' नामक रचना इसी भाव से आरम्भ की : Thou hast made me immortal--तूने मुझे अमर बनाया है, परन्तु मैं अमर कहाँ रहा ? मैं तो मृत्यु की शरण में चला गया--- आवागमन के चक्कर में फँस गया!

कोई बात नहीं। मैं एक बार एक श्रेणी में फेल हो गया तो कोई चिन्ता नहीं। मेरे पिता ने मुझे स्कूल में फेल होने के लिए नहीं भेजा था। मैं अगली बार उत्तीर्ण होकर दिखाऊँगा।

परमपिता परमात्मा ने भी मानव को संसार में अनुत्तीर्ण होने के लिए या आवागमन के चक्कर में फँसने के लिए नहीं भेजा है। वह तो चाहता है कि मेरे सभी पुत्र इन पापयोनि, कर्मयोनि और भोगयोनि रूप नाना योनियों में जन्म जन्मान्तरों के चक्र से छूटकर वापस मेरी गोद में आ जाएँ, मोक्ष प्राप्त करें, अमृत लाभ करें। पिता और पुत्रों का मेल हो जाए।

परन्तु मानव अपनी साधना की कमी के कारण बारम्बार अनुत्तीर्ण हो जाता है, वहाँ तक पहुँच नहीं पाता। हाँ, लगातार प्रयत्न करते रहने पर प्रत्येक बालक जैसे एक दिन खड़ा होना सीख जाता है, वैसे ही एक दिन मानव को भी आवागमन—जन्म-जन्मान्तर के चक्र से छूटना है, शर्त यह है कि वह लगातार प्रयत्न करता रहे। इसी में मानव-जीवन का साफल्य है। मोक्ष ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

समस्त भारतीय साहित्य में मानव-जीवन का 'लक्ष्य' मोक्ष जो कहा गया है सो अकारण नहीं है। वेद, उपवेद, वेदांग और उपांग सब में---अरे! लौकिक और ललित साहित्य में भी—मानव-जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष को ही बताने की प्रवृत्ति वेद की उसी भावना की द्योतक है। और कोई लक्ष्य मानव-जीवन का हो ही नहीं सकता। मंजिल निर्दिष्ट हो गई, वह है मोक्ष। किन्तु मंजिल तक पहुँचने का मार्ग बड़ा बीहड़ है। मानव-जीवन भी क्या कम जटिल है ? जन्म से मृत्यु तक रोना ही रोना लगा है

कुछ शरीर की आवश्यकताएँ हैं और कुछ मन व बुद्धि की आवश्यकताएँ है, जिनकी पूर्ति के लिए मनुष्य सदा प्रयत्न करता रहता है। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 'अर्थ' चाहिए। रोटी, कपड़ा और मकान तथा जीवन के समस्त सांसारिक पदार्थ इस 'अर्थ' में समा जाते हैं।

मन की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए 'काम' चाहिए—स्त्री-पुरुष पौत्रादि गृहस्थी के समस्त बन्धन इसी 'काम' के विस्तार हैं। बुद्धि के लिए ज्ञान चाहिए—"**बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति**"—बिना ज्ञान-विज्ञान के बुद्धि की तृप्ति नही होती। आत्मा के लिए 'मोक्ष' चाहिए।

इसलिए वेद की दृष्टि में मानव-जीवन के चार 'पुरुषार्थ' हैं। पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष का प्रयोजन—ऐसा प्रयोजन जिसके बिना मानव-जीवन चल नही सकता। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यही चार पुरुषार्थ हैं। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा—सब इन चार पुरुषार्थों में आ जाती हैं। ज्ञान, मान, रति आदि मानव-जीवन की समस्त मूल प्रवृत्तियाँ, जिन्हें आज का पाश्चात्य मनोविज्ञान भी अस्वीकार नहीं कर सकता—वे पुरुषार्थ-चतुष्टय में परिगणित अर्थ और काम मे आ जाती हैं। फ्रायड का मनोविज्ञान जिस 'सेक्स' पर इतना ज़ोर देता है, क्या वह 'काम' से भिन्न है? और जिसे मनोवैज्ञानिक विद्वान् 'जीवनेच्छा' कहते हैं, वह भी 'अर्थ' से भिन्न नहीं है।

परन्तु पाश्चात्य मनोविज्ञान (Western Psychology) के पीछे चलकर यदि 'अर्थ' और 'काम' को ही सारे जीवन की बागडोर सौंप दी जाए और पुरुषार्थ-चतुष्टय में से 'धर्म' और 'मोक्ष' को निकाल दिया जाए, तो मानव-जीवन की गाड़ी किस अज्ञात और अथाह गर्त में गिरेगी, इसकी कल्पना असम्भव-सी है। यदि इस स्थिति का कुछ थोड़ा-सा आभास पाना हो तो अपने चारों ओर की दुनिया पर क्षणभर के लिए दृष्टिपात कर लीजिए।

यह भ्रष्टाचार, यह चोरबाजारी, यह रिश्वतखोरी, यह युद्धों की तैयारी, शस्त्रास्त्रों का और मानव-जाति के विध्वंसक अणुबमों का संग्रह, यह जीवन की अशान्ति, ये नाना आधियाँ और नित नई व्याधियाँ—ये सब 'अर्थ' और 'काम' का विस्तार और विलास मात्र हैं।

यदि 'धर्म' और 'मोक्ष' का अंकुश न रहे तो निरे अर्थ और काम तो 'शिश्नोदरवाद' (भोगवाद) के पर्यायवाची ही हैं। शिश्नोदरवाद आसुरी, अनार्य और अवैदिक संस्कृति है। धर्म से रहित 'अर्थ' और धर्म से रहित 'काम' कभी मंज़िल (मोक्ष) तक नहीं पहुँचा सकते, बीच धार में ही डुबोएँगे। आज के मानव की और आज के संसार की यही स्थिति है। वस्तुतः आज का मानव 'विज्ञान' की

जिस गाड़ी में सफर कर रहा है उसमें सब-कुछ है—सिर्फ 'ब्रेक' नहीं है।

इस स्थिति में चारों ओर का अनवरत हाहाकार बीच धार में डूबनेवाली मानव-जाति का आर्त्तनाद ही है, और कुछ नहीं। आज डूबता मानव पुकार रहा है—'बचाओ-बचाओ'! आज संसार का प्रत्येक कोना शोक, ताप, दुःख, क्लेश और अशान्ति से ग्रस्त है। शान्ति के लिए प्रयत्न करनेवाले दुनिया के सब बड़े बड़े नेताओं और विचारकों का उद्योग वृक्ष के पत्तों पर पानी छिड़कने के समान प्रतीत हो रहा है, जबकि मूल (जड़) सूख रहा है।

यदि सच कहा जाए तो संसार की इस समस्या का समाधान एकमात्र 'वेद' के पास है। 'वेद' के सिवाय अन्य किसी में यह शक्ति नहीं है जो इस डूबते मानव-समाज के जहाज को बचा सके, क्योंकि विश्व के सब मत-मतान्तर धर्मग्रन्थ, विविध संगठन और विभिन्न विचारधाराएँ व्यक्तिगत ईमान पर जोर देते हैं—धर्म अर्थात् कर्त्तव्य (Dity) पर नहीं, और 'मोक्ष' की कल्पना तो उनके सामने है ही नहीं।

वे जैसे निरुद्देश्य चल रहे हैं। कहाँ जाना है—यह पता नहीं; बस चल रहे हैं—इतना मालूम है।

आत्मजनो! वैदिक धर्म की दृष्टि से 'अर्थ' और 'काम' हेय नहीं हैं—जीवन में उनका भी स्थान है। अरे! वे अत्यन्त आवश्यक हैं। उनके बिना शरीर और मन की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। परन्तु वे अर्थ और काम निरंकुश और निरुद्देश्य नहीं हैं। उन पर धर्म का अंकुश है और 'मोक्ष' उनका उद्देश्य है।

संक्षेप में अर्थ और काम की जोड़ी है, परन्तु यह जोड़ी धर्म के अंकुश में रहनी चाहिए अर्थात् धर्म (अर्थ+काम)=मोक्ष। अर्थात् धर्मपूर्वक अर्थ और धर्मपूर्वक काम ही मोक्ष की मंजिल तक पहुँचाने में सहायक हो सकते हैं, धर्म से रहित होकर नहीं।

वेद की दृष्टि से यह है मानव-जीवन का प्रयोजन, मानव-जीवन का लक्ष्य और पुरुष का प्रयोजन—पुरुषार्थ। यही है मानव-जीवन की परिभाषा। इससे अधिक परिपूर्ण, सर्वग्राह्य और श्रेयस्कर मानव-जीवन की ओर कोई परिभाषा हो नहीं सकती।

आप पूछेंगे 'वेद' में क्या है? हम कहते हैं कि वेद में इन्हीं चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का प्रतिपादन है। धर्म और मोक्ष के साथ अर्थ और काम भी वेद की दृष्टि में हेय या नगण्य नहीं हैं, उनका भी प्रचुर वर्णन है, परन्तु **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** (Enjoy without attachment) कहकर उन पर अंकुश लगा दिया है।

अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए संसार के पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि पदार्थों के गुण-दोष की जानकारी के बिना उनका उपयोग सम्भव नही। पदार्थों के गुण-दोषों का ज्ञान ही आयुर्वेद है—आयु को बढ़ाने वाला ज्ञान है। रसायन, भौतिकी, शरीरशास्त्र, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, अस्थि-विज्ञान, आकृति-विज्ञान आदि विज्ञान की समस्त शाखाएँ इसी 'आयुर्वेद' के अन्तर्गत आ जाती हैं—और आयुर्वेद वेद का उपवेद है।

वेद कहता है कि संसार के पदार्थों के ज्ञान के लिए सृष्टि-उत्पत्ति के नियमों को—जिसे cosmology कहते हैं—एवं सृष्टि के निर्माता परमात्मा को जानना भी परमावश्यक है। जगत् के उस महान् संचालक—ईश्वर के गुणों को जानकर कर्म तथा भोग के बन्धन में बँधा अल्पज्ञ जीव उससे साक्षात्कार करने और मिलने को आतुर हो उठता है। अष्टांग योग को साधने पर ही आत्मा और परमात्मा का मेल होता है—आवागमन का चक्र छूट जाता है—मोक्ष मिल जाता है।

इस प्रकार पुरुषार्थ-चतुष्टय की सम्यक् साधना के लिए वेद से बढ़कर अन्य कोई मार्गदर्शक नहीं हो सकता। यही 'वेद' का वेदत्व है। यही मानव-जाति को उसका उपदेश है—सन्देश है और उसकी उपयोगिता है। यही कारण है कि 'वेद' किसी भी देश और काल की सीमा में नहीं आता, वह सम्प्रदाय से अतीत है—इतिहास और भूगोल की सीमाएँ उसे नहीं बाँधतीं। वेद का उपदेश और सन्देश किसी जातिविशेष या देशविशेष के लिए नहीं है—मानवमात्र के लिए है।

जो सार्वत्रिक और सार्वकालिक सत्य है, शाश्वत और सनातन सत्य है, उसके लिए देश और काल की अपेक्षा नहीं। निश्चय ही मानव-जाति का यह वेद-रूपी संविधान मानव जाति के उदय के साथ ही प्रारम्भ होना चाहिए। वह राजा कैसा जो बिना किसी संविधान के प्रजा के पालन की बागडोर अपने हाथ मे संभाल ले ? वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी तानाशाह हो सकता है, न्यायकारी राजा नहीं। 'वेद' उसी न्यायकारी राजा (परम पिता) का सृष्टि के आदि में अपनी प्रजा के लिए दिया संविधान है।

अतः जैसे उस ईश्वर के बनाए सूर्य और चन्द्र, वायु और जल, पृथ्वी और आकाश, बादल और वर्षा तथा वृक्ष और वनस्पति सबके लिए हैं—उनमें हिन्दू-मुसलमान या यहूदी-ईसाई का भेदभाव नहीं है—वैसे ही 'वेद' सबके लिए है। सूर्य, चन्द्र, जल, पवन, गगन जैसे 'सेक्युलर' (Secular) हैं, वैसे ही वेद भी सेक्युलर हैं।

इसीलिए वेद ने देश जाति नदी पर्वत अर्वाचीन प्राचीन की सब

सीमाओं और बाधाओं को लाँघकर मानव-जाति को एक इकाई के रूप में सम्बोधन किया है—"**शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः**"—सुनो रे अमृत के पुत्रो, समस्त विश्व के नागरिको, सुनो! सब-के-सब सुनो!

यही वेद का 'मानववाद' है—यही वेद का मानव-धर्म है। यही तो सच्चा मानववाद है। यही शान्ति का शाश्वत मार्ग है। वेद के इसी दृष्टिकोण को और आदर्श को इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का लेखक ने विनम्र प्रयास किया है। आशा है यह ग्रन्थ हिन्दी जगत की थोड़ी-बहुत सेवा कर सकेगा।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक सभी क्षेत्र के लोगों के लिए समान रूप में ज्ञानवर्धक एवं उपयोगी सिद्ध होगी—चाहे वे छात्र हों या प्राध्यापक, विद्वान् हों या व्यापारी, लेखक हों या वक्ता, वेदधर्मी हों या अन्य धर्मावलम्बी, आस्तिक हों या नास्तिक, अन्वेषक हों या पत्रकार, नेता हों या प्रशासक।

ग्रन्थ-लेखक को अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, इसे वह पाठकों के निर्णय पर छोड़ता है। यदि इसे पढ़कर एकाध पाठक भी सच्चा वेदानुरागी बनेगा तो लेखक अपना पुरुषार्थ सार्थक मानेगा।

कृतज्ञता-ज्ञापन

सर्वप्रथम उस परमपिता परमात्मा को सादर प्रणाम। उन स्वर्गस्थ माता पिता को भी सादर वन्दन जिनकी शिक्षा और संस्कारों का ही यह सुफल है।

गुरुवर पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, आचार्य धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, आचार्य अभयदेव एवं पं० दामोदर सातवलेकर के प्रति मैं श्रद्धा से नत हूँ जिनके मार्गदर्शन का यह सुफल है।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती इन्दिरादेवी ने आजीवन समर्पित भाव से मेरे सांस्कृतिक मिशन में सदा साथ दिया है। उनके सहयोग के बगैर मैं सफल नहीं हो सकता था। उनका हार्दिक आभार। मेरी आज्ञाकारी एवं सेवाभावी संतान चि० रघुराजसिंह एवं पुत्रवधू चि० योगिताकुमारी, चि० श्रद्धाकुमारी एवं दामाद चि० अजयकुमार, चि० मेधा कुमारी एवं दामाद चि० प्रकाश कुमार तथा अनुज चि० नरेन्द्रसिंह एवं परिवार का आत्मभाव सदा स्मरणीय रहेगा।

मेरे वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार मिशन में इस उत्तरावस्था में जिन्होंने तन-मन-धन से साथ दिया है उन दानवीर डॉ० सुखदेवचन्द सोनी का मैं सचमुच अनुगृहीत हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग देनेवाले मेरे अनेक सत्संगी भाई-बहनों का

हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अन्त में इस ग्रन्थ के मुद्रण-कार्य एवं सुन्दर प्रकाशन के लिए श्री अजय आर्य, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली का हृदय से आभारी हूँ। उन्होंने अपने पूर्वजों की वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार की परम्परा बनाए रखी है, एतदर्थ विशेष अभिनन्दन के पात्र हैं।

शुभं भवतु। इत्योम्।

(28 फरवरी 2001)
फाल्गुन शुक्ला 5, वि० सं० 2057

'इन्दिरालयम्'
32, गुलमोहर पार्क, अकोटा गार्डन
वड़ोदरा-390020, गुजरात (भारत)

विद्यामार्तण्ड दिलीप वेदालंकार

1807, Continental Ave;
Apt # 106
NAPERVILLE
IL 60563, U.S.A
Phone : (630) 753-9967
Email · vedalankar@hotmail com

भारत से हम क्या सीख सकते हैं?

विश्व-प्रसिद्ध प्राच्यविद्या-विशारद प्रो० मैक्समूलर कहते हैं—

"यदि मैं विश्व-भर में से उस देश को ढूँढने के लिए चारों दिशाओं में आँखें उठाकर देखूँ जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम, तथा सौन्दर्य खुले हाथों लुटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है तो मेरी अँगुली भारत की ओर ही उठेगी। यदि मुझसे पूछा जाए कि अन्तरिक्ष के नीचे कौन सा वह स्थल है जहाँ मानव के मानस ने अपने अन्तराल में निहित ईश्वर-प्रदत्त अन्यतम सद्‌भावों को पूर्ण रूप से विकसित किया है, गहराई में उतरकर जीवन की कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है, उनमें से अनेक को इस प्रकार सुलझाया है जिनको जानकर प्लेटो तथा कांट का अध्ययन करनेवाले मनीषी भी आश्चर्यचकित रह जाएँ, तो मेरी अँगुली भारत की ओर उठेगी। इतना ही नहीं यदि मैं अपने से पुनः पूछूँ कि हम यूरोपवासी—जो अब तक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों के वायु-मंडल में पलते रहे हैं—किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोध करे—उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करे—व्यापक बनाए, विश्वजनीन बनाए—सही अर्थों में मानवीय बनाए—जिससे हमारे पार्थिव जीवन को ही नहीं, प्रत्युत हमारी सनातन आत्मा को प्रेरणा मिले, तो मेरी अँगुली भारत की ओर उठेगी।...इतना ही नहीं, भाषा, धर्म, पुराण-कथा, तत्त्वज्ञान, न्याय-कानून, नीति-रीति, कला एवं प्राचीन शास्त्र इत्यादि जो भी मानव-मस्तिष्क के विकास-क्षेत्र माने गए हैं—उनमें से किसी भी एक विषय का अध्ययन आरम्भ करने के बाद आगे बढ़ने के लिए इच्छा से या अनिच्छा से तुम्हें भारत की यात्रा करना ही होगी। क्योंकि, मानव-इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, मूल्यवान् और ज्ञानदायक सामग्री का विपुल भण्डार तो भारत में, सिर्फ भारत में और भारत में ही संगृहीत है।"

विषय-सूची

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठवाँ अध्याय

सातवाँ अध्याय

INDIA—WHAT CAN IT TEACH US?

"If I were to look over the world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that the nature can bestow—in some parts a very paradise on earth—I should point to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts; has most deeply pondered on the greatest problem on life, and has found solutions of some of them which will deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we here in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of the Greek and the Romans, and of one semitic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and eternal life - again I should point to India. Whatever sphere of human mind you may select for your special study, whether it be language or religion, or mythology, or philosophy, whether it be laws or customs, primitive act or primitive science, everywhere you have to go to India. Whether you like it or not, because some of the most valuable and most instructive materials in the history of man are treasured up in India and in India only....I can only say that after reading the accounts of the terrors and horrors of M an rule my wonder is that so much of native virtue and truthfullness should have

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

मानव का स्वरूप

यह विश्व, व्याप्त मूल सत्ता से उद्भूत एवं निर्मित उपकरणों के संघात का परिणाम है। विश्व के सृजन के सम्बन्ध में युगों से ज्ञान-विज्ञान की सहायता लेकर अन्त:-बाह्य विश्लेषण करने की चेष्टा की जा रही है। इस चराचर जगत् में चेतन तत्त्व का महत्त्व अधिक है क्योंकि वह गतिमान् एवं सजीव है तथा सृष्टि का भौतिक समन्वय उसी के निमित्त है। जीवधारियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो विवेक-बुद्धि से समन्वित है। महाभारत में लिखा है कि ब्रह्म का रहस्य यही है कि सृष्टि में मानव ही सर्वश्रेष्ठ है।[1]

पाश्चात्य चिन्तकों ने भी इस सृष्टि में मानव से अद्भुत और श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं माना है।[2] मनुष्य ही इस सृष्टि की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में समर्थ है। पास्कल का मत है कि मनुष्य ही इस संसार का सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक जीव है।[3] मनुष्य ज्ञान की प्राप्ति और उसकी अभिव्यक्ति कर सकता है तथा वही कर्म का कर्त्ता है।[4]

---

1. गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।
   —(महाभारत शा०प० 80.12)
2. Many are the wonders of world
   And none so wonderful as man.
   --Corliss Lamont : Humanism As a Philosophy, p. 80
3. S Radhakrishnan & P T Raju (Eds) The Concept of Man, P 9
4. C Ku Raja Some Fu Problems in Indian Phi

ऐतरेय उपनिषद् का वचन है—'मनुष्य विश्व-शक्ति की सुकृति है।'[1]

मानव-शरीर (जन्म) का महत्त्व

मानव-शरीर प्राप्त करके ही इस संसार के रहस्य का ज्ञान तथा सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। ब्रह्म का रहस्य मानव में ही निहित माना गया है, क्योंकि नर ही नारायण के समीप है।[2] बाइबल में भी इस तथ्य का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है।[3] कुरान में भी यह माना है कि मनुष्य पृथ्वी पर अल्लाह का प्रतिनिधि है।[4] तथा अल्लाह ने मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ आकार का बनाया है।[5]

मानव-जन्म की महत्ता के सम्बन्ध में श्री गोपीनाथ कविराज लिखते हैं—'प्राचीन हिन्दू शास्त्र में—केवल हिन्दू शास्त्र में ही नहीं, अन्यान्य देशों के धर्मशास्त्रों में भी—इतर प्राणियों के जीव-देह की अपेक्षा मानव-देह को अधिक उत्कृष्ट माना गया है। भगवान् श्री शंकराचार्य ने मनुष्यत्व, मुमुक्षत्व तथा महापुरुष-संश्रय, इन तीनों की अति दुर्लभ पदार्थों के रूप में गणना की है तथा इनमें भी मनुष्यत्व प्रधान माना है, क्योंकि मनुष्य-देह की प्राप्ति हुए बिना मुक्ति की इच्छा सम्भव नहीं है।[6] चौरासी लाख योनियों के बाद मनुष्य-देह की प्राप्ति होती है।

भागवत में कहा गया है कि मानव-शरीर को बनाकर ब्रह्म भगवान् अपनी कृतकृत्यता को व्यक्त करते हैं। भगवान् ने अपनी आत्मशक्ति माया के द्वारा जड़ सृष्टि (वृक्षादि) तथा चेतन-सृष्टि (पशु, मृग आदि) को बनाया, किन्तु इससे सन्तुष्ट न होने पर उसने मनुष्य को बनाकर अपनी कार्य-कुशलता से यह सन्तोष प्राप्त किया

---

1. **'ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्।'** —(ऐत०उप० 1.2 3)
2. **'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** —(शत० ब्रा० 2.5.1 1)
3. बाइबल—(जैनेसिस 1.26, 27, 5.1, 9.6)
4. कुरान—(सूरा 2 व 35-35)
5. कुरान—(सूरा 95.4, 64.3, 40.96)
6. कल्याण—मानवता-अंक
   (देखिये, श्रीगोपीनाथ कविराज का लेख—'मनुष्यत्व') पृ० 148

कि मुझे और मेरी सृष्टि को समझनेवाला अब उत्पन्न हो गया है।[1]

इतना दुर्लभ होने पर भी मानव-शरीर शाश्वत तथा अजर नहीं, इसलिए इसे विदेह कहते हैं, 'मनुष्य-जन्म की प्राप्ति सहज नहीं है, उसकी प्राप्ति का कोई निश्चय नहीं होता तथापि इसकी प्राप्ति क्षण-भंगुर ही होती है।'[2]

जैन-दर्शन में भी मनुष्य-जन्म के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। महावीर कहते हैं कि जब अशुभ कर्मों का विनाश होता है तभी आत्मा शुद्ध, निर्मल और पवित्र बनती है और तभी प्राणी मनुष्य-योनि को प्राप्त करता है।[3]

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर मानव-देह की महत्ता का वर्णन इस प्रकार करते हैं : 'संसारी जीवों को मनुष्य का जन्म चिरकाल तक इधर-उधर भटकने के पश्चात् बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, वह सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा भयंकर होता है। अतएव हे गौतम! क्षणभर के लिए भी प्रमाद मत कर।'[4]

मानव-जीवन और देह-प्राप्ति के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म ने भी वैदिक मान्यता तथा दर्शनों के अनुकूल मानव को ही देव का रूप स्वीकार किया है और उसके अनुसार मानव-शरीर की प्राप्ति होने पर ही सत्य-ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।[5]

मानव-जीवन बड़ा श्रेष्ठ है; यह पशुता, मानवता और देवत्व का संयोग है।[6] वही इस संसार की क्रियाओं का मूल स्रोत माना

---

1. सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
   वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
   तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
   ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ —(श्रीमद्भागवत 11.9.28)
2. दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः॥
3. कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
   जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं॥ —उत्तराध्ययन सूत्र 3.7
4. दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
   गाढ़ य विवाग कम्भुणी, समयं गोयम! मा पमायए॥
   —(उत्तराध्ययन सूत्र 10.4)
5. S Radhakrishnan & P.T. Raju (Eds) : The Concept of Man, p. 256
6. The Complete Works of Vivekanand—Vol VI p 123

गया है। कन्फ्यूशियस कहते हैं कि चाहे हम किसी भी दृष्टि से विचार करें, मानव इस विश्व का सूत्र है।[1] इस प्रकार मनुष्य ईश्वर से तनिक ही नीचे है।[2]

मानव और आत्मज्ञान

मानव, जिसे सृष्टि का मूल केन्द्र माना जाता है, स्वयं अपने लिए एक समस्या है। यह संभव है कि मानव इस संसार के रहस्य को समझ ले, किन्तु स्वयं अपने लिए वह एक रहस्यसूत्र है। वह अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में उत्सुक होकर अपना और अपने परिवेश का परीक्षण करता है।[3] इसीलिए समस्त ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान, मानव-शास्त्र, धर्म एवं नीति-शास्त्र के चिन्तन-मनन का केन्द्रबिन्दु मनुष्य ही रहा है। आत्मज्ञान से दीप्त जीवन ही चेतना का लक्षण है।

इस ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति भी मानव में ही प्राकृतिक रूप से निहित है। मानव की रचना दो पक्षों को लेकर हुई है। एक स्थूल शरीर है जो मानव के बाह्य विधान का प्रतीक है, दूसरा प्राण-तत्त्व है जो उसकी चेतना का द्योतक है। इस चेतन तत्त्व के आधार पर ही मनुष्य को चेतना-प्रवाह की धारा माना गया है।[4]

पाश्चात्य दार्शनिक सार्त्रे के मत में भी मनुष्य आत्माभिव्यक्ति में समर्थ एवं स्वतन्त्र है। प्रत्येक स्थिति में आत्मज्ञान और स्वचिन्तन के अतिरिक्त उसका और कोई लक्ष्य नहीं है।[5] मुक्ति-प्राप्ति की क्षमता ही मानव को अन्य प्राणियों से पृथक् रखती है। राल्फ बार्टन पैरी का मत है कि मानव ज्ञान एवं आत्मदर्शन द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ है, यही उसकी तीव्र इच्छा है।[6] इसी से वह अपने

---

1 Lui Wheli : Confucius—His Life and Time, p. 156
2 S.S. Frost : Ideas of Great Philosophers, p. 56-57
3 Marcus Antonius : To Himself, p.20
4 C. Kunume Raja : Some Fundamental Problems in Indian Philosophy—p 321
5 Jean-Paul Sartre : Existentialism And Humanism—p. 63
6 "....What is in man that was considered admirable....that man's peculiar dignity which makes him worthy of such

जीवन के लक्ष्य को पूरा करता है। वह आत्मविश्लेषण एवं जीवन के प्रति विवेचनात्मक व्यवहार द्वारा मानव-मूल्यों की खोज करता हुआ जीवन में उसकी स्थापना करता है।[1] जब वह जीवन के यथार्थ मूल्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा जीवन के विभिन्न पक्षों के अन्तरंग में प्रवेश कर जाता है, तब ही आत्मज्ञान के प्रकाश में जीवन के रहस्यों से परिचित हो पाता है।

मानव अपना ज्ञाता, व्याख्याता और निर्णायक स्वयं है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्रोटोगोरस का कथन है, 'मनुष्य ही समस्त वस्तुओं का मापदण्ड है।' चीन के प्रसिद्ध चिन्तक कन्फ्यूशियस भी मानव का मापदण्ड मानव को ही बताते हैं।[2] सोफिस्ट दार्शनिकों ने मानव को सामाजिक परिवेश में अधिक देखा, जबकि प्लेटो और अरस्तू ने इसके साथ ही सृष्टि में व्यक्ति-रूप में भी उसका अध्ययन किया। इतना होने पर भी सुकरात के इस कथन का महत्त्व है कि आत्मज्ञान-हीन मानव-जीवन व्यर्थ है।[3] मानव साधना द्वारा जीवन के शाश्वत मूल्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति के सब भागों का अनुभव करता हुआ भी वह जीवन के चरम लक्ष्य की खोज में व्यग्र रहता है।[4] मानव का एकमात्र लक्ष्य रहता है सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति।

दुःख से मुक्ति प्राप्त करने का साधन क्या है? ऋषियों का कथन है कि वह आत्मज्ञान है। ज्ञानी लोग कहते हैं—'आत्मा को देखो।'[5]

ज्ञानोपलब्धि का फल आत्म-सुख है। इसलिए आत्मा का ज्ञान कराना, चाहे वह ब्रह्म से भिन्न हो या अभिन्न, प्रत्येक दर्शन का

---

exercise enlightened chain."

Ralph Barton Perry : Humanity of Man--p 6

---

1 **Marcus Antonius : To Himself— p. 21**
2 **'The measures of man in man'—Lin Yu Tang : The Wisdom of Confucius : p. 157**
3 **Marcus Antouius—To Himself.**
4 उमेश मिश्र : 'भारतीय दर्शन', पृ० 4
5 **आत्मा वा अरे द्रष्टव्य** (बृह० उप० 2 4 5)

लक्ष्य है। वेद और उपनिषदों में आत्मा और उसके ज्ञान का विशद विवेचन मिलता है। यमराज के पास जाकर नचिकेता ने आत्मज्ञान ही माँगा था, क्योंकि वही माँगने योग्य है।[1] 'कठोपनिषद्' में इसीलिए कहा गया है कि हे मनुष्यो! उठो, जागो, सावधान हो जाओ और श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर आत्मज्ञान प्राप्त करो।[2] आत्मा का रूप व्यापक है, वह जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है, समस्त वस्तुओं को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है, स्थिति-काल में वह विषयों को अनुभव करता है तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है, इन्हीं कारणों से आत्मा का 'आत्मत्व' है।[3]

ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सदाचारनिष्ठ और शुद्ध अन्त:करण वाला होता है। इसीलिए कहा गया है कि दुष्कर्मी मनुष्य सत्य के मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकते।[4] उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और अकामयमान होता है— उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता; जीवनमुक्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है।[5] इस प्रकार मनुष्य को विशुद्ध अन्त:करण से आत्मज्ञान का प्रयत्न करना चाहिए।

मानव और मोक्ष

मानव-जीवन के मूल्यों की चेतना का सर्वोच्च रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय है। विशेष आध्यात्मिक व्यापार में लीन होने के लिए न्यूनाधिक रूप में निष्काम एवं अपरिग्रही होना आवश्यक है। मानव-जन्म पाकर भी मानव यदि साधारण लिप्साओं में रत रहता है तो वह कुबुद्धि ही है।[6] क्योंकि यह मानव-शरीर मोक्ष का साधन

---

1 यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो! यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।
—(कठ उप० 1.29)

2 उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। —(कठ उप० 3.14)

3 बलदेव उपाध्याय : 'भारतीय दर्शन', पृ० 72

4 ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः। —ऋग्० 9.73 6

5 बृह०उप० 4.4.6

6 श्रीमद्भागवत 11.23.23

है। शारीरिक संयम मानव-व्रत है और मन द्वारा शुद्ध की हुई बुद्धि देव-व्रत है।[1] हमें सत्य-ज्ञान की उपलब्धि करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता।

विभिन्न धर्मशास्त्रों में मोक्ष को अज्ञान, दुष्कर्म और दुःख से मुक्ति दिलाकर आनन्द, सत्कर्म और ज्ञान प्रदान करनेवाला बताया गया है।[2] भौतिक साधन इस साधन-मार्ग में सहायक होते हैं। महात्मा बुद्ध ने भी अपने अष्टांगमार्ग में नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक गुणों के विकास से मोक्ष का प्रतिपादन किया है।[3] कतिपय व्यक्ति मोक्ष को मानव की सहज प्रकृति से बाहर की वस्तु मानते हैं, प्रमुखतः तर्क-मूलक भाववादी। किन्तु यह मत कुछ उचित और ग्राह्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार दार्शनिक कोटि के चिन्तन का लोप संभव नहीं है, उसी प्रकार मोक्ष से धर्म और आध्यात्मिक मनोवृत्ति का लोप भी सम्भव नहीं है।[4] मोक्ष भी मानव का ही प्राप्य धर्म है, उसी की साधना का फल है। मोक्ष को अथवा इस आत्मतत्त्व को लोकोत्तर, अनिर्वचनीय, जीवन से परे की वस्तु समझकर सीमित कर दिया गया है इसलिए उसका नित्य-प्रति के जीवन से सम्बन्ध टूट गया। वास्तव में आत्मतत्त्व की आवश्यकता और प्रेरणा इस लोक के लिए भी है। यह भावना मानव में श्रेष्ठता का उन्नयन करती है। इस ज्ञान की प्राप्ति और आत्म-तत्त्व का विकास मनुष्य के प्रमाद-रहित होने पर ही होता है।[5] उपनिषदों में बताया गया है कि ब्रह्मज्ञान कोई भी साधक, अधिकारी बनकर प्राप्त कर सकता है। मोक्ष आस्था के स्वरूप की अभिव्यक्ति ही है। यह आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्मा का ज्ञान अन्तःकरण की परिशुद्धि द्वारा ही प्राप्त होता है।[6]

वास्तव में मोक्ष अथवा संसार-मुक्ति वह स्थिति है जब व्यक्ति स्वाधीन अनुभव करता है तथा उसका अस्तित्व, सुख, ज्ञान,

1 महाभा० वनपर्व 93.21 (श्लोक)
2 Aldous Huxley : Perrenial Philosophy—p 20
3 उमेश मिश्र : 'भारतीय दर्शन', पृ० 139
4 डॉ० देवराज : 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', पृ० 33
5 मुण्डक उप० 2.2.4
6 बृह० उप० 4 5 19 (श्लोक)

शक्ति कोई भी वस्तु बाह्य तत्त्व पर निर्भर नहीं रहती। 'स्व' की कोटि छोड़कर 'पर' की आवश्यकता नहीं पड़ती। ज्ञान, शक्ति अथवा पूर्ण सुख के लिए परनिरपेक्षता की अवस्था को ही आत्म-रमण या आध्यात्मिक मुक्ति कहा जाता है।

ज्ञान मोक्ष का साधन है, स्व-कल्याण तथा लोक-कल्याण की प्रेरणा देनेवाला है तथा सृष्टि में मानव-महत्त्व की स्थापना करनेवाला और जीवन के सर्वोच्च्व आदर्श की सिद्धि में सहायक रूप है। आत्मज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान और सत्य ही सबसे बड़ा हित का साधन है।[1] मानव को ज्ञान द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के हेतु सदैव साधना में निरत रहना चाहिए।

मानव का आध्यात्मिक विकास

मानव-शरीर और आत्मा ये दो प्रमुख तत्त्व परस्पर प्रगाढ़ता से सम्बद्ध हैं और मानव का कल्याण ही इनका चरम लक्ष्य है। यह इस संसार का जीवन-दर्शन है, जिसका केन्द्र-बिन्दु मानव है।[2] यही जीवन के सम की कसौटी है और साधना का तत्त्व लक्ष्य है। सृष्टि के आदि से ही मानव अपने लिए एक पहेली बना हुआ है। शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति और ये सभी मानवीय एवं सामाजिक विधाएँ मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों का गूढ़, गहन एवं गम्भीर अध्ययन कर रही हैं।[3] आध्यात्मिक परम्पराएँ इस बात पर बल देती हैं कि समाज एक बन्धन है, उसे तोड़ देने पर ही मानव के व्यक्तित्व का विकास सम्भव है।[4]

केवल शरीर-रचना अथवा मानसिक क्रियाओं के अध्ययन से मानव का अध्ययन पूरा नहीं होता और न ही मानव को एक यन्त्र बनाने से काम चलता है। कठोपनिषद् में वर्णन है कि विधाता ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, अन्तर्मुखी नहीं। इसलिए बाह्य-प्रवृत्तियों का निरोध करने पर ही अन्तरात्मा के दर्शन हो सकते हैं।

1. **आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं हि परमं हितम्।** —ना० पूर्व० 60 49
2. S. Radhakrishnan & P.T. Raju : 'The Concept of Man', p. 307
3. Ibid, p. 28
4. इन्द्रचन्द्र शास्त्री : 'मानव और धर्म'- पृ० 51

बौद्ध धर्म के अनुसार मानव-व्यक्तित्व एक प्रवाह है जिसमें सुख-दुःख, हर्ष-विषाद की अनुभूतियों तथा स्व-ज्ञान, पर-ज्ञान आदि प्रतीतियों की धारा बहती है। इसकी समाप्ति के लिए किया जानेवाला प्रयत्न 'साधना' है और अस्तित्व का उत्तरोत्तर क्षीण होना निर्वाण है।[1] जैन-दर्शन में भी मानव-व्यक्तित्व पर संस्कारों का प्रभाव माना जाता है। ज्यों-ज्यों इन संस्कारों का प्रभाव घटता जाता है, आत्मा में ज्ञान, सुख एवं शक्ति की वृद्धि होती है।[2] दोनों ही दर्शनों ने आत्म-ज्ञान पर बल दिया और नैतिकता एवं सदाचार को इसका मुख्य साधन बताया है।[3] इस प्रकार सभी दर्शन मानव-कल्याण के निमित्त ज्ञान और आध्यात्मिक व्यापार को आवश्यक समझते हैं।

भारतीय दर्शन की परम्परा में मानव-विकास का अर्थ है—उसकी आत्मा को सबल बनाना। भारत का तथाकथित निरपेक्षतावाद इस सत्य को स्वीकार करता है कि 'आध्यात्मिक जीवन धर्मों के पारम्परिक झगड़े से ऊपर की वस्तु है।'[4] मानव का भौतिक कल्याण भी आध्यात्मिक कल्याण पर केन्द्रित है। वस्तुतः विश्व के गुह्य तत्त्वों और जीवन के रहस्यमय पक्षों को भली-भाँति समझने की सामर्थ्य मनुष्य के आन्तरिक विकास द्वारा ही प्राप्त होती है। ज्ञान के द्वारा संशय दूर होकर आत्म-परिशुद्धि होती है। ज्ञान के लिए मानव-हृदय में भेद और संशय नहीं होना चाहिए,[5] क्योंकि उनके रहने से चित्त-शुद्धि नहीं होती।

आध्यात्मिकता और मानव-कल्याण

व्यक्ति के सुख-दुःखों के कारण स्वयं उसमें ही विद्यमान होते हैं। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने साक्षात्कार अथवा आत्मानुभूति पर ही बल दिया है।[6]

---

1. Aldous Huxley : The Perrenial Philosophy—p. 214
2. बलदेव उपाध्याय : 'भारतीय दर्शन,' पृ० 99, 118
3. S. Radhakrishnan & P.T. Raju : The Concept of Man, p. 252
4. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् : 'भारत और विश्व', पृ० 28
5. मुण्डक उप० 3.1.5
6. बलदेव उपाध्याय : 'भारतीय दर्शन', पृ० 12

वेदों में इस तथ्य को प्रमुख माना गया है और आध्यात्मिक ज्ञान को ही मानव-कल्याण का मार्ग बताया है। अथर्ववेद के अनुसार, इस 'ज्ञान और प्रकाश को प्राप्त करनेवाले मन्त्र-द्रष्टा पुरुष, संसार का कल्याण और सुख चाहते हुए सर्वप्रथम स्वयं तपस्या और व्रत-पालन की दीक्षा लेकर परमेश्वर की उपासना करते हैं।' उसी तप और दीक्षा से राष्ट्र में बल और ओज उत्पन्न होता है। वह अपने संकल्प और इच्छानुसार कर्म करता है।[1] उपनिषद् में कहा गया है कि अशुभ को शुभ में बदल देना ही मानव की श्रेष्ठता है। इससे ब्रह्म-उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त होता है तथा स्व और पर का कल्याण होता है। कर्मयोगी बनकर हम संसार की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि उपनिषदों की मान्यतानुसार संसार ब्रह्मरूपी है।[2] वेदों में स्वयं से ऊपर उठकर तथा स्वार्थ-हानि करके सत्य-भाषण, सत्य-संकल्प तथा सत्य-कर्म के आदेश बार-बार दिये गए हैं। उसमें मानव के कल्याणकारी पथ के पथिक होने की कामना की गई है। नैतिकता और आचार-श्रेष्ठता ही मानव-जीवन की आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं, इसीलिए उसे 'ज्योतिष् पतिः' कहकर बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है। वेदों में मानव के आध्यात्मिक और भौतिक कल्याण के लिए 'ऋत' का विवेचन किया गया है। वास्तव में 'ऋत' सत्यभूत ब्रह्म ही है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में भी सदाचार-पालन पर बल दिया गया है।[4] यही मानव के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उपनिषदों में भी आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ होने के लिए सद्गुणों का स्वभाव आवश्यक बताया गया है।

जीव ब्रह्म-प्राप्ति के लक्ष्य की ओर तब तक अग्रसर नहीं हो सकता, जब तक कि सत्य और असत्य का विवेक, श्रेय और प्रेय का भेद-ज्ञान नहीं हो जाता। प्रेय में तात्कालिक सुख होते हैं, जो व्यक्तिगत स्वार्थ से सम्बद्ध होते हैं, परन्तु श्रेय-मार्ग में व्यष्टिगत

---

1 बृह० उप० 4.4.5
2. सर्वं खल्विदं ब्रह्म। —(छान्दो०उप० 3.14 1)
3. बलदेव उपाध्याय : 'भारतीय दर्शन', पृ० 58—मन्त्र-भाग
4 ऐतरेय ब्राह्मण 1 6 शतपथ ब्राह्मण 2 5 2 20

सुख-कामना न होकर समष्टिगत सुख की कामना होती है। वह आत्मा के उदात्त एवं विशुद्ध रूप से युक्त होता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भेद-बुद्धि को दूर करने का उपदेश देकर मानव-मात्र को स्व-कल्याण और पर-कल्याण का मार्ग दिखाया है,[1] जिसके लिए ज्ञान और कर्म पर बल दिया गया है। वास्तव में मनुष्य-जीवन की और उसके ज्ञान की सार्थकता उसके कर्म में ही है।[2] अपने कर्मों द्वारा संसारी लोगों को कर्म की शिक्षा देने के लिए ही भगवान् स्वयं कर्म करते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"हे पार्थ ! इस जगत् में मुझे कुछ करने को नहीं है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ, क्योंकि मनुष्य मेरा ही अनुकरण करते हैं; और यदि मैं निष्क्रिय होकर बैठ जाऊँ तो सभी कर्म करना त्याग देंगे और संसार में अनर्थ हो जाएगा।"[3] कर्तव्य-पालन के लिए अर्जुन को उन्होंने तीन प्रकार से उपदेश दिया है—पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक।[4] गीता के अनुसार निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और शुद्ध मन ही सात्त्विक कर्म करनेवाला होता है।[5]

समत्व-दृष्टि मानव-कल्याण और दुःख-निवृत्ति का मार्ग है और यही सार्वभौम मानवता के दर्शन की झाँकी दिखाती है। समत्व ही मानव-जीवन का चेतन लक्ष्य है। वह उसकी आत्मा की जागरूकता और जीवन का सत्य तत्त्व है। इस सत्यज्ञान के होने पर वह स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण का साधन बनता है।

मानव और नैतिकता

मानव-जीवन में आध्यात्मिक बल का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह शारीरिक बल का नहीं है। वेद और उपनिषद् सम्बन्धी आध्यात्मिक विवेचन में स्पष्ट है कि व्यक्ति को सदाचारी, अध्ययनशील, आशावादी, दृढ़ निष्ठावान् और बलवान् बनना

1. उमेश मिश्र : 'भारतीय-दर्शन', पृ० 80
2. डॉ० देवराज : 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', पृ० 363
3. गीता 3.20, 22—**न मे पार्थ**....
4. उमेश मिश्र : 'भारतीय दर्शन', पृ० 71
5. गीता 5 11 18 23

चाहिए। इस आभ्यन्तर व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाले तीन तत्त्व माने जाते हैं—आत्मा, मन और शरीर।[1] जिस व्यक्ति की आत्मा, मन और शरीर स्वस्थ हैं, वह सुखी है। इनमें भी आत्मा की विशदता और स्वस्थता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मानव को सत्य और असत्य में निर्णय करना ही पड़ता है; यह सामान्य जीवन का महत्त्वपूर्ण और गंभीर पक्ष है[2] जिसे हम नैतिकता और आचार कहते हैं। डॉ० एल्बर्ट श्वाइत्ज़र ने दूसरों के प्रति व्यवहार को ही नैतिक दृष्टिकोण से महत्त्व दिया है।[3] मानव-मन की यह औचित्य भावना उसकी आत्मा की विशदता में सहायक है। गांधी जी आत्म-परिष्कार को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार, हमें मन, वचन और कर्म से शुद्ध होना चाहिए।[4] प्लेटो का कथन है कि सद्गुण—व्यक्तिगत आचरण, सामाजिक कल्याण तथा लोक-मंगल के लिए आवश्यक हैं। वास्तव में सद्गुणयुक्त जीवन ही पूर्ण तथा संगति-युक्त है।[5]

आचार-सम्बन्धी गुणों में न्याय तथा भावना सम्बन्धी गुण आधारभूत हैं। न्याय के तीन पक्ष हैं—(1) सामाजिक न्याय, जिसे अरस्तू ने सर्वश्रेष्ठ आचरण माना है और जो सामाजिक उपलब्धियों के समान उपयोग पर बल देता है। (2) समानता का शासन। (3) प्रत्येक को आवश्यकतानुसार जीवन-सुविधाओं की प्राप्ति। जहाँ तक भावना-सम्बन्धी आचरण और गुणों का सम्बन्ध है, उन्हें भी तीन

1. इन्द्रचन्द्र शास्त्री : 'मानव और धर्म', पृ० 78
2. William Marshal Urban : Humanity and Deity—p.411
3 "....We feel obliged to think, not only of our own well-being but that of other people, and of Society in general.
....The first stage in the development of Ethics began with the idea that this "thinking of others" should be put on an over-broader basis...."
—Jacques Feschette : 'Albert Schweitzer—An Introduction,' (1956) p.112
4 "Self Purifications must mean purification in all the walks of life....To attain the perfect purity one has to become absolutely passion-free in thought, speech and action",
—M.K. Gandhi : Truth in God—pp. 50-51
5 शान्ति जोशी - 'नीति शास्त्र' पृ० 262

रूपों में रख सकते हैं—निजी (आन्तरिक) दुःख-सुख सम्बन्धी, बाह्य अमानव (भौतिक) वस्तुएँ, और अन्य मानव-सम्बन्धी। इन सब का संयमन आवश्यक है। इसलिए सहज सहानुभूति, सज्जनता, सत्य और कुशलता के गुण होना अनिवार्य है।[1] इन सभी नैतिक और आचरण सम्बन्धी गुणों की प्राप्ति प्लेटो और अरस्तू के मतानुसार उचित शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था द्वारा हो सकती है।[2]

मानव और स्वतन्त्रता

अपने अस्तित्व की रक्षा और आकांक्षाओं की पूर्ति की कामना मनुष्य की नैसर्गिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है; मानव-हृदय में दूसरे को पराधीन बनाकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति की लालसा निरन्तर बनी रहती है। इस लालसा के तीन कारण हो सकते हैं—अभाव, अन्याय और अज्ञान। अभाव के मूल में कुछ प्राकृतिक कारणों के साथ-साथ सहज स्वार्थ-वृत्ति, कामनाओं की वृद्धि, अहंकार और मिथ्या अस्मितादि कारण हो सकते हैं। अन्याय में स्वार्थ-वृत्ति और मानव के अहं की अज्ञान में भ्रान्ति और संकीर्णता रहती है। भावनाओं के इस भेद से 'स्व' और 'पर' का भाव उदित होकर मानव को मानव का शत्रु बना देता है। श्री रसेल कहते हैं—'मानव शिवत्व की भावना से मंगल-प्रसार भी कर सकता है और अमंगल की भावना से विनाश भी।'[3] मनुष्य ने बाह्य प्रकृति पर तो विजय प्राप्त कर ली है किन्तु आन्तरिक प्रकृति को वश में नहीं कर सका, इसलिए विकृत स्वभाव के कारण बुद्धिमान् होता हुआ भी वह पाशविक कार्यों में लिप्त रहता है। ऐसी स्थिति में मानव-स्वातन्त्र्य और गौरव, करुणा, सौन्दर्य और सुख शब्द निरर्थक हैं। इनका महत्त्व तब है जब समाज का वैषम्य दूर हो जाए।

स्वार्थान्धता के कारण दूसरों को बन्धन में रखकर तथा सज्जनता की सीमाओं का अतिक्रमण कर अपने अस्तित्व के रक्षण में ही रत रहकर मनुष्य दासता एवं स्वामित्व की प्रथा चलाते हैं। वास्तव में उचित यही है कि व्यक्ति मानव होने के नाते अपने और

---

1 Nichoemachau Ethics, part IV, Ch. 6-8
2. S. Radhakrishnan & P.T. Raju : The Concept of Man—p.35
3 Russell 'The Authority of p 84

दूसरों के अधिकारों का आदर करे तथा उनका विकास भी करे। रूसो का मत है कि मानव स्वतन्त्र होकर भी प्रत्येक स्थान पर बन्धनों में बँधा है।[1] उसकी स्वतन्त्रता समाज की मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती। वह नैसर्गिक रूप से अच्छा है, सद्गुण-युक्त है, किन्तु प्रकृति ने उसे कुछ सीमाओं से नियन्त्रित कर दिया है।

मानव-जाति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया, वैसे-वैसे मानव-जीवन और समाज-संहिता के मूल्यों में परिवर्तन हुआ और इन सब परिवर्तनों के पीछे मानव की स्वतन्त्रता की भावना निहित रही। स्वतन्त्रता की सीमा का अतिक्रमण करने से सिद्धान्तहीनता, अवसरवादिता, प्रतियोगिता और शोषण की प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं।[2] रसेल कहते हैं—"हम दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने में व्यस्त रहकर अपने समय तथा शक्ति का अपव्यय करते हैं जिससे जीवन को उदात्त बनानेवाले भावों की उपेक्षा से हृदय का स्रोत निरन्तर सूखता जा रहा है।"[3] वास्तव में मानव-व्यक्तित्व केवल भौतिक परिवेश से उत्पन्न उत्तेजकों के प्रति प्रतिक्रियाओं की परम्परा नहीं है, अपितु उसकी महत्ता उन मूल्यों तथा आदर्शों के उस जगत् के प्रति प्रतिक्रिया करने में है, जो उसके ज्ञान द्वारा नैतिक और सौन्दर्यमूलक रूप में निर्मित किये जाते हैं।[4] मनुष्य में दूसरों के अधिकारों के प्रति आदर और सम्मान की भावना होनी चाहिए। एक श्रेष्ठ समाज का निर्माण करने के लिए हमें ऐसे ज्ञान और तत्त्वों की खोज करनी चाहिए जो व्यक्तिगत सम्भावनाओं को सामाजिक विरोध के बिना विकसित करें तथा जिससे एक मानव दूसरे मानव के कल्याण के लिए कार्य करे। मनुष्य को दूसरे पर शासन करने से पहले अपने ऊपर शासन करना चाहिए। साथ ही प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के

---

1. William Ebenstein : 'Greek Political Thinkers', p. 419
   'Man is born free—and everywhere he is in chains.'
2. डॉ० देवराज : 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', पृ० 387
3. Bertrand Russell : 'Authority and Individual', p. 61-62
4. डॉ० देवराज संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ० 385

प्रति आदर-भाव भी रखना चाहिए। जर्मन दार्शनिक कान्ट कहते हैं, 'इस विश्व में सर्वश्रेष्ठ अच्छाई क्या है ? पूर्ण संसार का लक्ष्य है एक ऐसा संसार जिसमें समस्त प्राणी सुखी हों और सभी उसके पात्र भी हों।'[1] वास्तव में किसी गुण अथवा आनन्द की प्राप्ति के लिए मानव को उसका पात्र भी होना चाहिए। इस विषय में जहाँ व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का महत्त्व है, वहाँ दूसरों के स्वातन्त्र्य का भी ध्यान रखना होगा। ऐसी स्वतन्त्रता का ईश्वर भी सम्मान करता है। अहंकार वृत्ति—जो मानवीय दुःखों का कारण है—जब भी धर्म के क्षेत्र में आई तो उसने धर्म और मानव-स्वतन्त्रता का गला घोट दिया। मानव-व्यवहार की आधारभूत शक्ति स्वतन्त्रता का आध्यात्मिक रूप है जो मनुष्य के हृदय में विद्यमान है। स्वतन्त्रता की यह भावना आत्मज्ञान से सम्बन्धित है। मनुष्य मान्य नैतिक धारणाओं से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करता है।[2] यदि सब दूसरों के प्रति सद्‌भावना, आदर और कर्त्तव्य-भावना रखें तो मानव के जीवन का कटु संघर्ष मंगलमय रूप में परिवर्तित हो जाएगा।

मानव-मूल्य

मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों को दृष्टि में रखते हुए मानव-मूल्यों की स्थापना की जाती है। ये मूल्य सभ्यता, संस्कृति, धर्म, नैतिकता, राजनीति और आर्थिक स्थिति के संदर्भ में देखे जाते हैं। नास्तिक लोग मानव के भौतिक कल्याण को ही मूल्यों का आधार मानते हैं। मार्क्स सभी समस्याओं के मूल में अर्थ को मानते हैं। वर्ग-भेद मनुष्यों को खण्डित करता है, इसलिए उसमें प्रगति कही जानेवाली क्रान्ति को प्राधान्य दिया गया है। आस्तिक विचारधारा किसी अलौकिक सत्ता को मानव-मूल्यांकन का आधार बनाती है जिसमें आचार-विचार की दृढ़ता और धर्म का महत्त्व है। समस्त मध्यकाल में मूल्यों का स्रोत और नियन्ता किसी मानवोपरि

---

1. What constitutes the supreme Good? The supreme created good is that most perfect world, that is a world in which all rational being are happy and are worthy of happiness.

   —Immanual Kant : Lectures in Ethics—p. 6

2. Erwin D Casham · 'New Frontiers for Freedom' p 9

अलौकिक सत्ता को माना जाता था। यदि एक व्यक्ति ईश्वर का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसे ज्ञान हो जाता है कि उसकी श्रेष्ठता किसमें है।[1] मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः इसी परिवेश में अपने स्थान तथा कर्तव्य को पहचानना उसका सर्वप्रथम उत्तरदायित्व है। तभी वह उचित मूल्यांकन में दूसरों की भी सहायता कर सकता है और मानव-मूल्यों की स्थापना के प्रति दृष्टिकोण बना सकता है।[2] समाज और मूल्यों का माध्यम मनुष्य है और वही समस्त संस्कृतियों की शक्ति का स्रोत है। अतः उसका मूल्यांकन समाज और संस्कृति के विकास के आधार पर ही होना चाहिए। अस्तित्ववादी मूल्यांकन की दृष्टि से मानव को सर्वाधिक सौभाग्यशाली समझते हैं। उसके व्यक्तित्व का समाज, स्वभाव, चिन्तन और आदर्श की दृष्टि से एक विशिष्ट स्थान होता है।

मानव-मूल्यों के उन्नयन के लिए नैतिक और सामाजिक आधार हमारे निजी प्रतिकूल स्वभाव-तत्त्वों के बीच सामंजस्य और अन्य लोगों के लिए सहानुभूति स्थापित करता है। हमें आन्तरिक भावना को प्रोत्साहित करना चाहिए।[3] मानव-सम्बन्धी चरम मूल्य वे वस्तुस्थितियाँ तथा व्यापार हैं अथवा वे विशिष्ट पक्ष हैं जो मानव की सार्वभौम संवेदना की आवेगात्मक अर्थवत्ता सहित प्रकट होते हैं।[4] चरम मूल्यों के प्रति समस्त मानवों की संवेदना समान रूप में प्रतिक्रिया करती है। सामाजिक मूल्यों में समानता को प्राथमिक मान्यता मिलनी चाहिए। दोनों के समान नैतिक मूल्य और समान अधिकार समान गौरव की रक्षा करें।

मानव का लक्ष्य

मानव-आत्मा, विश्व तथा ब्रह्म—इन विषयों को लेकर संसार के चिन्तकों ने भी अलग-अलग ढंग से मानव-कल्याण के सम्बन्ध

---

1. Floy H. Ross : 'The Meaning of life in Hinduism and Buddhism , p. 148
2. Ibid, p. 154
3. डॉ० राधाकृष्णन्—अनुवादक डॉ० ज्ञानवती दरबार ; आध्यात्मिक साहचर्य, पृ० 18
4. डॉ० देवराज 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' पृ० 168

में सोचा। मानव-धर्म यही है कि वह मानव सत्य को पहचानकर प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रखे। पारस्परिक व्यवहार में स्वार्थ और परार्थ प्रमुख हैं। मानव की श्रेष्ठता स्वार्थ को परार्थ में तिरोहित कर देने में ही है। यह भावना मानव-अखण्डता और पूर्णता की द्योतक है।[1] मानव में प्रकृति-प्रदत्त आकार-प्रकार की समानता होते हुए भी स्वभाव, क्रिया, विचार व मनोवृत्ति में भिन्नता होती है। परन्तु सब के लिए सर्वत्र 'मानव' संज्ञा का ही प्रयोग होता है, यह मानव की अखण्डता का ही परिणाम है। टैगोर कहते हैं कि अभिन्नता, सामरस्य का वेदों में विवेचन किया गया है। संगीत के स्वरों में एक प्रवाह, लय तथा अखण्डता होती है। इसी समस्वरता में उसका माधुर्य रहता है। यदि उसे खण्डित कर दिया जाए तो वह कर्ण-कटु होकर मानव चित्त का प्रसादन नहीं कर पाता।[2]

धर्म अखण्डता और सामंजस्य का साधन और मानव-गुणों का विकास करनेवाला है। टैगोर लिखते हैं कि आत्मा का ऐक्य, एकसूत्रता, आन्तरिक सद्भावना ही वे मानवीय गुण हैं, जो मानव को कल्याण-पथ पर अग्रसर होने में सहायक होते हैं। यह कल्याण-भावना चेतन रूप में मानव-हृदय में उपस्थित रहती है, किन्तु धर्म में स्थूल रूप से परिलक्षित होती है।[3] मानव में सद्गुणों के कारण ही नर में नारायण का वास होता है—ऐसा माना गया है।[4] पारस्परिकता की अनुभूति ही विश्व-चेतना का ईश्वरीय सत्य है, अन्यथा सब-कुछ जड़ है। भारतीय धर्म एवं दर्शन ने इन भावनाओ का दृढ़ता से पोषण किया है। अद्वैतवाद और '**अहं ब्रह्मास्मि**' की भावना में मानव को सत्य अस्तित्व की अनुभूति तथा इस सृष्टि के रहस्य का परिचय कराया गया है।[5] स्वामी रामकृष्ण परमहंस भी इससे सहमत हैं। जाक मारितां इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि मानव की सृष्टि ईश्वरीय ज्ञान के अलौकिक ध्येय के लिए हुई है। यदि

---

1. S. Radhakrishnan : 'An Idealist View of Life', p. 69
2. Ibid., p. 7
3. Rabindranath Tagore : 'Creative Unity'
4. नरनारायणौ नित्यं केवलं यत्र तिष्ठतः।
   भ्रातृभाव-समापन्नौ परम सख्यमाश्रितौ।—(कल्याण : मानवता अंक, पृ० 290)
5. The Complete Works of Swami Vivekanand, Vol VIII p 223 225

वह ईश्वरीय गुणों—करुणा, दया व समता—से सम्पन्न नहीं है तो वह मानव से ही हीन है। अतः मानव का अस्तित्व लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही है। मानव में दिव्यता तभी आती है जब उसमें 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति उसके श्रेष्ठ कार्यों द्वारा हो। अवतारों ने भी अपने चारित्रिक गुणों द्वारा कर्म-औचित्य का आदर्श स्थापित करते हुए जीवन का चरम लक्ष्य और आत्मिक शान्ति समन्वय, एकता और सौहार्द्र में बताई है।[1] व्यक्तिगत सुख श्रेष्ठ नहीं, यह दिव्य चरित्रों से ज्ञात होता है। इसी लिए दर्शनों में संकेत दिया गया है कि बाह्य रूप में, रूपाकार दृष्टि से, मानव और ईश्वर भिन्न होते हुए भी तत्त्व-रूप में एक ही हैं।[2]

मानव का अध्ययन, गुण-दोष-विवेचन व्यष्टिगत सन्दर्भ में न होकर समष्टिगत होता है।[3] मानव के लिए शुभ यही है कि एक जाति में एक-दूसरे के साथ एक-सूत्रित हो जाए और एक मानव रूप होकर दृढ़ मैत्री में बँध जाए। यह अत्यावश्यक है क्योंकि सृष्टि-क्रम मानव के ज्ञान के लिए एक अभिव्यक्ति है। एक ही व्यवस्था-क्रम का अंग होने के कारण मानव के पारस्परिक और सामाजिक सम्बन्ध भी सम्भव हैं। और शुभ भी वही है जो सबका लक्ष्य है।[4] इस प्रकार मानव-जीवन का लक्ष्य एक ही है—सार्वभौमिकता के व्यवस्थित रूप की स्थापना। इसीलिए ऋग्वेद और अथर्ववेद में प्रार्थना है कि हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें जिससे मनुष्यों में परस्पर सुसम्मति और सद्भावना का विस्तार हो। हम मनुष्य हैं और एक ही मानवता का अंश हैं।[5] इसीलिए सार्वभौमिकता के लिए एक हो जाना चाहिए।

मानव-कल्याण के लिए मानवी आत्मीयता के विस्तार की भारी आवश्यकता है। डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं—"यदि मनुष्य अपने 'स्व' का विस्तार कर ले तो सार्वभौमिक कल्याण का प्रसार

1. S. Radhakrishnan . 'An Idealist View of Life', p.57, 58
2. Kenneth W. Morgen : 'The Religion of Hindus', p. 132
3. शान्ति जोशी : 'नीतिशास्त्र', पृ० 505
4. G.H. Sabine . 'A History of Political Theory', pp. 432-33
5 The Complete Works of S Vivekanand, Vo I p 370

हो जाएगा।''[1] नैतिक मूल्यों की स्थापना मानव-हित के लिए आवश्यक है। मानव ही इस कार्य को करने में समर्थ है। वही व्यक्तिगत सीमाओं को पार कर, स्वार्थ से दूर होकर, सम्पूर्णता से तादात्म्य स्थापित कर सकता है।[2]

मानव का सत्य रूप तभी निर्मित हो सकता है जबकि मानव की एकता और सार्वभौमिकता के विश्वास में एकरूपता हो। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मानव-कल्याण और प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना-युक्त कल्याण-कामना के लिए मानववाद की चिन्तनधारा विचार, परम्परा और पारस्परिक समानता रखते हुए चल पड़ी। यही विश्व-कल्याण का रूप है। इसमें मानव की मानव के लिए और मानव की प्राणिमात्र के लिए सार्वभौमिक गहन ममत्वशील भावना है। इसके अनुसार मानवों के बीच समस्त सामाजिक, राष्ट्रीय और धार्मिक भेदों एवं व्यवधानों को समाप्त कर मानव-मात्र के प्रति उदार आत्मीयता और संवेदनशीलता की ओर प्रेरित किया जाता है।

मानववाद

संसार के मानव-इतिहास में किसी देश और किसी काल में भी ऐसी कोई चिन्तनधारा नहीं रही, जिसमें सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन मानव-जाति को मूल मानकर न किया गया हो।[3] वास्तव में मानव-जीवन का लक्ष्य ही मानव-हित-चिन्तन है और वही उसकी सिद्धि है।[4] इस सम्बन्ध में दो चिन्तनधाराएँ मानववाद तथा मानवतावाद के रूप में उपलब्ध होती हैं। मानववाद समष्टिगत होकर व्यष्टिकल्याण की चिन्तनधारा है। वह समस्त मानव-जाति को अपना लक्ष्य मानकर व्यक्ति (मानव) के कल्याण का जीवन-दर्शन प्रस्तुत करता है। मानवतावाद नामक दूसरी प्रणाली की प्रक्रिया इसके विपरीत है। वह व्यक्ति और व्यक्ति-विशेष (इकाई) के द्वारा मानव-जाति के कल्याण की सन्देशवाहक चिन्तनधारा है। दोनों का

---

1. The Complete Works of Swami Vivekanand, Vol. I, p 372
2. Rabindranath Tagore : 'Religion of Man', p. 47
3. C. Kunume Raja : Some Fundamental Problems in Indian Philosophy, p. 299
4. Corliss As a Philosophy p 7

ध्येय मानव-कल्याण ही है।

मानववाद, पाश्चात्य दर्शन की एक विचारधारा के रूप में 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। भारतीय विचारकों ने इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से लेखनी नहीं उठाई। आधुनिक युग में पाश्चात्य विचारकों से प्रभावित होकर ऐसा साहित्य लिखा गया है। भारतीय चिन्तन में यह शब्दावली **मानव-कल्याण, विश्व-कल्याण, लोक-हित, लोक-संग्रह, 'वसुधैव-कुटुम्बकम्', 'सर्वजन-हिताय' तथा 'सर्वजनसुखाय'** जैसे शब्दों से प्रस्तुत और प्रतिपादित की गई है।[1]

मानवतावादी आन्दोलन चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में ग्रीक तथा रोमन संस्कृति-दर्शन की पुनर्जागृति के रूप में हुआ तथा इसकी अभिव्यक्ति तथा प्रसार साहित्य तथा चित्रकला के माध्यम से किया गया। लिग्यिस तथा कैज़ेमियन ने इसका उल्लेख किया है।[2] इसके अतिरिक्त यूरोप के पुनर्जागृति के नेताओं में इरास्मस तथा कोलेट[3] जैसे नेताओं ने पादरी-प्रथा से आक्रान्त मनुष्य को ईसाई धर्म के पाश से मुक्त किया और उसे नैतिकता तथा आचरण जैसे मानव-आदर्शों का दिग्दर्शन कराने के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया। साहित्य और धार्मिक ग्रन्थों को सामान्य जनता के लिए सहज सुलभ बनाया[4] और धार्मिक तथा सामाजिक सहिष्णुता पर बल दिया।[5] इस प्रकार यूरोप में मानववाद का प्रचार प्रमुख रूप से ज्ञान के साहित्य[6] के रूप में हुआ।

मानवतावाद से तात्पर्य है—'आशावादी चिन्तनधारा'। मानव मूल्य स्वनिर्मित हैं और इस सम्बन्ध में वे किसी दैवी शक्ति पर निर्भर नहीं।[7] धार्मिक और सामाजिक सुधार के आन्दोलन में दो प्रकार के

---

1 गुरुदेव स्मृति ग्रन्थ, पृ० 134
2 Emile Legouis and Louis Cazamien : A History of English Literature, p. 199
3 Ibid, p. 201, 202
4. Emile Legouis and Louis Cazamien : A History of English Literature p. 203
5. Ibid., p. 204
6 Ibid.. 231
7 J B Coates The Crisis of the Human Person, p 235

लोग थे—एक अलौकिकता व पवित्रता में विश्वास करते थे, तथा दूसरे, नैतिक सुधार के लिए मानव-बुद्धि में ही विश्वास करते थे।[1] ये नैतिकता, प्रकृति और कर्म को महत्त्व देते थे। इस प्रकार नव-जागरण का यह आन्दोलन कला और साहित्य को बौद्धिक रूप प्रदान करने के लिए चला और यह प्रयत्न किया गया कि मानव-मूल्यों को अधिक से अधिक उदात्त रूप में प्रस्तुत किया जाए। यही भावना साहित्यिक क्षेत्र में मानववाद के नाम से प्रसिद्ध हुई।[2]

मानव-मूल्यों की नव-स्थापना के विषय में विलियम हैज़लिट ने अपने लेख 'मानवबाद और मूल्य' में लिखा कि मानववाद मूल्य एवं सिद्धान्तों का युद्ध था और नव-मानववाद के अनुसार मनुष्य स्वयं इनका अर्जन कर सकता है।[3] इसका लक्ष्य मानव-गौरव की स्थापना था। ये तत्त्व आदिम युग से ही उपलब्ध होते रहे हैं जो शनैः-शनैः मानववाद के रूप में विकसित हुए। विल्हेम वून्ट के अनुसार इसी विचारधारा को मूल मानकर मानव की समस्त प्रगति हुई[4] और यही मूल विचार मानव की नैतिकता का वह तत्त्व है जिसने सार्वभौमिक ऐक्य का प्रसार किया।[5]

पुनर्जागरण-काल में लोगों का ईश्वर-विश्वास उठ रहा था। वैज्ञानिक कहते थे कि मनुष्य सृष्टि का एक अंग है और ईश्वर एक भ्रांति है।[6]

प्रमुख सुधारक इरास्मस ने धर्म में उत्पन्न दोषों एवं आडम्बरों का खण्डन किया, पादरियों की भर्त्सना की[7] तथा स्वतन्त्र धार्मिक भावना का प्रचार किया। नव-विचारधारा के सहिष्णु एवं उदार चर्च-अधिकारियों ने बाइबल में वर्णित कट्टरपंथी बातों का विरोध किया।[8]

---

1 Myron P. Cilmore : The World of Humanism, p. 205
2 Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. VII, p. 537
3 William Marshal : Urban Humanity and Deity, p. 409
4. Wilhelm Wundt : Elements of Folk Psychology, p. 473
5 Saxe Commins & Robert N. Linscott (Eds) : Man and Man—The Social Philosophers, p. 324
6 C. Brinton : A History of Western Morals, p. 296
7 C P S Clarke · Short History of the Christian Church, p 263
8 Henri Pirenne A History of Europe pp 501 502

रोमन कैथोलिक चर्च और प्रोटेस्टेण्ट मत के संघर्ष के फलस्वरूप इन लोगों ने सहिष्णुता का प्रचार किया। दोनों के अनुयायी एक-दूसरे पर निःसंकोच होकर अमानुषिक अत्याचार करते थे। यूरोप के इतिहास में यह असहिष्णुता सचमुच बड़ी बीभत्स थी।[1] साम्प्रदायिक युद्धों के विषय में सिडनी पेन्टर लिखते हैं[2] कि इस साहसपूर्ण धर्म-युद्ध, लूट-मार को मुक्ति का एकमात्र मार्ग बताकर लोगों को प्रोत्साहित किया जाता था। ये लोग अपनी सम्पत्ति धरोहर रखकर, भूमि बेचकर, परिवार को छोड़कर, यात्रा की समस्त कठिनाइयाँ झेलकर ईश्वर की सेवा के लिए शत्रुओं से लड़ने जाते थे। इस कार्य के लिए शासक शस्त्र ग्रहण करना गौरव की बात समझते थे।[3]

नव-जागरण के इस युग में सुधारवादी आन्दोलन भी चल रहा था। बौद्धिक वर्ग से सम्बन्धित लोग धर्म-विरोधी हो गए थे।[4] इस वर्ग ने ज्ञान के प्रसार का प्रयत्न किया। इरास्मस इस कार्य में सदैव अग्रणी रहा। उसने मानव-ज्ञान को आघात पहुँचानेवाले आडम्बर और तर्कहीन विश्वासों का विरोध किया। अज्ञान और मूर्खता को मनुष्य और समाज का शत्रु बताया। वह राष्ट्रीय और धार्मिक संघर्ष से घृणा करता था। उसने धर्म की आड़ में होनेवाले अनाचारों और अत्याचारों का घोर विरोध किया तथा हिंसा, युद्ध, दासता, क्रूरता और अमानुषिकता के विरुद्ध व्यापक संघर्ष किया।[5] पित्रो पोम्पानाजी, मोर्तेन, थामस मूर, वाल्तेयर, रूसो, दिद्रोत, कांट ने भी आचार विचार की श्रेष्ठता को प्रमुख माना।[6] इन्होंने बताया कि मनुष्य में समस्त दोष सामाजिक-आर्थिक परिवेश के दूषित होने पर ही उत्पन्न होते हैं।[7] पुनर्जागरण-काल के मानववाद की तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं। प्रथम विशेषता थी—मानव-गौरव की सजग

1. सत्यकेतु विद्यालंकार : यूरोप का आधुनिक इतिहास, पृ० 64
2. Sir Sidney Painter : A History of Middle Ages, p. 219
3. सत्यकेतु विद्यालंकार : यूरोप का आधुनिक इतिहास, पृ० 64-65
4. Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. VII, p. 541
5. C.P.S. Clarke : Short History of the Christian Church, pp. 263-64
6. C. Brinton : A History of Western Morals, p. 297
7. Ibid, p. 297

स्थापना, उसकी प्रतिभा, नैसर्गिक क्षमता, सामर्थ्य, स्वतन्त्रता और आत्म-निर्भरता का उदात्त प्रतिपादन। द्वितीय विशेषता थी—तत्कालीन साहित्य का प्राचीन आभिजात्य रचनाओं से सम्बन्ध। मानववादी लेखकों ने उस साहित्य से मानववादी शैली तथा आदर्श ग्रहण किये। ग्रीक दर्शन और साहित्य की सृजनात्मकता का मानववाद पर गहरा प्रभाव पड़ा[1] क्योंकि उसके पास अन्य कोई सिद्धान्त और नियम नहीं था। साथ ही, ग्रीक चिन्तन तर्कनिष्ठ और बुद्धिवादी था। कल्पनाशील विचारों के स्थान पर उसके निश्चित सिद्धान्त थे। तृतीय एवं सर्वप्रमुख विशेषता थी—ज्ञान का प्रसार, जिसे मानववाद का एक अर्थ भी माना गया।[2] इस ज्ञान-प्रसार और मानव-मुक्ति-भावना के कारण जो मानव-गौरव बढ़ा उसने दैवी तत्त्व को ही हीन बना दिया, जिससे वह उपेक्षित हो गया। कारलिस लेमांट लिखते हैं कि इस दृष्टि से पुनर्जागरणकालीन मानववाद की चिरन्तन विशेषता इस संसार में पूर्ण सुख और आनन्द की स्थापना पर बल देना है।[3]

इस प्रकार मानववाद का आधार रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और धार्मिक आडम्बरों से मुक्ति की भावना है। मानववाद के पूर्ण सैद्धान्तिक विश्लेषण के लिए उसके विकास और अर्थ का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि मानववाद की धारा प्राचीन काल से प्रवाहित होती आ रही थी, किन्तु यूरोप के पुनर्जागरण-काल में अधिक स्फुट रूप से संसार के समक्ष आई।

मानववाद : शब्दावली तथा भावना

सामान्यतः मानव-मूल्यों और गौरव की स्थापना करनेवाली विचारधारा को मानववाद (Humanism) कहा गया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द **'ह्यूम्नस'** से हुई है, जिसने पहले **'ह्यूमन'** शब्द का रूप ग्रहण किया तथा जिसका सम्बन्ध **'होमो'** मनुष्य आदि से है। इस **'ह्यूमन'** शब्द का अर्थ है मानव। उसमें 'ism' प्रत्यय लगाकर इसे (Humanism) मानववाद बनाया गया,

---

1. Ralph Barton Perry : The Humanity of Man, p.47
2. Ibid , p.47
3. Moses Hadas : Humanism—The Greek Ideal and Its Servival p 120

जिसका अर्थ है मानव-सम्बन्धी विचारदर्शन अथवा चिन्तनधारा। इसमें मानव-जीवन के सर्वश्रेष्ठ रूप का प्रतिपादन होता है। मानव (ह्यूमन), मानववादी (ह्यूमनिस्ट), मानववाद (ह्यूमेनिज्म), लोकोपकारी (ह्यूमेनिटेरियन)—जो मानव-सेवा को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।[1] मानवतावाद (ह्यूमेनिटेरियनिज्म) मानवीय गुणों का विकास करनेवाली विचारधारा है। इसके अनुसार मनुष्य में सच्ची कर्त्तव्य-परायणता, पारस्परिक स्नेह, लोक-सेवा की भावना, आत्म त्याग एवं औदार्य होना चाहिए।[2] इसी क्रम में मानवीयता (ह्यूमेननैस) और मानवता (ह्यूमैनिटी) भी आते हैं। प्रो० पेरी ने इन सभी पारिभाषिक शब्दों का मूल सूत्र स्वतन्त्रता बताया है। इसके मुख्य गुण विद्वत्ता, श्रेष्ठ कल्पना, सहानुभूति की भावना, गौरव- स्थापना तथा सज्जनता हैं।[3] ग्रीक सोफिस्ट-चिन्तकों ने मानव को 'सार्वभौमिक मनुष्य' कहा[4]; उन्होंने इस संसार के मनुष्य को ही मान्यता दी तथा उसका व्यापक रूप प्रस्तुत किया।[5]

मानवता शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ का बोधक होने से अस्पष्ट रहा है। इसमें बुद्धि अथवा विचार- शक्ति को मानव -मानव के बीच एक सार्वभौमिक समझौते का आधार माना गया है, जिसके अनुसार सभी मनुष्य विवेकी अथवा ज्ञान-प्राणी होने के नाते परस्पर और प्रकृति के साथ एक सौहार्द्रपूर्ण समन्वयात्मक भावना से रह सकते है।[6] इस प्रकार मानव-लक्षण-व्याख्या सम्बन्धी चिन्तन पश्चिम में स्टोइक विचारकों से सम्बद्ध है। वास्तव में मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार मानव की भौतिक सम्पन्नता का प्रतिपादन करते हुए यह सिद्ध करता है कि समस्त मानव-जाति में ऐक्य भाव नैसर्गिक है और यही भावना मानव-मूल्यों का उत्थान करती है तथा पारस्परिक मानव-व्यवहार की पशु-व्यवहार से भिन्नता सिद्ध करती है।[7]

---

1 Encyclopaedia Britannica. Vol. XI, p. 877
2 Wilhelm Wundt : The Principles of Morality, and the Depths of Moral Life, p. 157
3. Ralph Barton Perry : The Humanity of Man, p. 40
4. P.A. Schilpp (Ed.) : The Philosophy of Ernst Cassirer, p. 472
5 Ernst Cassirer : The Myth of the State, p. 57
6. P.A. Schilpp (Ed.) : The Philosophy of Ernst Cassirer, p. 481
7 Ibid, pp 480 81

आधुनिक शब्दावली में यह शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होने लगा और मानव-गुण तथा स्वतन्त्र मूल्य-सृजन इसके दो प्रमुख तत्त्व बन गए।

जर्मन विद्वान् हर्डर ने उसकी व्याख्या न केवल मानवीय गुणों के विकास के रूप में की, अपितु उसका समस्त मानव-जाति के प्रति सहज विकास भी अनिवार्य माना।[1]

मानववादी विचारधारा का रूप

मानवीयता का विचार सभ्य समाज में एक ओर सम्पूर्ण मानव-जाति से है और दूसरी ओर वह मूल्य-गरिमा है। इसमें मानव और पशु में अन्तर स्पष्ट करनेवाली नैतिक विशेषताओं के विकास का वर्णन और व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में उनके व्यवहार की अभिव्यक्ति है।[2] इस विचार के दूसरे भाव मे मानवीयता के अर्थ में मानव-जाति और मानव-स्वभाव दोनों अर्थ आ जाते हैं।

मानवीयता का भाव जैसे-जैसे बढ़ता गया, मानवीय भावना का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया और उसने सार्वभौमिक रूप ग्रहण कर लिया।[3] आदि-मानव में भी इस भावना के तत्त्व मिलते हैं, किन्तु उसका अर्थ तथा भाव वे नहीं थे, जो बाद में विकसित हुए।[4] इस शब्दावली का वास्तविक सम्बन्ध उस युग से है जिसमें मानवीयता का विचार स्पष्ट होकर आया और जिसने मानव-जाति के और संस्कृति के बड़े भाग को प्रभावित किया और लोगों ने इसकी अनुभूति की।

मानववाद का ऐतिहासिक आधार वास्तव में मानव की एक-दूसरे पर निर्भर करने की परिस्थितियाँ हैं। जीवन की सहयोगी प्रणाली मानव-अस्तित्व को जीवित रखने का एक साधन है। यदि मनुष्य दूसरों पर निर्भर न करता और उसमें सहयोगपूर्ण जीवन की भावना न होती, तो एकाकी रहकर वह असभ्य, मूर्ख और नृशंस तो

1 Wilhelm Wundt : The Elements of Folk Psychology, p. 472
2. Vergilius Fern (Ed.) : The Encyclopaedia of Religion, p. 348
3 Wilhelm Wundt The Elements of Folk Psychology p 473
4 Ib d p 474

होता ही, साथ ही उसका अस्तित्व भी चिरस्थायी न होता।[1]

इसीलिए जूलियन हक्सले ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि मानववाद मनुष्य को यह शिक्षा देता है कि उसे अपनी शक्तियों पर विश्वास करना चाहिए और वही मूल्यों का सृजक तथा भविष्य का निर्माता है।[2]

मानव-जाति की सामूहिक धारणा केवल जन्म-क्रम-विकास को ही व्यक्त नहीं करती, बल्कि यह समाज के सभी सदस्यों को एकसूत्रित करने के अर्थ में प्रयुक्त होकर व्यष्टिगत विचार से आगे बढ़ जाती है; क्योंकि वह मनुष्य के सार्वभौमिक अधिकारों और कर्त्तव्यों की स्थापना भी करती है।[3] इस भावना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति मानव की कर्त्तव्य-भावना और सार्वजनिक सेवा में मिलती है, जिसमें व्यक्ति व्यक्तिगत कर्त्तव्यों की सीमाओं को पार कर जाता है और उसमें लोकोपकार के गुण उद्‌भूत हो जाते हैं।[4]

मानवीय गुणों के प्रति जागरूकता ने पुनर्जागरण-काल में मानव-गौरव की स्थापना की और साहित्यकारों, नीति-शास्त्रियों, शिक्षा-विशारदों, धार्मिक नेताओं, राजनीतिक और सामाजिक चिन्तकों को आकृष्ट किया। मध्य-कालीन संघर्ष ने आधुनिक मानववाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया और एक स्वतन्त्र समाज तथा सभ्यता के निर्माण का कार्य किया।[5] कैज़िरर लिखते हैं कि मानवी गुण-विकास की यह भावना सर्वप्रथम रोम के सामन्त-वर्ग में पल्लवित हुई। इसके साथ ही यह निजी तथा सार्वजनिक जीवन का रूपाकार ग्रहण करने लगी। नैतिक गुणों के अतिरिक्त इसका अर्थ आदर्श से भी लिया गया। वास्तव में यह एक ऐसी आवश्यकता थी, जिसका प्रभाव मनुष्य के सारे जीवन पर उसके नैतिक आचरण, भाषा, साहित्यिक शैली और रुचि पर आवश्यक था।[6]

---

1 Hector Hawton (Ed.) : Reason in Action, p. 31
2 J.B. Coates : the Crisis of the Human Person, p. 241
3 Wilhelm Wundt : The Elements of Folk Psychology, p 475
4 Wilhelm Wundt : The Principles of Morality and the Depths of Moral Life, p. 156
5. Jacques Maritain : True Humanism, p.8
6 Ernst Cassirer · The Myth of the State p 102

मानव–गुण–प्राधान्य की धारणा ने मानव को ही चिन्तन और समाज का केन्द्र–बिन्दु बना दिया। मानववाद मनुष्य की सम्पूर्ण मनोवृत्तियों का निस्संग चित्रण करता है, वह यथार्थोन्मुख है। और विशुद्ध मानवीय दर्शन है तथा धार्मिक विचारों का विरोधी चिन्तन है। ई०पू० पाँचवीं शताब्दी में एपिक्यूरस ने इसी दर्शन को विकसित किया और एक नैतिक मानववादी आधार दिया।[1] उसने कहा—हमें देवताओं से डरना नहीं चाहिए, परलोक की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और इसी जन्म में सुख–प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। मानववाद का पोषण और भी अनेक ढंगों से हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कान्ट ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की पूजा का विधान किया।[2] इंग्लैण्ड में जॉन स्टूअर्ट मिल ने उपयोगितावाद से मानववाद को पोषित किया।[3] हर्बर्ट स्पेन्सर, हक्सले, बर्ट्रेन्ड रसेल[4] मानववाद के प्रबल समर्थक रहे। इस प्राकृतिक मानववाद के अनुसार दो तथ्य प्रमुख हैं—(1) संसार में मानव–उद्देश्य से श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण और कुछ नहीं है; (2) समस्त घटनाएँ प्रकृति के नियमों के अनुरूप ही घटित होती हैं, इसलिए अद्‌भुत अथवा अतिमानवीय कुछ नहीं है।[5]

बीसवीं शताब्दी के प्रो० शिलर ने कहा : मानव–अनुभव ही इस संसार में चिन्तन का विषय, समस्त मूल्यों का मापदण्ड और समस्त वस्तुओं का निर्माता है[6] तथा सत्य और फलवाद को **मानववाद** का नाम दिया।[7] इस प्रकार मानववाद आधुनिक काल का एक प्रसिद्ध और बृहत् दर्शन बन गया और साम्यवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद तथा अन्य अनेक रूपों में मानव–हित के उद्देश्य को लेकर समाज के चिन्तकों के मनन का विषय बना।

पारस्परिक विरोध रहने पर भी मानव-हित के लिए मानववाद को धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, भौतिकवादी, राजनीतिक आदि

---

1. Corliss Lamont : Humanism As A Philosophy, p 52
2. Ibid., p. 57
3. Ibid., p. 58
4. Ibid., p. 59
5. Cardner Wilhomy : Humanistic Ethics, p. 213
6. **Reuben Ahen · The Pragmatic Humanism of F C S Schiller, p 8**
7. Ibid. p 63

अनेक दर्शनों की प्रतियोगिता में आना पड़ा।[1] इसका यह महत्त्व मनुष्य-जीवन की शाश्वत समस्याओं और जीवन के प्रति एक स्पष्ट दृष्टिकोण की उपलब्धि के लिए किये जानेवाले प्रयत्नों के कारण हुआ। मानववाद सामूहिक सामंजस्य तथा एक सार्वभौमिक ध्येय की ओर अग्रसर करता है, जो उन्हें व्यष्टिगत संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर पारस्परिक सौहार्द्र के लिए प्रेरित करता है। उदार एवं सृजनात्मक शक्तियों के विकास के लिए मानववाद ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ जीवन-दर्शन कहा जा सकता है।

मानव अथवा मानव-जाति के कल्याण से मानववाद का गहरा सम्बन्ध है, इसलिए मानववाद के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का अवलोकन तथा अध्ययन नितान्त अनिवार्य है।

'मानववाद' शब्द का आरम्भ से ही विभिन्न लोगों ने पृथक् पृथक् अर्थ लिया है, और आज भी यह स्थिति वैसी ही बनी हुई है। उसके पाश्चात्य और भारतीय विचारकों में ये अर्थ प्रचलित रहे हैं—धार्मिकता का अभाव और मध्ययुगीन मनोवृत्ति का विरोध, इन्द्रियों अथवा इन्द्रिय-जन्य सुखों के महत्त्व की घोषणा, इहलोकवाद, बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद; साहित्य, दर्शन और धर्म से सम्बन्धित श्रेष्ठ ग्रन्थों के अध्ययन में अभिरुचि, मानव-जीवन और अनुभूति के महत्त्व में आस्था इत्यादि।[2]

प्रो० एडवर्ड पीटर चेने के अनुसार—"सोलहवीं शती के पश्चात् मानववाद से अभिप्राय उस दर्शन से रहा है जिसका केन्द्र और प्रमाण दोनों मनुष्य हैं।...."[3]

'वेबस्टर्स ट्वेन्टिएथ सेन्चरी डिक्शनरी' में मानववाद को एक विचार-पद्धति बताते हुए लिखा है—"मानववाद विचार अथवा क्रिया की ऐसी पद्धति का नाम है जो मनुष्य के हितों और आदर्शों में अभिरुचि लेती है।"[4]

---

1 S. Radhakrishnan & P.T. Raju (Eds.) : The Concept of Man, p. 28
2 Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. VII, p. 541
3. "....It may be a philosophy of which man is the centre and sanction...." —**Encyclopaedia of Social Sciences,** Vol. VII, p. 541
4. Humanism—Any system or way of thought or action concerned with the interests and ideals of people.
Webster s Twentieth Century Di   ry (2nd Ed) p 884

ऐसा ही विचार एक अन्य विश्वकोश में भी दिया गया है—"मानववाद विचार तथा जीवन की एक ऐसी पद्धति है जिसका मूल उद्देश्य मानव-जीवन की पूर्ण अनुभूति करना है।...."[1]

मानववाद को एक विशेष प्रकार का अध्ययन माना गया है, और उसे संस्कृति के विकास में सहायक कहा गया है—"सामान्य रूप में मानववाद शब्द का प्रयोग उस शिक्षा-पद्धति के लिए किया जाता है जो एक चहुँमुखी तथा विस्तृत संस्कृति के लिए प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन सर्वोत्तम मानती है।...."[2]

प्रो० कारलिस लेमांट मानव और भौतिकवाद को मानववाद का विशेष अंग मानते हैं और मानववाद को विश्व के लोगों मे पारस्परिक कल्याण-भाव का समझौता बताते हुए लिखते हैं—"मेरे विचार से मानव-जाति की सृजनात्मक शक्तियों को मुक्त करना और उनका संसार के विभिन्न लोगों में पारस्परिक सौहार्द्र-भाव को बनाए रखना वह जीवन-पद्धति है, जिसे 'मानववाद' का दर्शन कहा जा सकता है।"[3] यह कथन प्रो० लेमांट का मानववादी दर्शन के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण-मात्र है, जीवन-व्यवहार का एक स्वरूप है। वे बीसवीं सदी के मानवतावाद की परिभाषा करते हुए लिखते हैं : मैं बीसवीं सदी के मानववाद की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार कर सकता हूँ—"यह इस भौतिक संसार में तर्क और प्रजातन्त्र की पद्धति में समस्त मानवता के अधिकतम कल्याण के लिए भावयुक्त उल्लासपूर्ण सेवा का दर्शन

---

1 "Humanism is a way of thought and life which takes as its central concern the realisation of the fullest human career...."

—**Colliers Encyclopaedia, Vol. X,** p.244

2. "The word 'Humanism' is often used for that theory of education which claims that a study of the classics is the best means for a well rounded and broad culture."

—**The Encyclopaedia Americana.** Vol., XIV., p.488

3. "....In my Judgment the philosophy best calculated to liberate the creative energies of mankind and to serve as a common bond between the different people of the earth is that way of life known as Humanism

—**Corliss Lamont Humanism As a Philosophy** p 17

है।''[1] आगे इस विचार को स्पष्ट करते हुए वे इसे सुखी और उपयोगी जीवन से सम्बन्धित सामान्य नर-नारी के चिन्तन और व्यवहार की रीति बताते हैं।[2]

मानववाद की एक निश्चित परिभाषा अथवा तर्क-संगत व्याख्या बहुत कठिन है। इसका कारण बताते हुए अमरीका के प्रसिद्ध चिन्तक प्रो० राल्फ बार्टन पेरी कहते हैं कि इस शब्द का मानव-इतिहास के विभिन्न युगों, व्यक्तिगत मत-मतान्तर तथा सामाजिक संदर्भ में अनेक अर्थों में प्रयोग होने के कारण ही यह कठिनाई उपस्थित हुई है। यदि 'मानववाद' शब्द का विशेष अर्थ भी लिया जाए, तो इसे एक प्रवृत्ति अथवा एक प्रबल भावना के बहुमुखी अर्थ में ही ग्रहण किया जाएगा, जोकि मानव-स्वभाव की अस्पष्टता को प्रतिबिम्बित करती है। इस कथन का विश्लेषण करते हुए वे 'मानववाद' के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं—''मानववाद उन इच्छाओं, क्रियाओं तथा सिद्धियों को कहते हैं जिनसे सामान्य मनुष्य उत्कृष्ट स्वभाव ग्रहण करता है। मानवीय आदर्श न तो सामान्य मनुष्य हैं और न अलौकिक व्यक्तित्व हैं, संक्षेप में वे सामान्य मनुष्य की द्वैतावस्था और उसकी अनुभवातीतता की सम्भावनाएँ हैं।''[3]

प्रो० पेरी के अनुसार यह मनुष्य को प्रकृति से विलग किये बिना ही श्रेष्ठ बनाता है। इसका लक्ष्य मनुष्य को सम्मानित करनेवाली प्रतिभाओं और सिद्धियों के सम्बन्ध में विचार करना है। यह आवश्यक नहीं कि मानववाद को धर्म का अनुकल्प माना

1 To define twentieth century Humanism in the briefest possible manner, I would say that is a philosophy of Joyous service for the greater good of all humanity in this natural world and according to the methods of reason and democracy....."

—Corliss Lamont : Humanism As a Philosophy, p 18

2. Corliss Lamont : Humanism As a Philosophy, p.19

3 "Humanism is the name of those aspirations, activities and attainments through which natural man puts on supernature, the humanistic model is neither natural man nor a supernatural substitute; it is, precisely, duality of natural man and his possibilities of transcendence...."

Ralph Barton Perry The Humanity of Man, p 3

जाए। यह आस्तिक भावनायुक्त है, किन्तु ईश्वर की तुलना में मनुष्य को अनादृत नहीं करता और न ही केवल मनुष्य को श्रद्धा-योग्य बताकर ईश्वर के स्थान पर उसे प्रतिष्ठित करता है।[1] मनुष्य में अपने को गौरवान्वित करने की क्षमता होती है; वह उसे किसी अन्य की अनुकम्पा से नहीं मिलती। इतना कहना भी पर्याप्त नहीं है कि मनुष्य केवल एकमात्र मोक्ष का इच्छुक है। मनुष्य श्रेष्ठ गुणों से भी गौरवान्वित होता है, प्रेम और करुणा के श्रेष्ठ ईश्वरीय गुणों तथा भौतिक प्रकृति को आध्यात्मिक पूर्णता के साथ संयुक्त करके, मानववाद उन्हें सामान्य मनुष्य में प्रोद्भासित करता है।[2]

श्री अब्राहम, मानव और ईश्वर के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए कहते हैं, "मानववाद का सारतत्त्व सृजनशील मनुष्य को सृष्टि-रचयिता ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित करना भी हो सकता है।...."[3] अर्थात् मानववाद जागरूक और अत्यन्त क्रियाशील विचार है।

प्रसिद्ध मानववादी चिन्तक डॉ० अलबर्ट श्वाइत्ज़र मानववाद को नैतिकता, अहिंसा और आत्मिक एकता का समन्वित रूप मानते हैं। वे कहते हैं कि मानव-कल्याण के लिए ग्रहण की गई विचार-पद्धति, जो समानता की अनुभूति से पोषित होकर मानव-मात्र के लिए गहरी सहानुभूति रखती है, 'मानववाद' है।[4] इसका एकमात्र उद्देश्य विश्व-कल्याण है।

बीसवीं शताब्दी के प्रो० शिलर मानववाद को सत्य के निकट मानते हैं और इसे सत्य ही कहते हैं।[5] उनके अनुसार मनुष्य सब वस्तुओं का मापदण्ड है। कोई जीव-विज्ञान योग्यतम अस्तित्व-शेष के सिद्धान्त तक पहुँचता है अथवा तर्कसम्मत आस्तिक विचार द्वारा धर्म को ही मानववाद का मूल तत्त्व मानता है।[6] वे सत्य पर ही

---

1. Ralph Barton Perry : The Humanity of Man, p 21
2. Ibid., p.20
3. ".. .One may say that the essence of Humanism consists in the replacement of God the creator with man the creator....."
   —W.E. Abraham : The Mind of Africa, p 15
4. George Seaver : Albert Schweitzer, p. 276
5. Reuben Ahen : The Pragmatic Humanism of F C.S. Schiller, p 97
6. J.H. Muirhead (Ed.) · Contemporary British Philosophy, pp. 401-**404**

बल देते हैं और मानववाद को आध्यात्मिकता की उपेक्षा न करते हुए मानव को समझने की समस्या बताते हैं।[1]

प्रो० विलियम जेम्स ने भी मानववाद को सत्य के निकट मानते हुए इसे 'व्यवहारवाद' के रूप में प्रस्तुत किया है— "मानववाद एक ऐसा अनुभव है, जो सत्य सिद्ध होने के लिए, चाहे प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक हो अथवा विचारात्मक हो, तथ्य सम्मत होने पर बल देता है।"[2]

जाक मारितां के अनुसार, "मानववाद मनुष्य को सत्य रूप में मानव बनने के लिए तथा भौतिक संसार और इतिहास में अधिकाधिक समृद्ध बनाने के लिए, उसे सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त करने का प्रयत्न करता है....।"[3] सबके हित चिन्तन में प्रवृत्त रहना भी मानव-स्वभाव है, यही उसके गौरव को बढ़ाता है।

ज्यां पाल सार्त्र ने मानववाद को अस्तित्ववाद कहा है, जिसमें वह मानव-अस्तित्व पर बल देते हुए लिखते हैं, "" किसी भी दशा में अस्तित्ववाद शब्द से हमारा तात्पर्य उस सिद्धान्त से है, जो मानव-जीवन को सुलभ बनाता है। साथ ही जो इसकी भी पुष्टि करता है कि प्रत्येक सत्य और प्रत्येक कार्य मानव की आत्मनिष्ठा

---

1 Humanism is an attitude of the human spirit and as a method of solving the problem of human knowing, rather than as a meta physical doctrine about reality as such : but I cannot altogether deny that it has metaphysical implications and points to metaphysical consequences of considerable interests."

—J.H. Muirhead (Ed.) : Contemporary British Philosophy, pp 408

2 "A....an experience, perceptual or conceptual must conform to reality in order to be true.. ."

—William James : Pragmatism, p. 118

3 Humanism (and such a definition can itself be developed alone on very divergent lines) essentially tends to render man more truly human and to make his original greatness manifest by causing him to participate in all that can enrich him in nature and in history (by concentrating the world in man as Schiller has almost said, and by dictating men to the world)...."

—Jacques Maritain - True Humanism, p XII

से सम्बन्धित है....।"[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने मानववाद को अपने देशों के साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मापदण्डों में होनेवाले परिवर्तनों और जीवन के मूल्यांकन-सम्बन्धी भौतिकवाद के सन्दर्भ और पृष्ठभूमि की कसौटी पर कसकर देखा एवं परखा है। इसके विपरीत भारतीय चिन्तकों ने इसे अस्थिर जीवन-तथ्य माना है और मानववाद की आधारशिला मानव-जीवन के धार्मिक तथा आध्यात्मिक, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, अखण्ड और स्थायी मूल्याधारों को कसौटी बनाकर प्रस्थापित की है।

महात्मा गांधी मानव-प्रेम को ही सर्वश्रेष्ठ और इस जीवन का मूल तत्त्व मानते हैं—"मानव प्रेम....दैवी अथवा सार्वभौमिक प्रेम का प्रथम सोपान है।"[2] गांधीजी समाज-सुधारक अधिक थे और दार्शनिक कम, अतः उन्होंने जीवन के प्रत्यक्ष तथ्यों के अध्ययन पर सर्वाधिक बल दिया। इसीलिए उनकी विचारधारा में नैतिक दर्शन की प्रमुखता है।[3]

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने मानवता के आदर्श और समाज का महत्त्व बताते हुए, मानव-हित-चिन्तन के विषय में बड़े उदात्त भावों द्वारा मानवतावाद का स्वरूप चित्रित किया—"समाज में उच्चरित होनेवाली नाना ध्वनियाँ हमें ध्यान दिलाती हैं कि मानव-निहित अन्तिम सत्य बौद्धिकता अथवा अधिकार-भाव नहीं है। अन्तिम सत्य उसकी बुद्धि-दीप्ति, जाति और रंगभेद के समस्त बन्धनों से मुक्त सहानुभूति-विस्तार में है। वह इस संसार को शक्ति-भण्डार की मान्यता प्रदान करने में नहीं है, अपितु मानवतात्मा का आगार बनाकर शाश्वत माधुर्य की सुन्दरता और ईश्वरानुभूति की अन्तःज्योति

---

1. " ...In any case, we can begin by saying that existentialism, in our sense of the word, is a doctrine that does render human life possible; or a doctrine, also, which affirms that every truth and every action imply both an environment and a human subjectivity...."

   —**Jean Paul Sartre : Existentialism and Humanism,** p 24
2. **M K Gandhi · Women, p 80**
3. **M K.** **My Experiments with** Truth p 37

प्रज्वलित करने में है। यही जीवन का सत्य और मानवतावाद का व्यापक तथा शाश्वत भाव है।"[1] आगे रवीन्द्रनाथ ने अपने इस विचार को अधिक स्पष्ट करते हुए परम सत्य और जीवन में एकत्व, सार्वभौमिक एकता और औचित्य का वर्णन करते हुए मानवतावाद पर प्रकाश डाला है—"वह (ईश्वर अथवा परम सत्ता) एक है और मानव-जीवन की आवश्यकताओं को सदैव पूरा करता है। वह इस संसार का आदि और अन्त है, वह हमें सत्य में अनुस्यूत करे, भ्रातृ-भावना और कल्याण-मार्ग की ओर प्रेरित करे।"[2] यह भावना जीवन का आदि-सत्य है और श्रेष्ठता की प्रतिपादक है।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् इस शताब्दी के प्रमुख मानवतावादी विचारक और इस दर्शन एवं विचारधारा के वर्चस्वी व्याख्याता हैं। उनके शब्दों में—"मानववाद उन धर्म-रूपों के विरुद्ध एक न्यायसंगत विरोध है, जो धर्मनिरपेक्ष और धर्मापेक्षित को अलग करते हैं, काल और कालातीतता को विच्छिन्न करते हैं तथा आत्मा एवं शरीर के समंजस को खण्डित करते हैं। धर्म सब-कुछ है और कुछ भी नहीं है। धर्म की श्रेष्ठता इसमें है कि वह मानव-गौरव और मानव-व्यक्तित्व की रक्षा के लिए समुचित आदर-भाव रखे।...."[3]

भारतीय विद्वान् श्री पी०टी० राजू इन सब की व्याख्या में उपलब्ध सामान्य विशेषता और मूल तत्त्व पर बल देते हुए कहते हैं,

---

1 Rabindranath Tagore : Creative Unity. p. 27

2 "He who is one, and who dispenses the inherent needs of all people and all times who is the beginning and the end of all things, may He unite us with the bond of truth, of common fellowship, of righteousness."

—**Rabindranath Tagore : Religion of Man,** p. 237

3 "Humanism is a legitimate protest against those forms of religion which separate the secular and the sacred, divide time and eternity and break up the unity of **soul and flesh**. Religion is all or nothing. Every religion should have sufficient respect for the dignity of man and the rights of human personality..."

—**S Radhakrishnan · Recovery of Faith p 42**

"...सब प्रकार का भेद होते हुए भी सामान्यतः इन सब में मानव और उसके मूल्यों पर बल देने की प्रवृत्ति है। परिनिष्ठित धर्मों और दर्शनों की रक्षा के लिए आदर प्रदर्शित करते हुए अथवा मानव को मानव-मूल्यों के पुनर्निर्धारण के लिए प्रेरित करते हुए मानववाद पुनः अग्रदूत बनकर आया है। दर्शन मानव की उपेक्षा नहीं करता, उसे मानव को अपना मूल केन्द्र बनाना ही पड़ेगा।...."[1]

योगिराज श्री अरविन्द आध्यात्मिकता पर सर्वाधिक बल देते हैं। उनके शब्दों में—"....मानवता का अध्यात्म-धर्म ही मानव-भविष्य की आशा है। इससे हमारा अभिप्राय बौद्धिक मतवाद-विश्वासी विश्व-धर्म से नहीं है। कोई सार्वभौम धार्मिक पद्धति न होने से मानव-समाज को इस विश्वास द्वारा एकता में सफलता नहीं मिली। वास्तव में आन्तरिक तत्त्व एक ही है। इस सत्य की क्रमश अधिकाधिक अनुभूति हो रही है कि एक गूढ़ तत्त्व है, एक दिव्य सत्य है, जिसकी दृष्टि में हम सब एक हैं और जिस तत्त्व का पृथ्वी पर मानव-जाति ही सर्वोच्च प्रमाण है तथा मानव-जाति एव मानव-प्राणी ही वे साधन हैं, जिनके द्वारा वह इस संसार मे अभिव्यक्त होता है। इसके साथ-साथ इस बात की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेष्टा भी होगी कि उक्त तथ्य का लोगों को केवल ज्ञान ही न रहे, वरन् पृथ्वी पर उस दिव्य तत्त्व का साम्राज्य भी स्थापित हो। इस प्रकार अपने समकालीन लोगों के साथ एकत्व हमारे निखिल जीवन का प्रमुख सिद्धान्त बन जाएगा। इससे व्यक्ति को यह अनुभूति होगी कि उसके समकालीन लोगों के जीवन में ही उसका अपना जीवन पूर्ण होता है। मानव-जाति को यह अनुभूति होगी कि केवल व्यक्ति के पूर्ण और मुक्त जीवन के आधार पर ही उसकी पूर्णता और स्थायी सुख अवलम्बित हैं।"[2]

---

1. "....In spite of these differences, however, there is a common trend in all, the emphasis on man and his values. Whether as an apology for the classical religions and philosophies and their defence or as a reassertion of man and his values, humanism has come to the forefront again. Man cannot be ignored by any philosophy; he has to be retained at its centre...." —**S. Radhakrishnan & P.T. Raju (Eds.) : The Concept of Man,** p. 15
2. Aurobindo—The Idea of Human Unity p 378

समाजवादी दार्शनिक श्रीमती ऐलन राय तथा श्री शिवनारायण राय मानववाद को सामाजिक ढाँचे की धुरी, सृजनात्मकता का आधार मानते हुए अपना मत प्रकट करते हैं, "मानववाद में सक्रियता होती है, यह मनुष्य की सृजनात्मकता का दर्शन है, चिन्तन है।....."[1] "मानववाद हमारा जीवन-दर्शन है। इसका सम्बन्ध मानव तक ही सीमित है।....."[2] "....मानववाद की प्रेरणा स्वतन्त्र नर-नारियों के सार्वभौमिक समाज के विकास में सहयोग देना है—एक ऐसा समाज जिसमें व्यक्तिगत जीवन तथा आचरण एव सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं में सृजनात्मकता तथा आह्लादमय सहयोग का भाव हो।"[3]

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने मानववाद को अपने-अपने दृष्टिकोण से जैसा समझा, उसे प्रस्तुत किया। इन सब को समन्वित रूप में ग्रहण कर सर्वमान्य और व्यापक स्वरूप दिया जा सकता है।

शिक्षा और संस्कृति का विकास मानव-कल्याण के लिए आवश्यक अंग है।

प्रो० पेरी ने भी शिक्षा-सम्बन्धी तत्त्व पर अपनी परिभाषा मे प्रकाश डाला है। कोई भी ऐसा माध्यम, सम्बन्ध, स्थिति अथवा क्रिया जो मानवीय हो, जो उदार-भावमूलक हो, जो हमारे ज्ञान का विस्तार कर सके, हमारी विचारशक्ति को सन्तुलित और व्यापक बना सके, सहानुभूति जाग्रत कर सके, मानव-गौरव को प्रेरित कर सके और मानवोचित सौहार्द उत्पन्न कर सके तथा मानव की बहुमुखी उन्नति, बाह्य और आन्तरिक विकास, परिष्कार और हित में सहायक हो,[4] इसकी परिधि में आता है। इनके विचार से मानववाद मानव-जीवन और मानव-कल्याण का एक समन्वयात्मक रूप है जो विकृति को सुकृति में, दोष को गुण में परिवर्तित कर देता

---

1 "....Humanism implies action; it is a philosophy of man's creativeness...." —**Ellen Roy & S. Roy : In Man's Own Image,** p. 13

2 "....Humanism is the philosophy of life, of the life of man. Humanism only goes up to the extent that concerns mans's life ." —Ibid., p 24

3. Ibid., p. 7

4 Ralph Barton Perry The Humanity of Man p 55

है; वह मानव को मानवोचित गुणों से सम्पन्न करने का प्रयत्न करता है। वे भौतिक समृद्धि को आध्यात्मिक समृद्धि का साधन मानते हैं। प्रो० पेरी की परिभाषा पीटर चेने तथा विश्व-कोशों में दी गई परिभाषाओं से अधिक व्यापक, स्पष्ट और न्यायसंगत तो है ही, साथ ही मानववाद के स्वरूप को भी स्पष्ट करती है। वे मानव के बहुमुखी विकास, सिद्धियों, सन्तुलित जीवन और मानव को श्रेष्ठ बनानेवाले प्रेम, करुणा, सौहार्द्र एवं समानता के गुणों को भी मानववाद में बताकर उसकी अपूर्णता को दूर करते हैं।

प्रो० लेमांट ने सृजनात्मक स्वतन्त्रता और मानव-जीवन मे मैत्री-भावना को मानववाद में स्थान देकर इसका स्वरूप स्पष्ट करने में बहुत सहायता दी है।

डॉ० अलबर्ट श्वाइत्ज़र ने प्राणिमात्र की समानता को महत्त्व दिया है। इस समानता के लिए नैतिक गुणों का विकास और उनका पोषण अनिवार्य माना है। श्री अब्राहम का मत भी मानववाद मे अलौकिक अथवा दैवी विशेषताओं का संकेत करता है।

जर्मन दार्शनिक कांट ने व्यावहारिक बुद्धि की मुख्यता का निर्देश किया है। शिलर उसे मानते हुए श्रेय की धारणा को प्रधान तथा सत्य और यथार्थ की धारणाओं को गौण मानते हैं। शिलर के मानववाद में व्यावहारिक श्रेय को मूल तत्त्व कहा जा सकता हे। हमें व्यावहारिक जीवन की श्रेष्ठता द्वारा श्रेय का प्रसार मानव-कल्याण के लिए करना चाहिए।[1] फ्रेंच विचारक जाक मारितां आन्तरिक मानवीय गुणों का विकास करने पर बल देते हुए भौतिक जीवन के आनन्द को क्षुद्र मानते हैं और त्यागमय वीरोचित जीवन की कामना को मानववाद में आवश्यक बतलाते हैं। मानववाद में धर्म और ईश्वर के साथ-साथ नैतिक और सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति को अनिवार्य मानते हैं।[2] जाक मारितां, डॉ० श्वाइत्ज़र, प्रो० अब्राहम और प्रो० पेरी के मतों में (मानववाद के सम्बन्ध में) बहुत समानता है।

सार्त्र मानव-अस्तित्व को महत्त्व देते हुए पूर्ण व्यक्तित्व-

---

1 डॉ० देवराज · संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ० 15

2 Jacques Maritain True Humanism—p XIV

स्वातन्त्र्य को आवश्यक मानते हैं। उसके अस्तित्व का विकास ही उसका कल्याण है। स्वतन्त्रता का पक्ष कारलिस लेमांट भी लेते हे, परन्तु वह उसे भौतिकता से मुक्त नहीं मानते। सार्त्र के अस्तित्ववाद में भी वही अभाव है जो पीटर चेने में है; मानववाद का मानव-केन्द्रित होकर रह जाना इसकी व्यापकता को कम कर देता है।

पाश्चात्य विचारकों ने मानववाद का मूल भाव नैतिकता माना। वह नैतिकता जो ऐहिक जीवन, भौतिकवाद तथा सांसारिक सुख तक सीमित है तथा जॉन स्टुअर्ट मिल के मत को पुष्ट करती है; जो प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता का भौतिक दृष्टि से ही मूल्यांकन करती है,[1] उसमें आध्यात्मिकता अथवा पारलौकिकता का कोई स्थान नहीं है।

निष्कर्षत: मानववाद वह जीवन-दर्शन है जो लोक-मंगल की भावना का, भेद-भाव, पूर्वाग्रह, दुराग्रह से रहित औदार्य और त्याग का दिव्य सन्देश देता है तथा मानव के लोक-परलोक अन्त:बाह्य परिष्कार के द्वारा उसे मानवोचित गुणों से युक्त करके पूर्ण विकास की ओर अग्रसर करता है।

मानवतावाद तथा मानववाद

सार्वभौमिक कल्याण के लिए मानववाद व मानवतावाद दोनों विचारधाराएँ पल्लवित हुईं, परन्तु इनकी उपलब्धियों में अन्तर है। इसे कुछ आलोचकों ने इस प्रकार दिखाया है—

कारलिस लेमांट ने मानवतावाद के निम्नलिखित लक्षण और उसकी मान्यताएँ बताई हैं[2]—

1. मानवतावाद एक ऐसे नैसर्गिक विश्व-सृष्टिशास्त्र में विश्वास करता है जो प्रत्यक्ष जगत् को सत्य स्वीकार करता है। वह उस निरन्तर परिवर्तनशील घटनाक्रम को भी मानता है जो किसी अदृष्ट शक्ति से परिचालित नहीं है।
2. वैज्ञानिक तथ्यों के अनुसार मनुष्य एक विकसनशील प्राणी है और विशाल सृष्टि का एक अंश है जिसका मृत्यु के

1. Hector Hawton (Ed.) : Reason In Action, p. 133
2. Cor iss Lamont Human sm As a Plulosophy p 19

पश्चात् कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए मनुष्य का सम्बन्ध केवल इसी संसार से है, अन्य किसी काल्पनिक लोक से नहीं।

3. मानव में स्वाभाविक चिन्तन-शक्ति और बौद्धिकता है।
4. मनुष्य स्वयं अपनी समस्त समस्याओं को सुलझाने मे समर्थ है।
5. मनुष्यों में सृजनात्मक क्रिया की स्वतन्त्र शक्ति है और वही अपने भाग्य का विधाता है।
6. मानवतावाद एक ऐसे आचार अथवा नैतिक शास्त्र में विश्वास करता है जिस पर इस संसार के समस्त मानव-मूल्य आस्थित हैं। वह इस संसार में, राष्ट्र, जाति तथा धर्म का विचार किये बिना समस्त मानव-जाति की आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा भौतिक समृद्धि एवं स्वतन्त्रता और प्रगति के प्रति प्रबल निष्ठा रखता है।
7. मानव कला और सौन्दर्य-चेतना में विश्वास रखता है।
8. यह सार्वभौमिक समृद्धि, स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और शान्ति-स्थापना में विश्वास रखता है।

मानववाद और मानवतावाद दोनों ही विचारधाराएँ मानव-ल्याण की इच्छुक हैं; वे स्वतन्त्रता और समानता का प्रतिपादन रती हैं तथा एकता, एकसूत्रता, समन्वय, सामंजस्य और सन्तुलन ो भी स्वीकार करती हैं। इसलिए ये आशावादी तथा सद्भाव की सारिका हैं।

संसार में प्रकीर्ण विच्छिन्नता को दूर करना इनका समान साध्य । संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता द्वारा फैली बुराई, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसात्मक वृत्ति, घृणा तथा शोषण का विरोध भी ये करती हैं।

मनुष्यत्व का स्वरूप क्या है? बाह्यरूप से धर्म, आचार-रम्परा, वंश-वैशिष्ट्य, वर्ग-मनोवृत्ति का भेद होते हुए भी वास्तव मनुष्य सर्वत्र एक है। विश्वव्यापी संस्कृति की स्थापना करना ही मस्त मानव-जाति का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। इस कार दोनों ही विचारधाराएँ मानव को संकीर्णताओं से मुक्त करने 5 लिए वैचारिक क्रान्ति का समर्थन करती हैं।

इन कुछ ओ के होते हुए भी इनमे अन्तर है अत इस

दृष्टि से विचार करना भी आवश्यक है।

मानववाद की भावना आदिमानव से चली आ रही है क्योंकि इसका सम्बन्ध मानव के सहज-स्वाभाविक गुणों और विकास से है। इसका ऐतिहासिक आधार भी है; आदिमानव असभ्य और जंगली था, किन्तु उसमें अपने दल के लोगों तथा अपने पालतू पशुओं के प्रति स्नेह और ममता तथा दूसरों के प्रति घृणा और हिंसा थी। एक दल में हो जाने पर वे दूसरों को अपना मित्र समझते थे। इसके विपरीत मानववाद एक विशेष युग में मानव-कल्याण के लिए चलाया गया आन्दोलन है, जिसके लिए विशेष शिक्षा पर बल भी दिया गया, किन्तु मानवतावाद एक सामान्य कर्त्तव्य की भावना तथा सहज धर्म से सम्बद्ध है तो मानववाद मानव-कल्याण की एक विशिष्ट प्रणाली और विचारधारा है।

मानवतावाद में भावुकता एवं सहज आर्द्रता है, जबकि मानववाद में बुद्धि का प्राधान्य है क्योंकि मानवतावादी आदर्श प्रेम पर आस्थित होता है और मानववादी यथार्थ को मान्यता देता है।

मानवतावाद सामान्य मानव के लिए सामान्य कर्त्तव्य एवं धर्म है। इसमें साधारण व्यक्तियों के लिए सहज ग्राह्य साधारण बातें और नियम हैं, जोकि विधि-निषेध से युक्त हैं। मानववाद एक विशेष ज्ञान-पद्धति है जिसका सम्बन्ध प्रतिभाशालियों से है। बौद्धिकता और तार्किकता के कारण मानववाद, मानवतावाद की भाँति, व्यापक नहीं बन सका।

मानववाद के अनुसार मानव ही इस सृष्टि का केन्द्र और सृजनशील प्राणी है, जबकि मानवतावाद का विषय समस्त सृष्टि और प्राणि-मात्र है।

वास्तव में मानववाद भौतिकीवादी एवं नास्तिक भावनायुक्त ऐहिक समृद्धि का विचार-दर्शन है तथा मानवतावाद आत्मवादी एवं आस्तिक विचारधारा है। मानवतावाद में आन्तरिक कल्याण और आत्म-स्फीति के कारण यह अलौकिक कहे जानेवाले धर्म का ही लौकिकीकरण प्रतीत होता है। मानवतावाद का यह विश्वास है कि प्राकृतिक मानव स्वत:पूर्ण है, इसलिए मानवीय मूल्य हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसके लिए बाह्य आचरण के परिष्कार से काम नहीं चलता मानव को अन्त   द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध

करके और अपना सुधार कर प्राणि-मात्र के साथ अपना सम्बन्ध उत्तम बनाना चाहिए, क्योंकि विश्व के सब सम्बन्धों के मूल मे आत्मा ही है। मानववाद किसी आध्यात्मिक एवं अलौकिक शक्ति को स्वीकृत नहीं करता, क्योंकि वह तर्क और बुद्धि के आधार को ही मान्यता देता है। मानवतावाद की एक विशेषता है कि वह परम्परा, रूढ़ि, अन्धविश्वास, दृढ़वादिता, पूर्वाग्रह, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, बाह्याडम्बर तथा संकुचित विधि-निषेध का विरोधी है क्योंकि यह पक्षपातहीन भावना का सामंजस्यपूर्ण पोषण करता है।

मानवतावाद में समाज के आदर्श द्वारा कल्याण का भाव है तो मानववाद में व्यक्ति के नैतिक विकास द्वारा कल्याण की प्रेरणा है। वास्तव में मानववाद सामाजिक हित-चिन्तन से प्रभावित दर्शन है और यह इहलोक सम्बन्धी भौतिक द्वन्द्वात्मक जीवन-दर्शन है जिसमें अपना-अपना मंगल-साधन प्रमुख है।

भारतीय अध्यात्मवाद की झलक मानवतावाद में व्यक्ति-आदर्श, कल्याण और विकास द्वारा समष्टि-भावना में मिलती है। समष्टि-भाव आत्मिक साहचर्य, गहन नैकट्य की अनुभूति द्वारा पारस्परिक एकता को बढ़ाता है। उसमें आन्तरिक एकसूत्रता का भाव होने से स्थायित्व होता है।

मानवतावाद जीवन की साधारण आवश्यकताओं, सामान्य जीवन-मूल्यों को अधिक महत्त्व देता है, उनके व्यावहारिक स्वरूप का भी चिन्तन करता है; किन्तु मानववाद सैद्धान्तिक मूल्य, कारण-कार्य रूप को प्रमुख मानता है, उसका चिन्तन वैज्ञानिक पद्धति से निर्धारित प्रणाली पर चलता है। मानवतावाद में मानव की सहज-स्वाभाविक प्रवृत्तियों और भाव-तत्त्व की प्रमुखता होती है।

मानवतावाद को मानववाद की भाँति प्रजातान्त्रिक समवाद का पर्याय समझने की भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए। समानता का तत्त्व और भाव अनेक सामाजिक विचार-पद्धतियों में मिलता है। आधुनिक काल में इसने भारी मोड़ लिया—जीव-दया और कल्याण की विचारधारा समाजवाद की विचारधारा में आविर्भूत हुई।

हम निश्चित रूप से नहीं जान सकते कि सत्य क्या है, किन्तु जीवन निश्चित रूप से वस्तु है इसलिए हमें जीवन

कल्याण के लिए सचेत रहना चाहिए। मानवतावाद की मान्यता है कि यह संसार ही हमारा क्रिया-क्षेत्र है और मानवीयता की पूर्णता हमारा आदर्श है। इसके लिए नैतिक आधारों की दृढ़ता और विकास आवश्यक है। नैसर्गिक रूप से सभी बौद्धिक प्राणियों में कर्तव्य की भावना समान है। इस नैतिक उत्तरदायित्व के पालन से विश्व में एकता और निकटता बढ़ जाती है।

मानव-मूल्यों द्वारा मानवतावाद संसार का सुधार ही नहीं करना चाहता, उसे आदर्श भी बनाना चाहता है। यदि मानववादी व्यक्तित्व के विकास को ही जीवन का मुख्य ध्येय समझते हैं तो हमारे व्यक्तित्व को केवल शारीरिक समृद्धि, आर्थिक सम्वर्द्धन, मानसिक शिक्षा अथवा सम्वेदनशील अन्तःकारण तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। हममें जितना ऊँचा उठने की सम्भावनाएँ हैं, उतना ऊँचा हम तब तक नहीं उठ सकते जब तक आत्मा के गहरे स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण न करें। मानवतावाद एक नियन्त्रित अनुशासनमय जीवन चाहता है, वह समग्रता एवं समस्वरता पर बल देता है। मानवतावाद भौतिक आवेगों और कामनाओं के उद्दाम वेग को नियन्त्रित करने की नैतिक इच्छा का सार है। मानव-जीवन में नैतिक नियन्त्रण और प्रतिबन्ध शान्ति, सन्तोष, व्यवस्था और स्थायित्व के लिए होते हैं।

वैदिक साहित्य का प्रयोजन और मानववाद

'वेद' का अर्थ है विश्वात्म-ज्ञान।[1]

वेद-विद्या का लक्ष्य मानव-जीवन और विश्व-जीवन की रचना की व्याख्या करना है। इस प्रकार सृष्टि-विद्या ही वेदविद्या है। सृष्टि-विद्या अनन्त है। उसी प्रकार वेद-विद्या का भी कोई अन्त नहीं। तुच्छ से तुच्छ भूत के कार्यकलाप पर दृष्टिपात कीजिये, उसी में एक विश्व समाया हुआ है। अणु-परमाणु-विद्युदणु (इलैक्ट्रोन) के संघटन-विघटन के परीक्षण द्वारा पदार्थों व भूतों की जानकारी लेना आधुनिक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। किन्तु प्रत्येक भूत के

1. **विदन्ति जानन्ति"'सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदा**
(भूमिका पृ० 20)

भीतर विद्यमान अक्षर प्राण–तत्त्व का दर्शन करना—यह ऋषियों की पद्धति है। आचार्य यास्क के शब्दों में, "ऋषि वह है जिसने धर्म का साक्षात्कार अर्थात् स्वयं अनुभव किया हो।"[1] धर्म का अर्थ है 'धारणात्मक तत्त्व'[2]; कोई मत, सम्प्रदाय व पन्थ–धर्म नहीं। 'धर्म' उन नियमों की संज्ञा है जिनसे यह सृष्टि–प्रक्रिया गतिशील है। यह सहज प्रतीत होता है कि क्षण–क्षण परिवर्तनशील जगत् के मूल में कोई ध्रुव तत्त्व अवश्य है। यह प्रत्यक्ष दृश्यमान ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से, सम्पूर्ण भौतिक प्रपंच प्राणि–समूह से और फिर जड़–चेतनरूप उभयविध सृष्टि किसी परात्पर सूत्र से परस्पर आबद्ध है।[3] चर्म–चक्षुओं एवं तर्कादि से अगोचर इस '**सूत्रस्य सूत्रम्**' की सत्ता का अन्तः–प्रत्यक्ष द्वारा दर्शन प्राप्त किया है।[4] मनुष्य के सम्मुख सृष्टि का जो अनन्त विस्तार है, वह उसी सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी विश्वात्मा की कृति है। सृष्टिकर्ता परमात्मा की यह जड़–चेतन सृष्टि उसकी माया या छाया नहीं, अपितु उसके कुछ शाश्वत नियम सूक्ष्म और विराट् विश्व के अनन्त रूपों को एक सूत्र में ग्रथित किये हैं। विज्ञान बतलाता है कि कोटि–कोटि प्रकाश–वर्षों की दूरी पर स्थित नक्षत्रों में परमाणु के विकास व विलय के जो नियम कार्य कर रहे हैं, वे ही हमारी इस पृथ्वी पर भी हैं। दसों दिशाओं और सभी कालों में विश्व–प्रवाह की एक अखण्ड धारा बह रही है। अगणित परीक्षणों के उपरान्त भी इन नियमों की अस्खलित गति में किसी प्रकार का विपर्यय नहीं पाया जा सका। इन्हीं नियमों की ध्रुवता में दृढ़ विश्वास से ही आज वैज्ञानिक निःशंक होकर यहीं भूलोक पर बैठे–बैठे चन्द्रलोक व मंगल ग्रह की यात्रा की योजना तैयार कर देते

---

1. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। —(निरुक्त 1.20)
2. धारणाद् धर्मः।
3. यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
   सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥ —(अथर्व० 10.8 37)
4. (क) अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया।
   गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्॥ —(ऋग्० 8.72 3)
   ख) गुहा यत् अथर्व० 2 1)

हैं। इसका कारण विश्व का अखण्ड नियम है जो सर्वत्र फैला हुआ है। वैज्ञानिक इसे 'सुप्रीम लॉ' कहकर श्रद्धा से नत हैं। वैदिक भाषा मे यही 'ऋत' कहलाता है। जड़–चेतन सब में ऋत का एक तन्तु ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य, ग्रह-उपग्रह—ये सभी ऋतपथ के अनुयायी हैं। देवगण भी ऋत से बढ़नेवाले (**ऋतवृधाः**) कहे गए है। अग्नि-देव ऋत का रक्षक (**गोपामृतस्य**) ऋत से उत्पन्न हुआ (**ऋतप्रजातः**) और ऋत से घिरा हुआ (**ऋतप्रवीत**) है। वैदिक ऋषि कहता है कि "ऋत के फैले हुए तन्तु को देखने के लिए मै लोक-लोकान्तर घूम आया।"[1] द्युलोक और पृथ्वी, लोकान्तरों और दिशाओं में सर्वत्र मैंने ऋत के तन्तु को फैला हुआ देखा।[2] ऋत और सत्य उत्पन्न करने के लिए ईश्वर ने भी तप किया।[3] इस कल्पना मे अनुभव की सचाई निहित है। ऊपर प्रतिपादित ऋतविधान मे जगन्नियन्ता के सत्यसंकल्प का स्पष्ट प्रभाव है। सत्य और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। सृष्टि-प्रवाह में जो स्थान ऋत का है, मानव के नैतिक व्यवहार में वही स्थान सत्य का है। मनसा-वाचा कर्मणा समरूप होना ही सत्य है। इस सत्य के प्रासाद पर आरूढ़ होने के लिए व्रत की सीढ़ी की जरूरत है। व्रतविहीन जीवन उस नौका की भाँति है जिसके नाविक ने अपने गन्तव्य स्थान का निश्चय न किया हो। देव सदा सत्यमय बने रहते हैं, क्योंकि उनके व्रत नित्य हैं। जो जीवन में सत्य के व्रत को अपनाता है, उसी का जीवन दीक्षित है।[4] वेद बताता है कि सत्यवादी का प्राण उसे उत्तम लोक में धारण करता है।[5] अर्थात् सत्यवादी का जीवन ऊँचा उठता है।

---

1 **परि विश्वा भुवनान्यायम्**
ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्। —(अथर्व० 2.1 5)

2 **परि द्यावापृथिवी सद्यऽ इतवा**
परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥ —(यजु० 32.12)

3. **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्**
तपसोऽध्यजायत। —(ऋग्० 10.190 1)

4 **यः सत्यं वदति स दीक्षितः।** —(का० 7 3)

5 **प्राणो ह** **लोक आ दधत्** (अथर्व० 11 4 11)

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (10-90) में यज्ञमय परमात्मा से संसार की उत्पत्ति का वर्णन है कि सृष्टि का सृजन करते समय आदि-पुरुष ने अपनी निरन्तर आहुति देकर संसार की प्रत्येक चीज बनाई। ब्रह्माण्ड में निरन्तर एक यज्ञ हो रहा है। ब्रह्माण्ड में जो यज्ञ हो रहा है वह परोपकारार्थ है। अत: यज्ञ का सबसे प्रधान गुण त्याग है। इसके बिना यज्ञ के अन्य अंग सर्वथा पंगु हो जाते हैं। यज्ञ वह दिव्य संकल्प है जो पूर्ण शक्ति, पूर्ण रूप से दिव्य बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है। यज्ञ वह शक्ति है जिससे सत्य-चेतना क्रिया किया करती है। यज्ञ का भाव है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है, उसे वह ब्रह्मार्पण कर दे। भगवान् मनु का कथन है कि पंच-महायज्ञों व इतर यज्ञों के अनुष्ठान से मनुष्य अपने शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार-रूप बना लेता है।[1] शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त मार्मिक ढंग से अग्निहोत्र कर्म से सम्बद्ध विभिन्न वस्तुओं की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इसमें बताया गया है कि यज्ञ केवल भौतिक ही नहीं होता, अपितु उसका मर्म समझने के लिए या उसका उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिए उसे आध्यात्मिक दृष्टि से समझकर उसका आध्यात्मिक अनुष्ठान करना आवश्यक है। संदर्भ इस प्रकार है—'अग्निहोत्री गौ इस अग्निहोत्र की वाणी है। उसका बछड़ा इसका मन ही है। तो यह मन और वाणी समान-से होते हुए भी भिन्न हैं। अत: बछड़े और उसकी माता को एक-समान रस्सी से बाँधते हैं। तेज अर्थात् अग्नि ही अग्निहोत्र की श्रद्धा तथा इसका आज्य (घी) सत्य है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा—"निश्चय ही यहाँ तब (सृष्टि के आरम्भ में) कुछ भी नहीं था, फिर भी सत्य का श्रद्धा में हवन किया जाता था।"'[2]

वस्तुत: यज्ञ वैदिक जीवन का आधार है। यह वह है जिस पर ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, दर्शन, विज्ञान आदि अपना कृत्य पूरा करते हैं। यज्ञ उस आन्तरिक और बाह्य प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा यजमान यज्ञपुरुष के प्रति समर्पित हो जाता है।

---

1. **महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।** —(मनु० 2.28)
2. **शत० ब्रा०** 11 3 1 4

पूर्वोक्त समग्र विवेचन का अभिप्राय यह है कि समस्त वेद दर्शन के केन्द्रीभूत विषय हैं—आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, ऋत सत्य-व्रत-यज्ञ। जगत् के कारणभूत तीन मूल तत्त्वों का यथातथ्य उपदेश कर यज्ञमयी सृष्टि में निहित ऋत, सत्य एवं व्रतों का दर्शन ही वेद-दर्शन है। और वैदिक धर्म भी यही है—आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का सम्यक् विज्ञान प्राप्त कर 'ऋत' के अधीन सत्यशील और व्रत-परायण होकर यज्ञकर्मों को करते हुए पूर्ण वैभवशाली जीवन व्यतीत करना; उस सर्वान्तर्यामी परम सत्ता का अन्त:प्रत्यक्ष करना तथा सब भूतों में एक आत्मतत्व के दर्शन द्वारा समदृष्टि बनकर प्राणिमात्र का उपकार करना; अपनी, समाज की, राष्ट्र की तथा सारी मानवता की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति करना। वेद में धर्म-कर्म, विज्ञान, दर्शन एवं उपासना योग कोई पृथक् विषय नहीं हैं। वहाँ जीवन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन एक अविच्छिन्न इकाई है। वहाँ व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग कर एक ऐसी पूर्ण और सहज जीवन पद्धति के विकास करने पर बल दिया जाता है जिसमें भौतिक एवं मानसिक शक्तियों को व्यक्तित्व के सर्वांग सुन्दर विकास और समाज-निर्माण के मार्ग में सहयोगी बना लिया जाता है।

स्पष्ट है कि वेद के इस धर्म, दर्शन और जीवनमय पद्धति को किसी मत, सम्प्रदाय या पंथ के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। वह तो ऋत तत्त्व के पुजारी सत्यान्वेषी ऋषियों की सत्यानुभूति का फल है। वह देश-काल की सीमाओं में न बाँधा जानेवाला सार्वभौम सत्य है। संसार के विभिन्न मत-मतान्तरों की अनेक मान्यताएँ तर्क और विज्ञान की कसौटी पर असत्य सिद्ध होती हैं, किन्तु वैदिक धर्म और दर्शन इन कसौटियों पर खरा उतरता है। प्राणि-मात्र में आत्मतत्त्व के दर्शन करानेवाले इस उदात्त धर्म एवं इस विश्ववारा संस्कृति में किसी प्रकार के द्वेष, भेदभाव और अत्याचार की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वेद स्वयं कहता है कि आत्मदर्शी के लिए तो समस्त विश्व एक घोंसले की तरह बन जाता है—"**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।**" ज्ञान-कर्म-उपासना की जो त्रिवेणी इसमें प्रवाहित हुई है वह मनुष्यमात्र के लिए समान रूप से उपयोगी है।

वैदिक दर्शन कोरा **नहीं है और न ही**

वैदिक धर्म थोथा आदर्शवाद। इस दर्शन में विश्व मिथ्या या भ्रम अथवा ब्रह्म की माया या छाया नहीं है।[1] यह भी विश्वात्मा की तरह अनादि और अनन्त है। इसमें उत्पन्न होनेवाले जीवों की भी अपनी परमार्थिक सत्ता है।[2] यहाँ पर हर जीवन की सार्थकता है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त शरीर प्राणी के लाभ एवं उपयोग के लिए है। उसकी दी हुई अन्य भौतिक वस्तुएँ भी जीव के उपयोग के लिए हैं। उनमें हेयता या तुच्छता कैसी? अतः संसार को दुःखमय मानकर उससे डरकर भागने का उपदेश यहाँ नहीं मिलता। यहाँ तो हर ऋषि अपनी सब इन्द्रियों के उपयोग को रखते हुए पूरे सौ वर्ष व इससे भी अधिक ही जीना चाहता है। उसे जीवन के सब वैभव चाहिएँ—दुधारू गौएँ चाहिएँ, प्रजननशक्ति-सम्पन्न साँड चाहिएँ, तीव्रगामी बलवान् घोड़े चाहिएँ, उत्तम रथ चाहिएँ, अन्न चाहिए, धन चाहिए, स्वर्ण चाहिए, वीर पुत्र चाहिए।[3] अतः वेद मानव-जीवन की लोकयात्रा की सिद्धि का मार्ग भी प्रशस्त करता है। उसमें मनुष्योपयोगी सब ज्ञानों का मूल विद्यमान है—''गणित, ज्योतिष्

---

1 द्र०—अध्याय द्वितीय

2 द्र०—अध्याय द्वितीय

3 (क) **आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।**
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥
—(ऋग्० 6.28.1)

(ख) **शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।**
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥
—(यजु० 25.22)

अर्थात्—हे देवताओ! आपने सौ वर्ष के आसपास ही हमारे तनों का बुढ़ापा बनाया है। तब तक हमारे पुत्र भी पिता हो चुके होते हैं। हमारा जीवन इसी प्रकार चले। बीच में ही यह टूट न जावे।

(ग) **मा नो हेतिर्विवस्वतः आदित्याः कृत्रिमा शरुः।**
पुरा नु जरसो वधीत्। —(ऋग्० 8.67.20)

अर्थात्—हे आदित्यो! हमारा जीवन बुढ़ापे तक ठीक चले, कहीं उससे पहले ही काल की कटनी उसे काट न दे या और कोई अन्य अस्वाभाविक मार इसे मिटा न दे

आयुर्वेद, नौविमानादि विद्या, सृष्टि-विद्या, विविध प्रकार की कलाएँ, उद्योग-धन्धे, व्यापार, देशाटन, काव्यशैलियाँ, काव्यालंकार आदि कितने ही विषय वेद में समाविष्ट हैं।" स्वामी दयानन्द का कथन है कि वेद के चार विषय हैं—"विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। इनमें भी विज्ञान मुख्य है क्योंकि इसमें परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त सभी पदार्थों का साक्षात् ज्ञान है।" इस सृष्टि-वर्णन के संदर्भ में ही यज्ञविद्या, उदगीयविद्या, भूतविद्या, अक्षरविद्या आदि न जाने कितनी विद्याओं के संकेत वेदों में स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं। उन सब का स्वरूप और मर्म क्या है, यह आज भी वेद के विद्वानों के लिए चुनौती है। यह सब देख-जानकर स्वामी दयानन्द की यह धारणा हृदय में घर कर लेती है कि वेद सब सत्यविद्याओं की पुस्तक है। विज्ञान और दर्शन दोनों के मूलभूत सिद्धान्त वेद में प्रतिपादित हैं। वर्णाश्रम की पद्धति पर एक सुदृढ़ समाज व्यवस्था की नींव वैदिक महर्षियों की मानव-समाज को एक अमूल्य देन है। वेद ने मानवमात्र के कल्याण के लिए सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नीतिशास्त्र का विधान किया है। राजा और प्रजा के धर्म व पारस्परिक सम्बन्ध नियत कर मनु ने सुदृढ़ शासन-व्यवस्था की है। अतः भगवान् मनु के ये वचन सर्वांशतः सत्य हैं—

"सेनापतित्व, राज्यशासन, दण्डविधान, नेतृत्व तथा चक्रवर्ती राज्यशासन—इन सब के लिए वह योग्य होता है जो वेदशास्त्र को जानता हो। भूत, वर्तमान और भविष्यत् सब वेदों से सिद्ध होते हैं। सनातन वेदशास्त्र ही संसार के सब प्राणियों के लिए परम साधन है। वृद्धों, विद्वानों और साधारण मनुष्यों के लिए वेद ही सनातन चक्षु हैं। इसकी इयत्ता असीम है—दुर्विज्ञेय है।"[1] भगवान् व्यास का

1. **सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।**
   सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
   ....भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥
   ....बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्॥
   पितृ देव मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
   अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥

—(मनु० 12.100. 97. 99. 94)

मन्तव्य है कि इस लोक में समस्त आगमशास्त्र तथा सभी प्रवृत्तियाँ वेद को ही आधार बनाकर प्रवृत्त हुई हैं।[1] मुनि याज्ञवल्क्य का कथन है कि वेदशास्त्र के अतिरिक्त कोई अन्य शास्त्र नहीं है। सभी शास्त्र सनातन वेदशास्त्र से ही निःसृत हुए हैं।[2]

मनुर्भव

इस चराचर सृष्टि में मनुष्य ही 'कर्म-योनि' को ग्रहण करता है और चिन्तनशक्ति से युक्त होता है—"**मत्वा कर्माणि सीव्यति**" (निरुक्त)। अतः वेद-प्रतिपादित समस्त विज्ञान, कर्मकाण्ड और उपासना-मार्ग मनुष्य के लिए ही है। वही ब्रह्म-साक्षात्कार का अधिकारी भी है। अन्य प्राणि-समूह तो 'भोग-योनि' में जन्म लेने से स्वतन्त्र ज्ञान-क्रिया से रहित, भय-शोक आदि प्रवृत्तियों से विवश होकर विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। हर मानव जुलाहे की भाँति निरन्तर कर्म-तन्तुओं के बाने को बुनता रहता है। अतः वेद में कहा है—"जीव-जुलाहे अपने ज्ञान-प्रकाश के ताने को तानता हुआ तू द्युलोक तक अनुसरण करता जा। इस तरह कलाविदों एवं ज्ञानियों के बुद्धि-कौशल से बनाए गए ज्ञानरूपी प्रकाशमय तरीकों की तू रक्षा कर; इस ताने में भक्तों के व्यापक कर्मों को एकसार बुन, मननशील हो और दिव्यजन के जीवन को (इस दैव्य जनरूपी वस्त्र को) फैला अर्थात् बना।"[3]

हे जीव! तू हमेशा कुछ न कुछ बुनता रहता है। अपने भाग्य को, अपने भविष्य को, अपने जीवन को बुनता रहता है। जीवन इसके सिवाय और क्या है कि मनुष्य अपने ज्ञान (समझ) के अनुसार कुछ देर तक देखता है और फिर उसके अनुसार कर्म करता

---

1. **यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्च प्रवृत्तयः।**
   तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥ —(महाभा० अनु० 122 4)
2. **न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।**
   निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥ —(याज्ञवल्क्य)
3. **तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।**
   अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥
   —(ऋग्० 10.53 6)

जाता है। इस तरह जीव अपने ज्ञान के ताने में कर्म का बाना डालता हुआ निरन्तर अपने जीवन-पट को बनाया करता है। किन्तु हे जीव-जुलाहे! अब तू अपना यह मामूली रद्दी कपड़ा बुनना छोड़कर दिव्य जीवन का खद्दर बुन, 'दैव्यजन' को उत्पन्न कर। इसके लिए जीवन का खद्दर बुन; तुझे बड़ा सुन्दर और बड़ा लम्बा ताना करना पड़ेगा। तू अपने रज के, ज्योति के, ज्ञान-प्रकाश के चमकीले ताने को तनता हुआ भानु तक, द्युलोक तक चला जा। द्युलोक तक विस्तृत प्रकाशमान् ताना तन। दिव्य पट के लिए यह जरूरी है; ऐसे दिव्य वस्त्र बनाने की लुप्त हुई कला की रक्षा इसी तरह से हो सकती है। अतः इस उद्योग में पड़कर तू उन ज्ञान-प्रकाशमय प्रणालियों की रक्षा कर जिन्हें कलाविदों ने अपनी कुशल बुद्धि द्वारा बड़े यत्न से आविष्कृत किया था। दिव्य-जीवन बनाने में पड़कर उन दिव्य प्रकाशमान् मार्गों की रक्षा कर, जिन्हें इनके ज्ञानी यात्रियो ने चलाया था। अस्तु, ज्ञान के इस दिव्य ताने को तू फिर भक्तों के कर्म द्वारा बुन, इस ताने में भक्तिरस से भिगोया हुआ अपने व्यापक क्रम का बाना डालता जा। और ध्यान रख, तेरी बुनावट एकसार होवे, कभी ऊँचा-नीचा या गँठीला न होवे। सावधान रह कि सदा उस ज्ञान के अनुसार ही तेरा कर्म ठीक चले और वह कर्म सदा प्रभु-शक्ति से ही प्रेरित हो। इस सावधानी के लिए तुझे पूरा मननशील होना पड़ेगा, सतत विचार-तत्पर होना होगा। तभी यह दिव्य जीवन का सुन्दर पट तैयार हो सकेगा। अतः हे जुलाहे! तू अब दिव्य जीवन बुनने के लिए उठ और इस लुप्त होती जाती अमूल्य दिव्य कला की रक्षा कर।

परमेश्वर ने सब प्राणियों को उत्पन्न कर मानव-देह की रचना की। उसमें उसे अपनी सम्पूर्ण कारीगरी की परमावधि प्रतीत हुई। ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—"उन देवताओं के सामने गाय लाई गई। उन्होंने उसे देखकर कहा कि यह जैसी चाहिए वैसी नहीं है। पश्चात् उन देवताओं के सामने घोड़ा लाया गया। उन्होंने उसे देखकर कहा कि यह भी जैसा चाहिए वैसा नहीं है। पश्चात् उन देवताओं के सामने 'पुरुष' अर्थात् मानवी देह को लाया गया। इस मानवी देह को देवों ने देखा और कहा कि आहा! यह सुन्दर बना है। निश्चय ही मानव शरीर 'सुकृति' है अतः हे देवो! इसमें

प्रवेश करो और अपने योग्य निवास में जाकर रहो।''[1] आगे कहा गया कि मनुष्य-शरीर को अपने योग्य स्थान समझकर देवताओं ने उसमें प्रवेश किया तथा सानन्द रहने लगे। ''अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रविष्ट हुआ। वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हुआ। सूर्य आँख बनकर नेत्र में निवास करने लगा। दिशाएँ श्रोत्र बनकर कानों में जाकर रहने लगीं। ओषधि-वनस्पतियाँ बाल बनकर त्वचा में रहने लगीं। चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ। मृत्यु अपान बनकर नाभि में रहने लगा और जल वीर्य बनकर शिश्न में रहने लगा।[2] इस प्रकार यह पुरुष-शरीर देव-मन्दिर है। संहिताओं में भी परमात्मा के विश्वरूप देह में तैंतीस देवताओं के निवास के वर्णन[3] की भाँति ही उसके अंशभूत मानव-शरीर में भी उन्हीं देवताओं के पुत्ररूप देवों की सत्ता का भाव विद्यमान है। अथर्ववेद में कहा गया है, ''पहिले दस देवों से दस देव एक-साथ उत्पन्न हुए। उनको प्रत्यक्ष जो जान ले, वही अब ब्रह्म के विषय में

---

1 ताभ्यो गामानयत्, ता अब्रुवन्—
न वै नोऽयमलमिति।
ताभ्योऽश्वमानयत्, ता अब्रुवन्—
न वै नोऽयमलमिति।
ताभ्यः पुरुषमानयत्, ता अब्रुवन्—
सुकृतं बतेति
पुरुषो वाव सुकृतम्।
ता अब्रवीत्—
यथाऽऽयतनं प्रविशतेति॥ —(ऐत० उप० 1.2.2, 3)

2. अग्निर्वाग्भूत्वा मुखे प्राविशत्,
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्,
दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्
मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्
आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥ —(ऐत०उप० 1.2.4)

3 द्र० अथर्व० 10 7 12 13 27 33 34

प्रवचन कर सकता है। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाणी और मन—ये दस छोटे देव बड़े देवों के पुत्र हैं।''''ये दस पुत्र-देव, दस पिता-देवों से उत्पन्न हुए थे। पिता-देवों ने पुत्र-देवों को मानवी शरीर में स्थान दिया और वे पिता-देव भला कहाँ जाकर बसने लगे ?''''ये देव संसिच् नामक हैं। सब मर्त्य पदार्थों को अपने अमृतरस से सिंचित करके ये देव मनुष्य-शरीर में घुस गए।''''अस्थि की समिधा बनाई और रेतस् का घृत बनाया और रेतस् के साथ ये देव मानवी शरीर में घुस गए। इन देवताओं के साथ ब्रह्म ने शरीर में जीवभाव से प्रवेश किया। इसलिए ज्ञानीजन इस पुरुष को ब्रह्म ही मानते हैं। सब देवरूपी गौवें गोशाला में रहने के समान इस शरीररूपी शाला में रहती हैं।''[1] अथर्ववेद में अन्यत्र मानव-शरीर को नौ द्वारों वाली देवों की नगरी अयोध्या कहा गया है।[2] मानव-शरीर में देवताओं के प्रवेश की बात श्रीमद्भागवत में भी वर्णित है।[3]

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का एकमात्र साधन मानवी शरीर है। मानवी शरीर न मिला, क्षीण रहा अथवा काल की कटनी से अकाल में ही कट के रह गया तो कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इसलिए वेद में शरीर के संरक्षण, पोषण तथा दीर्घायु होने की बार-बार प्रार्थना की है।[4]

वेद में मनुष्य को 'अमृत-पुत्र' ही कह दिया है- -वह सूरि है, वर्चस्वी है, शुक्र है, भ्राजमान् है, आनन्दमय है—

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥
शुक्रोऽसि, भ्राजोऽसि, स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥

(अथर्व॰ 2.11.4, 5)

---

1. **दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।**
यो वै तान् विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत्॥ —(अथर्व॰ 11.8.3)
2. **अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।** —(अथर्व॰ 10.2.31)
3. श्रीमद्भागवत, 3.26-63.70
4. द्र. ऋग॰ 7.66 16 यजु॰ 36 24 अथर्व॰ 19 67 1 8 इत्यादि

अर्थात्—हे नर! तू तो विद्वान् है, शरीर-रक्षक है। अपने को पहचान। श्रेष्ठों तक पहुँच, बराबरवालों से आगे बढ़। हे नर! तू तो शुक्र है, तेजस्वी है, आनन्दमय है, ज्योतिष्मान् है। अपने को पहचान, श्रेष्ठों तक पहुँच, बराबरवालों से आगे बढ़।

किन्तु सुकृति का फल यह दिव्य मानव-देह यों ही व्यर्थ जाने के लिए नहीं है। उसे सांसारिक विषयों में उलझकर नहीं रह जाना है। अतः वेद उसका उद्‌बोधन करता है—

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था
मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ॥
उद्यानं ते पुरुष नावयानं
जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ॥ (अथर्व० 8.1.4, 6)

अर्थात्—हे नर! उन्नति कर, अवनत मत हो, मौत की बेड़ी को काट डाल। हे नर! देख, जीवन में तेरी उन्नति होनी चाहिए, अधोगति नहीं। तेरे अन्दर मैं जीवन और बल को फूँकता हूँ।

अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर मनुष्य वेद के शब्दों में सिंहनाद कर उठता है—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद् धनं, न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥
(ऋग्० 10.48.5)

अर्थात्—मैं इन्द्र (आत्मा) हूँ। मैं कभी भी हराया नहीं जा सकता। मेरा ऐश्वर्य कभी भी छीना नहीं जा सकता। प्रकृति के साथ मेरी लड़ाई ठनी है। प्रकृति मेरे ऐश्वर्य को छीनना चाहती है, पर मैं प्रकृति के साथ संघर्ष में सदा विजयी होता हूँ और जितना-जितना विजयी होता जाता हूँ, उतना-उतना मुझमें नया-नया ऐश्वर्य प्रकट होता जाता है। ऐसा क्यों न हो? मैं तो मौत को भी खा जानेवाला हूँ। सब दुनिया को खा जानेवाली मौत भी मेरे सामने नहीं ठहर सकती।

हे मनुष्यो! तुम कहाँ प्रकृति की मोहिनी मूर्ति के सामने ऐश्वर्यों के लिए गिड़गिड़ाते फिरते हो? यह माया तुम्हें धोखा ही दे सकती है, ऐश्वर्य नहीं दे सकती। इससे जो कुछ ऐश्वर्य मिलते तुम्हें दिखते हैं, वे सब वास्तव में मेरी शक्ति से ही मिलते हैं, इसलिए आओ मनुष्यो! तुम मुझसे ऐश्वर्य माँगो। मैं तुम्हें सब

कुछ दूँगा। पर एक शर्त है। सोम का सेवन करते हुए—यथार्थ कर्म करते हुए भी तुम मुझसे ऐश्वर्य माँगो। संसार में सच्चा सोम का रस आत्मज्ञान ही है। इस ज्ञान के निष्पादन करने में सहायक तुम्हारे जितने कर्म हैं वे सब सोम-सवन ही हैं। ये यथार्थ कर्म हैं। ये यज्ञकर्म तुम्हें अमर बनाते हैं। हे मनुष्यो! तुम मुझ आत्मा से मैत्री करो तो तुम विनाश से पार हो जाओगे। यह दावा है कि इस संसार में मेरे मित्र का कोई नाश नहीं कर सकता। आओ! मेरे पास आओ। मैं आत्मा तुम्हें अमर बना दूँगा।

हे नर-तन पानेवालो! सुनो! तुम्हारे ही आत्मा का यह सिंहनाद है। तुम्हारा आत्मा गरज रहा है, सुनो!![1]

वेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैदिक विद्वानों ने अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी हैं। इसका कारण उनकी विकासवाद में अन्ध भक्ति है जिसके अनुसार प्रारम्भिक मनुष्य जंगली थे तथा मानव ने भाषा, विज्ञान तथा आत्म-विज्ञान में उत्तरोत्तर उन्नति की है। ऐसे ही एक जर्मन विद्वान् ओल्डनबर्ग का विचार है कि "वेद में प्राचीन गडरियों के विस्मय व आशंका से भरे गीतों के अतिरिक्त रखा क्या है ? वेद केवल पुरुषरूप में कल्पित प्राकृतिक घटनाओं के प्रति की गई भद्दी पूजा है अथवा इसमें कर्मकाण्ड में बोले जानेवाले अर्ध-धार्मिक, अर्ध-जादूभरे स्तोत्र हैं, जिनको पढ़कर आदिकाल के अर्ध-श्रद्धालु पशु-प्राय मानव आशा करते थे कि इन मन्त्रों के प्रभाव से उन्हें सुवर्ण, अन्न और पशु मिलेंगे और वे रोगों, अनर्थों एवं राक्षसी प्रभावों से बच सकेंगे और इस ऐहलौकिक स्वर्ग के स्थूल आनन्द भोग सकेंगे। इन जंगली पुरोहितों के देवता भी जंगली ही थे, जिनका काम, जब चाहा, घोड़ों और रथों पर आसमान चीरते हुए थोड़ी-सी पुरोडाश, मक्खन, मांस के टुकड़े और एक प्याला सोम के लिए दौड़ते चले आने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। न वैदिक धर्म में आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए कोई दैवी स्तुति ही है। ऐसा लगता है कि जैसे उनका काम वैदिक कविता और स्वर्ग की कामना के अतिरिक्त कुछ नहीं था।"[2]

---

1 आ० अभयदेव - 'वैदिक विनय' भाग 2 पृ० 13

2 Religion des Berlin, 1894

विंटरनित्स लिखते हैं—"ऋग्वेद के सूक्तों में सपिंड्य और सगोत्र्य विवाह, स्त्री-अपहरण, व्यभिचार, भ्रूणहत्या तथा धोखा, चोरी और डकैती का भी उल्लेख है।" आधुनिक जातियों की वर्गीकरण-विद्या (Ethnology) सतयुगी पुरुषों का अस्तित्व आदि नहीं मानती; मानव-जाति की वर्गीकरण विद्या (Ethnology) का आधुनिक विद्वान् जानता है कि पहला मनुष्य अति असभ्य था। अति विभिन्न सांस्कृतिक अवस्थाओं की अनन्त सीढ़ियाँ चढ़कर उन्नति होते-होते अर्धसभ्य जातियाँ और सभ्य जातियाँ बनी हैं। किन्तु यह विकासवाद वेदों के आगे टिक नहीं सकता। विश्व-वाङ्मय में प्राचीनतम माने जानेवाले ग्रन्थ ऋग्वेद में एक परम सत्ता की स्पष्ट स्वीकृति, सृष्टि में विद्यमान एक अटूट नियम 'ऋत' का अन्वेषण, विश्वबन्धुत्व, उन्नत सामाजिक व्यवस्था इत्यादि तथ्यों से इस काल्पनिक विचार का निराकरण हो जाता है।

इसके विपरीत मैक्समूलर, केगी, पिशेल, गैलडनर आदि कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो कि वेद के उत्कर्ष और उत्तम काव्य के काफी प्रशंसक हैं, तथापि वे वेद को मात्र गाथाशास्त्र और कर्मकाण्डपरक पुस्तक मानते हैं तथा वेद के आध्यात्मिक एवं नैतिक महत्त्व की उपेक्षा करते हैं। उनकी यह भ्रान्ति वस्तुतः प्रसिद्ध वेदभाष्यकार आचार्य सायण के भाष्य से उत्पन्न हुई है। सायणभाष्य के अनुसार वैदिक शिक्षा का उपयोग ऐसे आचार-सम्बन्धी धर्माचरण में नहीं है जिसके नैतिक तथा आध्यात्मिक परिणाम होते हैं, किन्तु याज्ञिक क्रियाकलाप के यान्त्रिक तौर पर किये जाने में है जिसके भौतिक फल मिलते हैं। इसी कर्मकाण्ड के साँचे के अन्दर वह वेद की भाषा को ठोक-पीटकर ढालता है।

वेद-रहस्य को प्रकाशित करनेवाली एक किरण स्वामी दयानन्द के भाष्य में उदित हुई। स्वामी जी ने आचार्य यास्क के निरुक्त और ब्राह्मण-ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन तथा वेद की अन्तःसाक्षी से इस रहस्य को जान लिया कि वैदिक शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ है, रूढ़ नहीं। इस प्रकार स्वामी जी ने बहुदेववाद (Polytheism) तथा मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादित सर्वेश्वरवाद (Henotheism) का प्रबल खण्डन किया। वस्तुतः इन पाश्चात्य विद्वानों ने (Comparative Philology)

और तुलनात्मक गाथाशास्त्र (Comparative Mythology) आदि का जो बखेड़ा खड़ा कर रखा है, वह अभी अटकल-पच्चू ही है तथा उसके परिणाम परिवर्तनशील हैं। वैदिक मन्त्रों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ होते हैं। आधिभौतिक रूप मे भी वेद में इस भौतिक जगत् से सम्बद्ध विज्ञान का ही प्रकाश होता है, न कि लौकिक कथनकों का। ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों ही विषय वेद के प्रतिपाद्य हैं और तीनों का समन्वय मानव-जीवन में अपेक्षित है। वेद की ऋचाओं में इन्द्र, अग्नि द्वारा एक ही परम देवता परमात्मा के गीत गाए गए हैं। ये अनेक नाम इसी अभिप्राय और उद्देश्य से साभिप्राय प्रयुक्त किये गए हैं कि उस एक देव के भिन्न-भिन्न गुणों तथा शक्तियों का वर्णन करें।

'**शांति का शाश्वत मार्ग**' है—'वैदिक साहित्य में मानववाद', अतः वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में भी थोड़ा विचार कर लेना यहाँ अभीष्ट है। वैदिक साहित्य का मुख्य विकास ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—इन चार वेदों से सम्बन्धित संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के रूप में हुआ। इनके अतिरिक्त इन्हीं को समझने-समझाने में सहायक होनेवाले एवं इन संहिता आदि मूल ग्रन्थों में संकेतित अनेक प्रकार की विद्याओं व क्रमबद्ध अनुशासन एवं विस्तार आदि करनेवाले बहुसंख्यक लक्षण-शास्त्रों का पदपाठों, प्रातिशाख्यों, अनुक्रमणियों, अंगों, उपांगों और उपवेदों के रूप में धीरे-धीरे विकास हुआ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना यज्ञों के विधान और विवरण स्पष्ट रूप से देने के लिए हुई है। अतः विधि और अर्थवाद ही उनके स्वरूप के मुख्य अंग रहे। परन्तु उनके बनानेवाले ऋषि लोग याज्ञिक मात्र न थे, विचारक भी थे। वे विभिन्न याज्ञिक कर्मों के तात्त्विक और औपचारिक भावों की गवेषणा भी किया करते थे। यही यज्ञक्षेत्रीय ज्ञान-विज्ञान की चर्चाएँ 'आरण्यक' कहलानेवाले ग्रन्थों का मुख्य विषय हैं।

आरम्भ में ये आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों के साथ उनके अन्तिम भागों के रूप में जुड़े रहते थे। शुक्ल यजुर्वेदियों का ' बृहदारण्यक' अभी तक उनके शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अर्थात् 14वें काण्ड के रूप में ही पाया जाता है धीरे धीरे ऐसा लगने लगा

कि इन ग्रन्थों का विचारात्मक विषय ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकाण्ड-स्वरूप मुख्य विषय से ठीक मेल नहीं खाता। परिणामतः, इनका पृथक् ग्रन्थों के रूप में विकास होने लगा।

कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की दोनों ही धाराएँ बहुत पहले से समानान्तर होकर चलती आती थीं। इनमें से कर्मकाण्ड की धारा जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों के रूप में विवृद्ध हुई, वैसे ही ज्ञानकाण्ड की धारा भी उपनिषद्-ग्रन्थों के रूप में विस्तृत हुई। इसी कारण उपनिषद्-साहित्य को 'वेदान्त' अर्थात् 'वेदमत' भी कहा गया।

उपनिषदों में जहाँ सामान्यतः ऐहिक और आमुष्मिक, दोनों ही प्रकार के सुखों से उदासीन मोक्ष-मार्ग का उपदेश पाया जाता है, वहाँ मोक्षपद की प्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञादि-कर्मों के त्याग का नहीं, प्रत्युत उनसे प्राप्य फलों की आसक्ति के त्याग का ही प्रायः निर्देश किया है। कहीं-कहीं यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा भी की है। ईशोपनिषद् (मं० 2) में तो यहाँ तक कह दिया है कि कर्म-निरत रहते हुए भी मनुष्य मोक्ष-लाभ कर सकता है। अतः, यही कहते बनता है कि उपनिषदों में कर्म-सापेक्ष एवं कर्म-निरपेक्ष, दोनों ही प्रकार के मोक्ष-मार्ग के संकेत मिलते हैं।

वैदिक वाङ्मय के घटक-स्वरूप संहिता-ग्रन्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक-ग्रन्थ और उपनिषद्-ग्रन्थ, सभी मिलकर 'श्रुति' अर्थात् 'मूल वचन' कहे जाते हैं।

वेदांग—वैदिक ऋषि-कुलों में मुख्यतः वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का पठन-पाठन चलता था। उस अभ्यास-क्रम में दो बातें मुख्य होती थीं—उच्चारण, पाठ अथवा गान शुद्ध हो और पद-पदार्थ का ठीक बोध हो। साथ ही, व्यावहारिक दृष्टि से, शिष्यों को यह भी परिज्ञान कराना होता था कि वह यज्ञ-कर्म किस-किस समय और किस-किस प्रकार करना चाहिए तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तरों पर आचरण कैसा-कैसा होना चाहिए।

इन वेदांगीय ग्रन्थों द्वारा मुख्य रूप से छः विद्याओं का अभ्यास कराया जाता था। इन विद्याओं के नाम थे—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्। इन 'अंगों' अर्थात् 'विद्याओं' के

का इतिहास बहुत पुराना है। ——— (1 1 5) में

तो इन्हें यही छः नाम लेकर इसी क्रम से परिगणित किया ही है, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और अन्य उपनिषदों में और भी ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं, जिनसे इन विद्याओं का पर्याप्त व्यापक प्रचार सूचित होता है।

इसी स्रोत से प्रेरणा पाकर स्मृतियों और धर्मशास्त्रों एवं रामायण, महाभारत तथा पुराणों के विशाल साहित्य का विस्तार हुआ। इनकी ही मौलिक प्रेरणाओं के परिणामस्वरूप पूर्व- मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक सूत्रों की रचना हुई, जिनमें प्राचीन भारत का वैदिक तत्त्वज्ञान निहित है। ये ही प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय वेदों के छः उपांग कहलाते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थवेद, इन चार विद्याओं की और आगे विवृद्धि हुई और इन्हें उपवेदों का नाम दिया गया। इनके अतिरिक्त नीतिशास्त्र, अलंकारशास्त्र और वास्तुशास्त्र आदि विद्याएँ उत्तरोत्तर विकसित होती रहीं। प्राचीन भारत की अन्य सभी विद्याएँ भी मूलतः पूर्व-वर्णित वैदिक वाङ्मय पर ही आश्रित थीं।

अतः वैदिक साहित्य राशि को—युग-युगान्तर से बहती चली आ रही भारत की शाश्वत वाङ्मयी गंगा को—गंगोत्तरी कहना सर्वथा उचित होगा।[1]

कुछ लोगों की ऐसी मान्यता बन गई है कि ऋग्वेद में आध्यात्मिक रहस्य-विज्ञान का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है, यज्ञ का भी वहाँ गौण स्थान या अवान्तर सम्बन्ध है। यज्ञ-संस्था का पूर्ण विकास तो ब्राह्मणों में ही देखने को मिलता है। इन लोगों का विचार है कि वैदिक युग के उस प्रारम्भिक काल में मानव-मस्तिष्क का विकास यहाँ तक पहुँच पाया था कि बाह्य जगत् के अन्तर्गत जो कुछ हो रहा है, वह भिन्न-भिन्न देवताओं की महिमा का खेल है। इस भावना से कुछ आगे बढ़ने पर, धीरे-धीरे, यह भाव भी पैदा हो गया था कि ये सब देवता तीन मुख्य देवताओं के ही अवान्तर रूप हैं और वे तीन हैं—अग्नि, इन्द्र तथा आदित्य। तदुपरान्त, जब इन तीनों देवताओं की भी तात्त्विक एकता के आभास की ओर मानवी बुद्धि कुछ और आगे बढ़ी, और समय

---

1 आचार्य विश्वबन्धु विश्व ज्योति (भाग 2 पृ० 18 22

पाकर सर्वत्र व्यापक, तत्-सद्-एक-स्वरूप विश्वात्मा का कुछ-कुछ भान प्राप्त कर सकी, तब साहित्यिक विकास के इतिहास के दृष्टिकोण से उपनिषत्काल का सूत्रपात हो चुका था।

किन्तु बात यह नहीं है। वेद में भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपों से उस एक परम देव की ही विश्वरूपता को प्रकट करते हैं।[1] न केवल तथाकथित बाद के अंशों में, प्रत्युत सारे ही ऋग्वेद में हमें इस विचार की पुष्टि करनेवाले मन्त्र और वचन मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने वेद के एक पक्ष—कर्मकाण्ड—की परम्परा को ही पकड़ा तो दूसरी ओर उपनिषदों के रचयिता मननशील ऋषियों ने वेद को अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के प्रकाश में देखा और उसे अपनी ही भाषा में प्रस्तुत किया। उपनिषद्-धारा ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म के विरोध में नहीं है, अपितु उसके समानान्तर समान मूल स्रोत वेद के ही दूसरे पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य की धारा अति विस्तीर्ण है। उपनिषदों एवं स्मृतियों के उद्धरणों को प्रायः परवर्ती विकास मानकर मूल वैदिक भावना से पृथक् करने की प्रवृत्ति आज के आलोचकों में पाई जाती है। अतः हमने अपने इस ग्रन्थ में अधिकाधिक उदाहरण संहिताओं से लेने का प्रयत्न किया है। किन्तु कहीं-कहीं विषय की विशदता एवं स्पष्टता के विचार से वैदिक साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थों का भी उपयोग किया है। हमें समस्त वैदिक साहित्य में एक ही धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है।

1 द्र० अध्याय द्वितीय

दूसरा अध्याय

वैदिक दर्शन एवं मानववाद

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद[1] में, एक ऐसी उदात्त मानवतावादी दार्शनिक चिन्तनधारा का निदर्शन हमें प्राप्त होता है जो सर्वथा आध्यात्मिक होती हुई भी इस दृश्यमान जगत् के कार्यों एवं व्यवहारों की कथमपि उपेक्षा नहीं करती। आर्यावर्त ने अपने जीवन के अरुणिम प्रभात में ही पर्वतों की उपत्यकाओं तथा नदियों के संगमस्थलों[2] पर निर्मित तपोवनों में, सत्यानुभूति एवं सत्यान्वेषण में तत्पर तपःपूत ऋषियों-मुनियों के माध्यम से एक ऐसी विश्ववारा संस्कृति को जन्म दिया जो विश्व की अन्यान्य संस्कृतियों से सर्वथा विलक्षण रही। वैदिक दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कोरा दर्शन व बुद्धि-विलास न होकर मनुष्य के सांसारिक अभ्युदय और निःश्रेयस् का बहुत सुन्दरता से समन्वय उपस्थित करके मानव-जीवन की समस्याओं का व्यावहारिक समाधान भी प्रस्तुत करता है।

---

1 (क) "The Veda is the oldest book in existence, more ancient than the Homeric poems." —**Max Muller : History of Ancient Sanskrit Literature'**, p. 557

(ख) 'We may safely now call the Rigveda as the oldest book, not only of the Aryan humanity, but of the whole world."

—**Rev. Morris Philip : 'The Teaching of the Vedas', p. 231**

(ग) "The oldest book of the Aryan race"

B.G Tilak 'The Arctic home n the Vedas' p 465

वैदिक दर्शन का आधार 'ऋत' और 'सत्य'

वैदिक ऋषियों ने सृष्टि के रहस्यों को समझने की अटूट जिज्ञासा एवं तर्क-प्रतिष्ठा तथा अपनी अनुभूति के बल पर सृष्टि के मूल में विद्यमान शाश्वत एवं अटल विधान 'ऋत-तत्त्व' का अन्वेषण किया। उन्होंने देखा कि कुछ शाश्वत नियम सूक्ष्म और विराट् विश्व के अनन्त रूपों को एक सूत्र में ग्रथित किये हैं। विज्ञान बतलाता है कि कोटि-कोटि प्रकाश-वर्षों की दूरी पर स्थित नक्षत्रों में परमाणु के विकास व विलय के जो नियम कार्य कर रहे हैं, वे ही हमारी इस पृथ्वी पर भी हैं। दसों दिशाओं और सभी कालों में विश्व-प्रवाह की एक अखण्ड धारा बह रही है।

अगणित परीक्षणों के उपरान्त भी इन नियमों की अस्खलित गति में किसी प्रकार का विपर्यय नहीं पाया जा सका। इन नियमो की ध्रुवता में दृढ़ विश्वास से ही आज वैज्ञानिक निश्शंक होकर यहीं भूलोक पर बैठे-बैठे चन्द्रलोक व मंगल-ग्रह की यात्रा की योजना तैयार कर लेते हैं। इसका कारण विश्व का अखण्ड नियम है जो सर्वत्र फैला हुआ है। वैज्ञानिक इसे 'सुप्रीम लॉ' कहकर श्रद्धा से नत हैं। वैदिक भाषा में यही 'ऋत' कहलाता है। जड़-चेतन सब में 'ऋत' का एक तन्तु ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य, ग्रह-उपग्रह, सभी ऋत-पथ के अनुयायी हैं। देवगण भी ऋत से बढ़नेवाले (ऋतावृधाः) कहे गए हैं। अग्नि देव ऋत का रक्षक (गोपामृतस्य), ऋत से उत्पन्न हुआ (ऋतप्रजातः), ऋत से घिरा हुआ (ऋतप्रवीतः) है। वैदिक ऋषि कहता है कि 'ऋत' के फैले हुए तन्तु को देखने के लिए मैं लोक-लोकान्तर घूम आया।[1]

द्युलोक और पृथिवी, लोकान्तरों और दिशाओं में सर्वत्र मैंने ऋत के तन्तु को फैला हुआ देखा।[2] ऋग्वेद में भी कहा गया है कि

---

1. **परि विश्वा भुवनान्यायम्**
   ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्। —(अथर्व० 2.1.5)
2. **परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा**
   परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
   ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
   तदभवत् तदासीत् (यजु० 32.12)

'ऋत' और 'सत्य' उत्पन्न करने के लिए ईश्वर ने भी तप किया।[1] मन्त्र का भाव यह है—'सर्वनियन्ता परमेश्वर की अध्यक्षता में अटल नियम संसार में कार्य कर रहे हैं।' "प्राकृतिक जगत् के अन्दर कार्य करनेवाले अटल व्यापक नियमों को 'ऋत' और आध्यात्मिक जगत् के अन्दर काम करनेवाले नियमों को प्राय- 'सत्य' के नाम से बताया गया है।"[2] सृष्टि-प्रवाह में जो स्थान 'ऋत' का है, मानव के नैतिक व्यवहार में वही स्थान 'सत्य' का है। ऋत एवं सत्य तथा मानव--जीवन का गहरा सम्बन्ध है। "परमेश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, उनके अनुसार कोई भी अपने बुरे कार्यों के क़टु फल से बच नहीं सकता, चाहे वह कर्म कितना भी छिपकर किया गया हो। देवों और ज्ञानियों का महत्त्व इसी में है कि वे उन अटल नियमों का पूर्ण रीति से ज्ञान प्राप्त करते हुए सदा उनके अनुकूल अपने जीवन को बनाने का यत्न करते हैं। कभी वे उन अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं चलते। इन अटल नियमों का पालन करने से ही मनुष्य को सच्चा कल्याण प्राप्त हो सकता है। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है— "परमेश्वर के बनाए हुए अटल नियम के अनुसार चलनेवाले के लिए मार्ग सुगम और निष्कंटक हो जाता है।" इसी प्रकार वेद में सत्य की अद्भुत महिमा गाई गई है। ऋग्वेद में कहा गया है— "यह पृथ्वी सत्य के आश्रय से ही ठहरी हुई है।"[3] ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में कहा है—"विवेकशील पुरुष के सामने सत्य और असत्य वचन दोनों आते रहते हैं। उनमें से जो सत्य होता है वह उसकी रक्षा करता है और जो असत्य होता है उसका वह नाश कर देता है।"[4] अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में राष्ट्रों की उन्नति के लिए आवश्यक जिन बातों पर बल दिया गया है उनमें से सर्वप्रथम स्थान

---

1 ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्
तपसोऽध्यजायत। —(ऋग्० 10.190.1)

2 धर्मदेव विद्यावाचस्पति : 'वैदिक कर्तव्य-शास्त्र', सम्वत् 2009, पृ० 15

3 सत्येनोत्तभिता भूमिः। —(ऋग्० 10.85 1)

4. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं [illegible]ऽवति हन्त्यासत्॥ (ऋग्० 7 104 12)

'सत्य' का है।[1] उसी सूक्त में स्पष्ट कहा गया है--"पृथिवी का सुख-कल्याण सब सत्य पर निर्भर करता है।"[2]

इस प्रकार ऋत-तत्त्व में अटूट विश्वास तथा सत्य-संकल्प को लेकर ही वैदिक ऋषि मानव-कल्याण के लिए इस सृष्टि के रहस्य की गुत्थी को सुलझाने में प्रवृत्त हुआ, किन्तु वह अन्धभक्ति को लेकर नहीं चला। वह इस तथ्य से भलीभाँति परिचित था कि आपादरमणीय बाह्य स्वरूप की वजह से ही असत्य पदार्थ सत्य समझ लिये जाते हैं। यजुर्वेद के 40वें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है कि अनेक बार सत्य चमकीले स्वर्णमय पात्र से ढका होता है।[3] ऐसी अवस्थाओं का शिकार हमें न होना पड़े, इसलिए उक्त मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा गया है कि हे पोषक प्रभो! तू सत्यशील मेरे लिए सत्य के दर्शनार्थ उस चौंधानेवाले स्वर्णिम पात्र को हटा ले।[4] इस मन्त्र में यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को आपादरमणीय सत्य को ढकनेवाले ढकने को उतारकर सत्य की तह तक पहुँचना चाहिए। वैदिक ऋषियों ने तर्क को भी ऋषि माना था।[5] भगवान् मनु ने भी कहा है कि "जो व्यक्ति तर्क की सहायता से अन्वेषण करता है वही धर्म को जान सकता है, दूसरा नहीं।"[6] मनुष्य बुद्धिमान् हो और अपने हिताहित के परिज्ञानार्थ अपनी बुद्धि का प्रयोग करता रहे, इस बात पर वेद में बहुत बल दिया गया है। वेद के **'मेधा'** और **'सरस्वती'** सम्बन्धी सूक्तों में इसी बुद्धि और ज्ञान की ही प्रार्थना परमेश्वर से की गई है। गायत्री मन्त्र में, जिसका वैदिकधर्मियों में अत्यधिक महत्त्व है, बुद्धि की प्रार्थना की गई है।"

---

1. **सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।**
—(अथर्व०12.1.1)
2. **""सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।** —(अथर्व० 12.1.8)
3. **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।** (यजु० 40.17)
4. **तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।** —(यजु० काण्व शाखा 40.15)
5. (क) **तर्को वै ऋषिः।**
(ख) **मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्। को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूलहम्।**
—(निरुक्त 13.12)
6. **स धर्मं वेद नेतर** (मनु०12 106)

वैदिक दर्शन का केन्द्रभूत विचार

वैदिक दर्शन का मूलभूत विचार यह है—"प्रकृति है, परन्तु प्रकृति ही सब-कुछ नहीं; प्रकृति के पीछे आत्मतत्त्व है, वही तत्त्व जिसे कुछ लोग परमात्मा कहते हैं; शरीर है, परन्तु शरीर ही सब-कुछ नहीं; शरीर के पीछे आत्मतत्त्व है, वही तत्त्व जिसे कुछ लोग जीवात्मा कहते हैं।"[1] "यदि जड़ प्रकृति के ही रूपान्तर का नाम जीवन है तो मनुष्य और पशु में इतना ही भेद है जितना कुर्सी और मेज में। यदि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञान के लक्षणवाली कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती तो दुःखी-सुखी मनुष्यों के दुःख-निवारण और सुख-प्राप्ति की ऊहापोह भी व्यर्थ है।" "प्रकृति और शरीर का खेल संसार है; संसार है तो संसार को हमने भोगना है, वैसा ही अटल सत्य यह भी है कि संसार को हमने छोड़ना भी है। परमात्म-तत्त्व के सामने प्रकृति-तत्त्व कुछ तुच्छ है, जीवात्म-तत्त्व के सामने शरीर-तत्त्व तुच्छ है। जीवात्मा ने शरीर को साधन बनाकर परमात्म-तत्त्व की तरफ आगे बढ़ते जाना है; जहाँ पहुँच चुका है उसे छोड़कर जहाँ नहीं पहुँचा, वहाँ कदम बढ़ाना है।"[2]

"जब प्रत्येक व्यक्ति को संसार किसी न किसी दिन छोड़ना है, तब संसार में रमे रहना—इसी के भोगों में लिप्त रहना किसी का अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। सुख तो नास्तिक से नास्तिक भी चाहता है। संसार को भोगने में सुख है, परन्तु इन भोगों में लिप्त रहने में सुख नहीं। जीवन का वही मार्ग सुख देनेवाला है जिससे मनुष्य संसार को भोगता हुआ भी उसमें लिप्त न हो—'**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।**' जब अन्तिम सत्ता इसकी नहीं, उसकी है; विश्व की नहीं, विश्वात्मा की है, तब निर्लेप, निस्संग, निष्काम भाव से संसार में रहना—यही तो जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह जाता है। इस विचार में संसार को बिलकुल त्याग देने का, जंगल में भाग जाने का भाव नहीं है। वैदिक संस्कृति यथार्थवादी संस्कृति है। संसार जैसा कुछ दिखाई देता है, वह उसे वैसा मानती

1. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार : 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व', पृ० 20
2 वही पृ० 20

है। उसकी सत्ता को पूरी तरह से स्वीकार करती है। यह सब संसार हमारे भोगने के लिए रचा गया है। यह इसलिए नहीं रचा गया कि इसे देखकर हम आँखें मूँद लें, इससे भाग खड़े हों।... संसार को भोगो परन्तु त्यागपूर्वक; संसार में रहो परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर; इसमें रहते हुए भी इसमें न रहने के समान—पानी में कमल-पत्र की तरह, घी में पानी की बूँद की तरह। यह सब इसलिए, क्योंकि यथार्थवादी दृष्टि से जैसे संसार का होना सत्य है, वैसे ही यथार्थवादी दृष्टि से संसार का हमसे छूटना भी सत्य है। 'भोगना' और 'त्यागना'—इन दोनों सत्यों का सम्मिश्रण संसार की और किसी संस्कृति में नहीं है, सिर्फ वैदिक संस्कृति में है। अन्य संस्कृतियाँ इन दोनों में सिर्फ एक सत्य को ले भागी हैं। कोई त्यागवाद को ले बैठी है, कोई भोगवाद को; किसी ने प्रकृतिवाद को, भौतिकवाद को जन्म दिया है, किसी ने कोरे अध्यात्मवाद को। भोग और त्याग का समन्वय, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मेल सिर्फ वैदिक संस्कृति में पाया जाता है, और यही इस संस्कृति का आधारभूत मौलिक विचार है।''[1]

वेद में आत्मा/जीवात्मा के अस्तित्व की सिद्धि तथा स्वरूप

ऋग्वेद के एक मंत्र में ऋषि कहता है—''मैं नहीं जानता, क्या मैं यही हूँ? मैं तो प्रयत्न के लिए उद्यत होकर मनन-शक्ति द्वारा गति करता हूँ।''[2] क्या मैं यही हूँ—जो प्रत्यक्ष शरीररूप में दृष्टिगोचर होता हूँ? मंत्र का आशय यही है कि जड़रूप शरीर न तो प्रयत्नवान् (**सन्नद्धः**) है और न ही उसमें ज्ञानपूर्वक गति करने की क्षमता है। अतः यह 'मैं' नाम का तत्त्व इस जड़ शरीर से पृथक् ही कुछ होना चाहिए। अगले मंत्र में फिर कहा गया है कि ''स्वयं अमरणधर्मा यह (आत्मा) मरणधर्मा शरीर के साथ एकस्थानीय होकर अपनी इच्छा से (**स्वधया**) जकड़ा हुआ किसी वस्तु की

1. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—'वैदिक संस्कृति के मूल-तत्त्व', पृ० 20-21
2. **न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।**

(ऋग्० 1 164 37

ओर जाता और किसी वस्तु से परे हटता है।''[1] भाव यह है कि आत्मा में राग और द्वेष का भाव है जिसका प्रयोग वह स्वेच्छा से कर सकता है। ऋग्वेद के इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में आत्मा को 'अश्नः'[2] अर्थात् सुख-दुःख का भोक्ता कहा गया है। इसी सूक्त के एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि ''सात प्रकार का एक-साथ ज्ञान देनेवाली इन्द्रियों (दो कान, दो नासिकाएँ, दो नेत्र, एक मुख) का जिनमें से छः (कान, नासिकारन्ध्र और नेत्र) जोड़े हैं, एक ज्ञान साधन बनाकर प्रकट होनेवाले को (आत्मा) कहते हैं।[3] इस मंत्र के भाव को न्यायदर्शन में एक बहुत सुंदर दृष्टांत से समझाया गया है।[4] न्यायकार का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति एक पदार्थ को देखे तथा प्रथम दर्शन-काल में एक आँख दर्शन-शक्ति से रहित हो तथा दूसरी बार देखते समय दूसरी आँख विकृत हो तो एक आँख का देखा हुआ दूसरी आँख पहचानती है। इससे ऐसा लगता है कि इन भौतिक चक्षुओं से भिन्न किसी अन्य तत्त्व ने एक आँख का देखा हुआ सुरक्षित रखा था और अब दूसरी आँख द्वारा उसका स्मरण किया। अथर्ववेद में कहा है—''जो अपनी सत्ता-मात्र से कम्पन, पतन, ठहराव, प्राण लेना, न लेना, आँख झपकाना आदि चेष्टाएँ करता है, उसने सर्वेन्द्रिय प्रत्यय वाले पार्थिव शरीर को धारण किया है और उसमें उन प्रत्ययों की स्मृति होकर सब ज्ञान एक हो जाता है।''[5] उपर्युक्त वैदिक मंत्रों में शरीर के जो-जो चिह्न बताए गए हैं, वे सब जीवित शरीर में ही दृष्टिगोचर होते हैं, मृत में नहीं। किसी भौतिक यंत्र में ये सब क्रियाएँ देखी जा सकती हैं, किन्तु वह यंत्र अपनी इच्छा से अपनी क्रिया का स्वयं प्रवर्तन या निरोध नहीं कर सकता। इसके विपरीत शरीर स्वतंत्रतापूर्वक अपनी उक्त क्रियाओं

---

1. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
—(ऋग्० 1.164.38)
2. ऋग्० 1.164.1
3. साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
—(ऋग्० 1.164.15)
4. सव्यदृष्टस्येतराभिज्ञानात्। —(न्यायसूत्र)
5. यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत्।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव (अथर्व०10 8 11)

का निरोध कर लेता है, अर्थात् इन क्रियाओं की सत्ता आत्मा के बिना सम्भव नहीं, किन्तु आत्मा इनके बिना भी रहता है। वे सब आत्मा के लिंग हैं, धर्म नहीं। ऋग्वेद के इन मंत्रों में बतलाए गए आत्मा के इन लिंगों को न्यायदर्शनकार ने एक सूत्र में रख दिया है—

"सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-ज्ञानानि आत्मने लिङ्गम्"। (न्यायसूत्र) इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के मंत्र में वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, गति, इन्द्रियान्तर्विकार— इन लिंगों का वर्णन किया है।

आत्मतत्त्व के सूचक उपर्युक्त लिंगों के अतिरिक्त वेद ने स्पष्ट रूप से आत्मा को शरीर आदि से पृथक् भी घोषित कर दिया है। एक मंत्र में कहा गया है—"इस सुन्दर, वृद्ध हो जानेवाले दान-आदान-अदनशील (होतुः) शरीर का भर्ता (भ्राता) माध्यम स्थानीय भोगधर्मा (आत्मा) है।"[1] इस प्रकार आत्मा न शरीर है और न इंद्रिय है; मन भी एक इंद्रिय है, अतः मन भी आत्मा नहीं। आत्मा की नित्यता उपर्युक्त मंत्र (ऋग् 1.164.38) द्वारा सिद्ध है। वहाँ शरीर को भी शाश्वत कहा गया है, पर है वह मर्त्य। इसके विपरीत आत्मा शाश्वत भी है और अमर्त्य भी। आत्मा का परिमाण वेद ने अणुरूप बतलाया है—"आत्मा बाल से भी सूक्ष्म (अणु) है।"[2] परमात्मा विभु है तथा जीवात्मा अणु। कौन-सा शरीर किस आत्मा का है ? इसकी व्यवस्था आत्मा को विभु मानने से नहीं हो सकती, क्योंकि विभु वह है जो सर्वत्र हो। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा को हम मध्यम मान लेते हैं तो प्रत्येक शरीर के साथ इसका परिमाण भी पृथक् रहेगा और इस प्रकार आत्मा का अपना कोई परिमाण नहीं होगा। इस अवस्था में आत्मा जिस किसी शरीर में जाएगी उसी का परिमाण आत्मा का परिमाण बन जाएगा, अर्थात् आत्मा का परिमाण निरन्तर परिवर्तनशील बना रहेगा; किन्तु प्रत्येक परिवर्तनशील पदार्थ नश्वर होता है, जबकि आत्मा अमर है। अतः वेद ने उसे स्पष्ट रूप

1. **अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।**
—(ऋग्० 1.164.1)

2. **नैव दृश्यते** अथर्व० 10 8 25)

से 'अणु' कह दिया है। आत्मा का अपना रंग, रूप, आकार और लिंग नहीं है। इस तथ्य का प्रतिपादन अथर्ववेद में इस प्रकार किया गया है—"हे आत्मन्! तू स्त्री है। तू पुरुष है। तू कुमार है और तू ही कुमारी है। तू ही बूढ़ा होकर दण्ड का सहारा लेकर चलता है। तू ही भिन्न-भिन्न शरीर धारण करके नाना प्रकार का रूप धारण करता है, नाना प्रकार के शरीरों के अनुसार कार्य करता है।"[1]

वैदिक साहित्य में आत्मज्ञान पर बल

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के मनोरंजक संवाद में आत्मज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का सुंदर प्रतिपादन है। संवाद इस प्रकार है[2]—

मैत्रेयी— "प्रिय स्वामिन्! यदि समस्त संसार और उसकी सम्पदा मुझे मिल जाए तो क्या मुझे अमरत्व प्राप्त हो जाएगा?

याज्ञवल्क्य— नहीं, निश्चय ही नहीं। जैसा साधनसम्पन्न व्यक्तियों का जीवन व्यतीत हुआ करता है, वैसा ही तेरा जीवन व्यतीत होगा। परन्तु धन से मोक्ष की आशा नहीं हो सकती।

मैत्रेयी— हे नाथ! जिस धन से मैं अमर नहीं हो सकती उस धन का मैं क्या करूँगी? आप अमर होने के जो साधन जानते हों उन्हीं को मुझे बतलाइये।

याज्ञवल्क्य— तू वस्तुतः मेरी अत्यंत प्रिया है जो ऐसे प्रिय वचन

---

1 त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।
—(अथर्व० 10.8.27)

—इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥
—(केन उप० 1.2 5)

2 साऽहोवाच मैत्रेयी—यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति, नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति॥—(बृह० 2.4 2)

— सा होवाच मैत्रेयी—येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति (बृह० 2 4 3)

बोलती है। आ तेरे लिए मेरे इष्ट अमृतत्व की व्याख्या करता हूँ। तू मैं व्याख्या पर ध्यान दे।

— पति की कामना के लिए (पत्नी को) पति प्रिय नहीं होता, आत्मा की प्रसन्नता के लिए पति प्रिय होता है।

— पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए पत्नी प्रिय होती है।

— पुत्रों के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए पुत्र प्रिय होते हैं।

— धन के लिए धन प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए धन प्यारा होता है।

— ज्ञान के लिए ज्ञान प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए ज्ञान प्यारा होता है।

— शक्ति के लिए शक्ति प्रिय नहीं होती, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए शक्ति प्रिय होती है।

— लोकों के लिए लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए लोक प्रिय होते हैं।

— देवों के लिए विद्वान् प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए देव प्रिय होते हैं।

— स होवाच—न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।

— न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

— न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।

— न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।

— न वा अरे ब्राह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति इत्यादि (बृह० उप० 2 4 5)

— प्राणियों के लिए प्राणी प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए प्राणी प्रिय होते हैं।
— सब-कुछ की प्रसन्नता के लिए सब-कुछ प्रिय नहीं, किन्तु आत्मा की प्रसन्नता के लिए सब प्रिय होते हैं।
— जिस आत्मा के लिए यह सब प्रिय होता है, निस्संदेह वह आत्मा ही देखने और सुनने योग्य है, मनन करने योग्य और अंत में अनुभव करने योग्य है।''[1]

''निस्संदेह 'आत्मा' यह धुरी है जिसके चारों ओर मेरा पति, मेरी पत्नी, मेरा पिता, मेरे मित्र, मेरी सम्पत्ति, मेरा धन इत्यादि मनुष्य की दुनिया घूमा करती है। उन सब का अस्तित्व तभी तक होता है जब तक आत्मा का अस्तित्व रहता है। एक शब्द 'मेरा' और उसके बहुसंख्यक संसर्गों से वंचित हो जाने पर संसार शून्य हो जाता है। ज्यों ही 'मेरा' शब्द समाप्त होता है, त्यों ही इस 'मेरा' के चारों ओर बना हुआ विशाल भवन गिरकर अदृश्य हो जाता है।''[2]

''इस सम्वाद को यदि सरसरी दृष्टि से पढ़ा जाए तो इसमें स्वार्थपरता की गन्ध आती है। परन्तु यह अकाट्य दार्शनिक तथ्य है। इसमें निहित तत्त्व की अनुभूति पर ही संस्कृति की वास्तविक भावना आश्रित है। स्वार्थपरता में बड़ा कूड़ा-करकट भरा होता है। वह मनुष्य स्वार्थी होता है जो 'स्व' को भूलकर 'स्व' से भिन्न स्वार्थों के समुद्र में निमग्न रहता है। आत्मा और अनात्मा को पहचानने और अनात्मा को आत्मा के वशवर्ती बनाने पर ही उपर्युक्त सम्वाद में वर्णित अनासक्ति का सिद्धान्त अवलम्बित है। स्वार्थ के वशीभूत हुआ आत्मा पराजित होकर अनात्मा के पाश में बँध जाता है। स्वार्थपरता का अभिप्राय 'स्व' का आधिपत्य नहीं, अपितु उसका दासत्व होता है। स्वार्थी व्यक्ति अपने 'स्व' को 'स्व' से भिन्न का दास बना देता है। 'स्व' की अनुभूति प्राप्त कर लेनेवाला व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से ऊपर उठ जाता है।''[3]

---

1. **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**—(बृह० 2.4 5)
2. गंगाप्रसाद उपाध्याय वैदिक संस्कृति पृ० 45
3. गंगाप्रसाद वैदिक संस्कृति पृ० 46

आत्मा के सम्बन्ध में यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि "तू सबकी नाप और सबकी कसौटी है।"[1]

"आत्मा की नाप से ही हम अपनी सफलताओं और असफलताओं को नापा करते हैं। एकमात्र आत्मा से ही हमारे जीवन के समस्त हितों का निरूपण हुआ करता है। आत्मा ही बाह्य जगत् के साथ हमारे सम्बन्धों का निर्धारण किया करता है। जो व्यक्ति अपने जीवन के समस्त कार्यों में अपने आत्मा से मन्त्रणा करता है, वह कभी धोखा नहीं खाता। जो इससे भिन्न मार्ग का अनुसरण करता है उसके धोखा खाने में कोई सन्देह नहीं होता।"[2]

क्या आत्मा ही हमारा सर्वोपरि प्रमाण होना चाहिए? वैदिक साहित्य के एक दूसरे ग्रन्थ 'कठोपनिषद्'[3] में इस प्रश्न का बड़ा सुन्दर उत्तर दिया गया है—यह शरीर एक गाड़ी है। कोचवान बुद्धि है। मन लगाम, इन्द्रियाँ घोड़े हैं। संसार मार्ग है, जिस पर इन्द्रियों रूपी घोड़ों को चलाना होता है। रथ के स्वामी के लिए ही गाड़ी, घोड़े और लगाम प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता हुआ करती है। रथ का अच्छापन तभी तक है जब तक वह उसके स्वामी का हित करे। गाड़ी साधन होती है। गाड़ी इसलिए अच्छी नहीं कि वह दृढ़ और सुन्दर है, अपितु इसलिए अच्छी है कि उससे गाड़ी के स्वामी का हित होता है। कोई वस्तु उस सीमा तक अच्छी होती है जिस सीमा तक वह आत्मा के विकास में योग दे।

आत्मदर्शी व्यक्ति के लिए भेद की सब दीवारें ढह जाती हैं और वह सब प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व के दर्शन करता हुआ सबमें समभाव रखकर लोकोपकार में प्रवृत्त होता है। यजुर्वेद में कहा है—"जो तो सब प्राणियों को आत्मा में ही देखता है और सब प्राणियों में अपने आत्मा को देखता है, वह उस आत्मदर्शन के

---

1. **सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि।** —(यजु० 15.65)
2. गंगाप्रसाद उपाध्याय : 'वैदिक संस्कृति', पृ० 47
3. **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।**
   बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
   इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

   कठ उप० 3 3 4

पश्चात् आत्मा की सत्ता में सन्देह नहीं करता।''[1] ''जिस अवस्था-विशेष में ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में सब प्राणी अपने आत्मा के समान ही हो जाते हैं अर्थात् जब मनुष्य अपने आत्मा के समान सबके अन्दर समान रूप से आत्मा को जानकर सबके साथ प्रेम करने लगता है, उस समय सब प्राणियों में आत्म-दृष्टि से एकता का अनुभव करनेवाले ज्ञानी के लिए कोई मोह और शोक नहीं रह सकता।''[2] भाव यही है कि सब भूतों में व्यापक एक परमात्मा को माननेवाला और सब प्राणियों में अपने ही समान सुख-दुःख अनुभव करनेवाला आत्मा विद्यमान है—इस तथ्य को जाननेवाला व्यक्ति कभी किसी से घृणा नहीं करता और न ही कभी शोकग्रस्त या मोहग्रस्त होता है।

''आत्मा अमर है तथा आत्मज्ञानी पुरुष ही अमरता प्राप्त कर सकता है। यह आत्मज्ञान ही मनुष्य का परम लक्ष्य है किन्तु, साधारण व्यक्ति के मन में एक शंका उपस्थित होती है कि यदि आत्मा अमर ही है तो फिर अमरता प्राप्त करने के लिए इतना प्रयास क्यों? और इसके विपरीत, यदि आत्मा नश्वर है तो उस नश्वर स्वभाववाले आत्मा को मनुष्य अनश्वर कैसे बनाता है? इस शंका का समाधान यही है कि मनुष्य तब तक ही नाशवान् रहता है जब तक वह अपनी सत्ता शरीर-मात्र तक सीमित समझता है। आज का भौतिकवादी मानव अपने शरीर को ही सब-कुछ समझता है। शरीर की तुष्टि में वह कृतकृत्य होता है; परन्तु, क्योंकि उसका शरीर नष्ट हो जानेवाला होता है, अतः नश्वरता का भय उस पर सदा मँडराता रहता है। यही भूल है जिससे आत्मा को मुक्त करना होगा। जिस समय आत्मा मरणधर्मा शरीर से स्वयं को पृथक् कर लेता है, उस समय वह अमर हो जाता है।''[3]

ऊपर यजुर्वेद में प्रतिपादित समत्व-दृष्टि दुःख-निवृत्ति तथा

---

1. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ —(वा० यजु० 40 6)
2. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मेवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ —(वा० यजु० 40 7)
3 गंगाप्रसाद उपाध्याय - 'वैदिक संस्कृति' पृ० 49

मानव–कल्याण का मार्ग है। जहाँ आन्तरिक समता है, वहीं शान्ति है और जहाँ शान्ति है, वहाँ सुख है, जो कि प्राणि–मात्र का ध्येय, ज्ञेय और परम श्रेय है। जीव–मात्र को आत्मदृष्टि से देखता हुआ मनुष्य कभी अनैतिक व्यवहार नहीं करता। वह स्व–कल्याण के साथ पर–कल्याण का भी साधन बनता है।

वेद में ईश्वर–सिद्धि तथा ईश्वर का स्वरूप

जैसे शरीर में चेतनता देखकर उसमें किसी आत्मसत्ता का विचार उठता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड में एक नियामिका तथा व्यवस्थापिका शक्ति की प्रतीति एक विश्वात्मा की सत्ता को सिद्ध करती है। वह विश्व का आत्मा शरीरधारी जीव नहीं माना जा सकता, क्योंकि शरीरी अनेक हैं, सीमित शक्ति वाले हैं, सीमित ज्ञान वाले हैं तथा ये समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त नहीं हो सकते। अतः वेद ने आत्मा के संदर्भ में कहा है कि वह आत्मा इस दृश्यमान जगत् (**अवरेण**) से बड़ा है और उस परमात्मा (**परेण**) से छोटा है।[1]

सृष्टि के विकास को देखकर यह स्पष्ट अनुमान होता है कि इस विकास में अवश्य ही कोई अटल शाश्वत नियम निहित है। इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना बुद्धिपूर्वक हुई प्रतीत होती है। यह बुद्धि जड़ प्रकृति की होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किंच, यह कार्य किसी आत्मा अथवा समष्टि जीवों का भी नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक विभू–आत्मा, विश्व–आत्मा की सत्ता आवश्यक प्रतीत होती है। वेद में कहा है कि उस चतुष्पाद पुरुष का एक अंश ही इस संसार में प्रकट हुआ है। उससे जड़–चेतन विश्व–सृष्टि उत्पन्न हुई।''[2] इस मन्त्र में जगत् का निमित्त कारण पुरुष अर्थात् परमात्मा को माना गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि धारणकर्त्ता परमात्मा में आकाश और पृथ्वी पृथक्–पृथक् स्थित हैं। उसी सर्वाधार में प्राणवान् और निमेषशील आत्मवान् जगत् है।''[3] इस प्रकार वेद में

---

1. **अवः परेण पर एनावरेण।** —(ऋग्० 1.164.17–18)
2. **त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।**
   ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशनेअभि॥ —(यजु० 31.4)
3. **स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।**
   स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् [illegible] यत्॥ —(अथर्व० 10 8 2)

जड़-चेतन दोनों का आधार-स्तम्भ अर्थात् धारणकर्त्ता परमात्मा को ही माना है। वहाँ यह भी कहा गया है कि "सृष्टिकर्त्ता परमात्मा से सृष्टि के समय सूर्य उत्पन्न होता है तथा प्रलय के समय उसी में लीन हो जाता है।" इस प्रकार सृष्टि की प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों परमात्मा के ही अधीन हैं। इस तथ्य को वेदान्त दर्शन के— **'जन्माद्यस्य यतः'** (1.1.2) इस सूत्र में प्रतिपादित किया गया है। इसका भाव है कि ब्रह्म वह है जिससे इस जगत् का जन्म, धारण और विनाश होता है। जगत् की प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा उसके अधिष्ठाता किसी विश्वात्मा की सत्ता को स्वीकार करने की इस युक्ति को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Cosmological argument कहा गया है, किन्तु इस परमात्मा का दर्शन योगीजन अन्तःप्रत्यक्ष द्वारा ही करते हैं। अथर्ववेद में कहा है : योगी उसे देखता है जो हृदय गुहा में छिपा है।[1] ऋग्वेद में भी कहा है कि बुद्धि की पहुँच से दूर रहनेवाले रुद्र को लोग अपने अन्तःकरण में दर्शन करने की कामना करते हैं।[2] आत्मतत्त्व को स्वीकार करनेवाले दर्शन के साथ विश्वात्मदर्शन स्वयं जुड़ जाता है। भले ही लाप्लास को अपने तत्त्वशास्त्र की व्याख्या में परमात्मा की आवश्यकता अनुभव न हुई हो, किन्तु उस अवस्था में विश्व को कतिपय अनिश्चित प्रक्रियाओं का समूह-मात्र विचार करना होगा। किन्तु वेद में सृष्टि की अनायास उत्पत्ति के विचार को प्रश्रय नहीं दिया गया है। यदि सृष्टि की उत्पत्ति कोई आकस्मिक घटना होती, तब तो स्रष्टा के ज्ञानवान् होने की भी कोई आवश्यकता न होती। वेद में स्थान स्थान पर इस बात की स्थापना की गई है कि समस्त प्राणियों का नियामक ईश्वर है और उसी से समस्त उत्तम पदार्थों की उत्पत्ति होनी चाहिए। समस्त नियमों और सांसारिक घटनाओं का कारण ज्ञान-रूप परमेश्वर है। उसी परमेश्वर से रात्रि अर्थात् साम्य की उत्पत्ति होती है। उसी से प्रकृति में व्यापक हलचल उत्पन्न होकर साम्य भंग होता है और जगत् में विविधता की सृष्टि होती है। यदि संसार मे

1. **वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत्।** —(यजु० 32 8)
2. **अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया॥**
   गृभ्णन्ति जिह्वया ससम् (ऋग्० 8 72 3)

यह विविधता न होती तो संसार का कोई अर्थ न होता। इस मन्त्र मे स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि परमात्मा का स्वरूप नित्य होने से सृष्टि-क्रम भी नित्य है।

ईश्वर एक है

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है कि "एक सत्स्वरूप परमेश्वर को बुद्धिमान् ज्ञानी लोग अनेक प्रकार से—अनेक नामों से पुकारते हैं। उसी को वे अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, मित्र, वरुण, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् इत्यादि नामों से याद करते हैं।"[1] इस सम्बन्ध मे यदि लोग वेद में बहुदेवतावाद या सर्वेश्वरवाद (Henotheism) का प्रतिपादन करते हैं तो वह सरासर वैदिक भावना के विपरीत है, यह हम आगे वैदिक देवताओं के स्वरूप-निर्णय के प्रसंग में बतलाएँगे। यहाँ हमें केवल इतना कहना है कि न केवल तथाकथित बाद के मण्डलों में अपितु सम्पूर्ण ऋग्वेद में एकेश्वरवाद का प्रबल प्रतिपादन प्राप्त होता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में ही अग्नि को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट कहा है—"तू ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, रुद्र, पूषा, द्रविणोदा, सविता और भग है।"[2] स्पष्ट ही यहाँ ये सब नाम प्रधान रूप से अग्निपद-वाच्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर के हैं तथा उसके अनेक गुणो

---

1. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
   एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
   —(ऋग्० 1.164.46)

2. त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
   त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या॥
   त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
   त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः॥
   त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।
   त्वं वातैररुणैर्यासि शंगयस्त्वं पूषा विधतः पासि नु त्मना॥
   त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
   त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दमे यस्तेऽविधत्॥
   (ऋग्० 2 3 4 6 7)

को सूचित करते हैं। षष्ठ मण्डल के एक मन्त्र में कहा गया है कि "ऐ मनुष्य! जो परमेश्वर एक ही है, तू उसी की स्तुति कर। वह परमेश्वर सब मनुष्यों की भलीभाँति देखभाल करनेवाला है, वही सुखवर्षक ज्ञान और कर्मवाला सारे जगत् का स्वामी है।"[1]

इस प्रकार के असंख्य उदाहरण सम्पूर्ण ऋग्वेद से उद्धृत किये जा सकते हैं। अथर्ववेद में तो स्पष्ट ही कह दिया गया है कि परमेश्वर एक है और एक होकर सबको व्यापनेवाला है—"सर्वव्यापक है, वह एक ही है। उसे दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ व दसवाँ नहीं कहा जा सकता। वह एक है और एक ही है। एक होकर वह सर्वव्यापक और प्राणी अप्राणी सबको विशेष रूप से पूर्णतया देखनेवाला है।"[2] यजुर्वेद के मन्त्र में स्पष्टतया बताया गया है कि वह एक ब्रह्म, अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्रमा है। वही ब्रह्म, आपः और प्रजापति के नाम से पुकारा जाता है।[3] सामवेद के एक मन्त्र में बहुत सुन्दर ढंग से परमेश्वर के एकमात्र पूज्य होने का वर्णन है—"हे मनुष्यो! तुम सब सरल भाव और आत्मिक बल के साथ परमेश्वर की ओर—उसका भजन करने के लिए आओ जो समस्त मनुष्यों में एक ही अतिथि की तरह पूजनीय (अथवा अत्—सातत्यगमने सर्वव्यापक) है। वह सनातन है और नयों के अन्दर भी वह व्याप रहा है। ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि के सब मार्ग उसकी ओर जाते हैं। वह निश्चय से एक ही है।[4] इसी प्रकार—**ओंकार एवेदं**

1 य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥ —(ऋग्० 6.45.16)

2 न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न।
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृद् एक एव॥—(अथर्व० 13.4.16-20)

3 तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ —(यजु० 32.1)

4. समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनम् आजिगीषन्तं वर्तनीरनु वावृत एक इत्॥
(साम० 4 3 3 372)

सर्वम् (छां० उ० 2.23.3), गायत्री वा इदं सर्वम् (छां० 3.12.1), सर्व खल्विदं ब्रह्म (छां० 3.14.1), प्राणो वा इदं सर्वं भूतम् (छां० 3 15.4), अहमेव इदं सर्वम् (छां० 5.2.6), एतदात्म्यमिदं सर्वम् (छां० 6.9.4), स एव इदं सर्वम् (छां० 7.25.1), आत्मा वा इदं सर्वम् (छां० 7.25.2), स इदं सर्वं भवति (बृ० उ० 1.4.10), इदं सर्व यदयमात्मा (बृ० 2.4.6, 4.5.7), इदं अमृतं, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् (बृ० 2.5.1), एतत् ब्रह्म, एतत् सर्वम् (बृ० 5.3.1), ओमितीदं सर्वम् (तै०उ० 1.8.1), ब्रह्म खलु इदं वाव सर्वम् (मुण्डक 1), सूक्ष्मः पुरुषः सर्वम् (नारायण उ० 3), नारायण एव इदं सर्वम् (नारायण उ० 3) इत्यादि उपनिषदों के वचनों में ओंकार, गायत्री, प्राण, अहम्, सः, आत्मा, ब्रह्म, सत्य, सूक्ष्मपुरुषः, नारायणः आदि नामों में उसी एक अद्वितीय परमात्मा का वर्णन किया गया है।

ईश्वर सबका पिता, माता, सखा और बन्धु है

वेद में स्थान-स्थान पर ईश्वर को विश्व का पिता, माता, भ्राता, सखा, बन्धु एवं जनिता कहा गया है।[1]

---

1. त्वं पितासि नः। —(ऋग्० 1.31.10)
आध्रस्य चित् प्रमतिरुच्यसे पिता। —(ऋग्० 1.31.14)
आपिः पिता प्रमतिः""मर्त्यानाम्। —(ऋग्० 1 31.16)
अदितिर्माता स पिता स पुत्रः। —(ऋग्० 1.89.10; अथर्व० 7.6.1)
द्यौर्मे पिता जनिता। —(ऋग्० 1 164.33)
सखा पिता पितृतमः पितॄणां। —(ऋग्० 4.17.17)
हव्यवाडग्निरजरः पिता नः। —(ऋग्० 5.4.2)
पिता माता मधुवचाः सुहस्ताः। —(ऋग्० 5.43.2)
त्व त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन् मानुषाणाम्। —(ऋग्० 6.1.5)
न हि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन॥ —(ऋग्० 7-32-19; अथर्व० 20.82.2)
पिता च तन्नो महान् यजत्रः। —(ऋग्० 7.52.3)
त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। —(ऋग्० 8.98.11; अथर्व० 20.108.2)
विश्वस्य (ऋग्० 9 76 4

ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है

यहाँ उद्धृत किये गए मन्त्र (ऋग् 1.164.46) में ईश्वर को सत्स्वरूप कहा गया है। अथर्ववेद में ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—"पृथ्वी और आकाश के बीच और उसके बाहर जो कुछ होता है वह सब राजा वरुण जानता है। यही नही, उसके तो प्रत्येक प्राणी के निमेष और उन्मेष तक गिने हुए हैं। आत्मा के हत्यारे लोग इन नियमों को जुए का दाव बनाते हैं।" एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि आनन्द जिसका केवल स्वरूप है उस परब्रह्म को नमस्कार है।[1] ईश्वर, जीव और प्रकृति के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से प्रकट करनेवाले ऋग्वेद के 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि मन्त्र में ईश्वर को अभोक्ता कहा गया है।[2] यजुर्वेद में कहा गया है कि उस परमात्मा की कोई मूर्ति व आकार नहीं है अर्थात् वह सर्वथा निराकार है।[3], इसी प्रकार वेद में स्थान-स्थान पर ईश्वर को सर्वशक्तिमान्[4], सर्वाधार[5], सर्वरक्षक, निर्विकार[6], अनादि[7], अनन्त[8], अनुपम[9], नित्य[10],

---

पिता देवानां जनिता विभूवसुः। —(ऋग्० 9.86.10)
त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः पिता वचः। —(ऋग्० 10.64.10)
ऋषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। —(ऋग्० 10.81 1)
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥
—(यजु० 17.27; ऋग्० 10.82 3)
यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कमा"। —(ऋग्० 10.100 5)

---

1. स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। —(अथर्व० 10.8 1)
2. अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। —(ऋग्० 1.164.20)
3. न तस्य प्रतिमा अस्ति। —(यजु० 32 3)
4. अर्चा शक्राय शाकिने। —(ऋग्० 1.54 2)
5. स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्। —(ऋग्० 10.121 1)
6. अव्रणम्। —(यजु० 40 8)
7. जनुषा सनादसि। —(साम पू० 4.6 1)
8. अनन्तं विततं पुरुत्र। —(अथर्व० 10.8.12)
9. न त्वावाँ अन्य। (ऋग्० 7 32 23)
10. सनातनम् (अथर्व० 10 8 23)

पवित्र[1], न्यायकारी[2], दयालु[3], सृष्टिकर्ता[4], और सर्वान्तर्यामी[5] कहा गया है।

वैदिक ईश्वर का स्वरूप और मानव-कल्याण

वैदिक भावना के अनुसार ईश्वर निर्लेप शासक है। वह अखिल विश्व पर शासन करता है, परन्तु अपने लिए नहीं। सृष्टि के शासन में परमात्मा का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। उसका स्वार्थ शत-प्रतिशत अपनी प्रजा में होता है। परमात्मा की अनुभूति से आत्मा की नैतिक भावना प्रखर हो जाती है। मन में दुष्ट विचारों का जमाव तभी तक रहता है जब तक शरीर में अवस्थित परमात्मा आँखों से ओझल रहता है। संगठित समाज अपने सदस्यों के पारस्परिक सौहार्द्र और प्रेम के बल पर जीता है। जैसी हमारी सत्ता है, वैसी ही दूसरों की है—यह आध्यात्मिक भ्रातृभाव उनमें जागता है। परमात्मा उच्चतम चेतन सत्ता होती है, जो एक आत्मा को दूसरे के साथ संयुक्त करती है। यही आत्मिक भ्रातृत्व उच्च कोटि की संस्कृति का आधार होता है। "पिता! हम सब तेरे बालक हैं, अपने भाइयों को प्यार करना तुझे प्रसन्न करने का सर्वोत्तम मार्ग है।" "जो सब प्राणियों को परमात्मा में अवस्थित हुआ देखता है, वह सब दुःखों, क्लेशों और ममताओं से मुक्त रहता है, क्योंकि वह सबमें एकत्व देखता है।"

वैदिक आस्तिकवाद की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक आत्मा का परमात्मा के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। मेरे और मेरे परमात्मा के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं। जब परमात्मा मेरे हृदय में है तो वह अन्य किसी की अपेक्षा मेरे अधिक निकट है—"तू हमारा

---

1. **शुद्धम्।** —(ऋग्० 8.95.7)
   पवमानः। —(अथर्व० 10.8.40)
2. **सोऽर्यमा।** —(अथर्व० 13.4.4)
3. **दयसे वि वाजान्।** —(यजु० 33.18)
4. **य इदं विश्वं भुवनं जजान।** —(अथर्व० 13.3.15)
   य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। (ऋग्० 10 110 9)
5 **स ओत प्रोतश्च विभु प्रजासु** (यजु० 32 8)

है, हम तेरे हैं।"[1] वह दूर है, वह निकट है, वह हमारे भीतर है, वह हमारे बाहर है।[2] इसी कारण विशुद्ध वैदिक काल में परमात्मा के साथ किसी शिक्षक व गुरु की पूजा नहीं होती थी। स्वयं ऋषिजन उसी परमात्मा की उपासना करते थे। वे मात्र मार्गदर्शक होते थे, मध्यस्थ नहीं। जब शिक्षकों ने अपने को परमात्मा का प्रतिनिधि बताना शुरू कर दिया, तभी प्रजा उन्हें अवतार के रूप में पूजने लगी और इस प्रकार परिमित ज्ञान और शक्ति वाले मानवीय सम्राट् की समस्त दुर्बलताएँ परमात्मा के मत्थे थोपी जाने लगीं। इस प्रकार के अन्धविश्वासों से मानवता का बड़ा अपकार हुआ है। इन्हीं के कारण मनुष्य भिन्न-भिन्न गुरुओं के चेले बने और द्वेष एवं वैमनस्य की आग सुलगी। वे कहते हैं कि हमारा सम्बन्ध भिन्न-भिन्न वर्गों से है, क्योंकि हमारे गुरु भिन्न-भिन्न हैं। वे भूल जाते हैं कि परमात्मा एक है और इसलिए हम सब एक हैं।

वैदिक दर्शन के अनुसार ईश्वर को सबके माता और पिता माननेवाले लोग परस्पर एक-दूसरे को भाई-भाई समझने लगते हैं, और सबके सुख-दुःख को अपना समझकर सबके सुख को बढ़ाने और दुःख को कम करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। वैदिक परमात्मा नियन्ता है। वह स्वयं नियम या ऋत में बँधकर चलता है और सारे ब्रह्माण्ड को नियमों में चलाता है। प्रभु के इस गुण का चिन्तन करने से व्यक्ति भी नियम और नियन्त्रण में बँधकर चलनेवाले बनते हैं। परमात्मा के दयालु रूप का चिन्तन करके हम भी दूसरों पर दया और उपकार करनेवाले बन जाते हैं। परमात्मा के न्यायकारी गुण का चिन्तन करके मनुष्य भी न्याय का और इन्साफ का जीवन बिताने की प्रेरणा प्राप्त करता है। परमात्मा के सर्वज्ञता गुण का चिन्तन करके मनुष्य में भी अज्ञान और अन्धविश्वासों को त्यागकर ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करने की प्यास उत्पन्न होती है। इसी प्रकार परमात्मा के अन्यान्य रूपों और गुणों का निरन्तर चिन्तन-मनन करने से भक्त को जहाँ एक ओर जीवन का एक

---

1. **त्वमस्माकं तव स्मसि।** —(ऋग्० 8.92.32)
2. **तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।**
   सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत। (यजु० 40 5)

सबल आधार और उदात्त उद्देश्य मिलता है, वहाँ परमात्मा के उन गुणों को अपने अन्दर विकसित करके पूर्णता प्राप्त करने की प्रेरणा भी मिलती है। इस प्रकार वैदिक ईश्वर का स्वरूप मानव एवं मानवता के कल्याण-पथ को प्रशस्त करता है।

वैदिक देवता

वैदिक संहिताओं में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत् आदि अनेक देवताओं के अस्तित्व को देखकर अनेक आधुनिक विद्वानों की सम्मति में वेद में बहुदेवतावाद (**पॉलीथीज़्म**) है। 'वैदिक एज' नामक ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया गया है कि "ऋग्वेद का धर्म प्रधानतया मूल रूप में बहुदेवतावादी या अनेकेश्वरवादी है, जो अन्त के कुछ थोड़े-से सूक्तों में अद्वैतवाद का रंग पकड़ लेता है। तो भी आशातीत रूप से कुछ सूक्तों में गम्भीर दार्शनिक चर्चा छिड़ जाती है जो उस लम्बी यात्रा का स्मरण कराती है, जो प्रारम्भिक असभ्य अनेकेश्वरवाद से क्रमबद्ध तत्त्वज्ञान की ओर प्राकृतिक बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद की मंजिलों से गुजरते हुए की गई है।"[1]

इसके अतिरिक्त मैक्समूलर ने वेदों में **हीनोथीइज़्म** या उपास्य श्रेष्ठतावाद का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार प्रत्येक वैदिक कवि जब जिस भी देवता की स्तुति करने लगता है, तब उसी को सर्वोत्कृष्ट बताने और उसके अन्दर सर्वोत्कृष्टता के सब गुणों को समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है। अग्नि को सब मनुष्यों का बुद्धिमान् राजा, संसार का स्वामी और शासक, मनुष्यों का पिता, भाई, पुत्र और मित्र कहा गया है और दूसरे देवों की सब शक्तियाँ और नाम स्पष्टतया उसकी मानी गई हैं। इन्द्र को वेदों और ब्राह्मणों

---

1. 'It has been generally held that the Rigvedic religion is essentially polytheistic one, taking on a pantheistic colouring only in a few of its latest hymns. Yet a deeply abstract philosophizing crops up unexpectedly in some hymns as a reminder of the long journey made from primitive polytheism to systematic philosophy, through the stages of Naturalistic polytheism, monotheism and - - (**Vedic Age**, p 378)

में सबसे बलशाली माना गया है। सोम के विषय में कहा गया है कि वह महान्, सबका विजेता एवं संसार का स्वामी है। वही अग्नि, सूर्य, इन्द्र, विष्णु इत्यादि सबको पैदा करनेवाला है। उससे अगले ही वरुण देवता के सूक्त में ऋषि की दृष्टि में वरुण ही सबसे बड़ा और सर्वशक्तिमान् है। मैक्समूलर द्वारा वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में घड़े गए इस **हीनोथीइज्म** का सार यही बनता है कि वैदिक ऋषियों को जब जिस भी देवता से प्रयोजन होता था तब वे उसकी चापलूसी करने के निमित्त उसमें सब गुणों और उत्कृष्टताओं का आधान कर दिया करते थे।

किन्तु वेदों का अधिक सूक्ष्मता और गम्भीरता से अध्ययन मनन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों में बहुदेवतावाद और उपास्य श्रेष्ठतावाद की बात अधिक तर्कसंगत नहीं है। वैदिक संहिताओं में आए विभिन्न देवतावादी शब्द वस्तुतः उस एक परमेश्वर के ही भिन्न-भिन्न गुणों को सूचित करनेवाले नाम हैं। ये नाम परमेश्वर के अनेक गुणों का स्मरण कराते हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र का नाम भगवान् के परमैश्वर्य-सम्पन्न होने का, मित्र उसके सबका स्नेही मित्र होने का, वरुण सर्वोत्तम और अज्ञानान्धकार-निवारक होने का, अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप और सबका अग्रणी वा नेता होने का, यम सर्व--नियामक होने का, मातरिश्वा आकाश व जीवादि में अन्तर्यामी--रूप सर्वव्यापक होने का, सूर्य सर्व-प्रकाशक होने का, सुपर्ण अति उत्तम कर्म करने का, गरुत्मान् महान् सर्वव्यापी आत्मा होने का और दिव्य अत्यन्त अद्‌भुत दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव-सम्पन्न होने का स्मरण करता है।

"आचार्य यास्क ने देव शब्द की निरुक्ति दा, द्युत, दीप् और दिवु इन धातुओं से की है। इसके अनुसार ज्ञान, प्रकाश, शान्ति, आनन्द तथा सुख देनेवाली सब वस्तुओं को देव के नाम से कहा जा सकता है। यजुर्वेद में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्र इत्यादि को देव के नाम से पुकारा गया है। देव शब्द का प्रयोग सत्यविद्या का प्रकाश करनेवाले सत्यनिष्ठ विद्वानों के लिए भी होता है, क्योंकि वे ज्ञान का दान करते हैं और वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को दीपित (प्रकाशित) करते हैं।'**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युति - स्तुति मोदमद** इस धातु से जब देव शब्द

बनाया जाता है तो उसका प्रयोग जीतने की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों—विशेषत: वीर क्षत्रियों, परमेश्वर की स्तुति करनेवाले तथा पदार्थों का यथार्थ रूप से वर्णन करनेवाले विद्वानों (विशेषत: ऋत्विजों), ज्ञान देकर मनुष्यों को आनन्दित करनेवाले सच्चे ब्राह्मणों या प्रकाशक सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युदादि वस्तुओं और कहीं-कहीं सत्य व्यवहार करनेवाले वैश्यों के लिए भी हो जाता है। इसके स्पष्ट प्रमाण वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी पाए जाते हैं।''[1]

अत: स्वामी दयानन्द और योगिराज अरविन्द आदि भारतीय मनीषियों ने वेद में बहुदेवतावाद एवं उपास्य श्रेष्ठतावाद का प्रबल खण्डन किया है।[2] अनेक निष्पक्ष पाश्चात्य विद्वानों ने भी वैदिक दर्शन में एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन किया है।[3]

---

1. पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड : 'वेदों का यथार्थ स्वरूप', पृ० 137-138
2. "An interpretation of Veda must stand or fall by its central conception of the Vedic religion and the amount of support given to it by the intrinsic evidence of the veda itself. Here Dayananda's view is quite clear, its foundation inexpungable The Vedic hymns are chanted to the one Deity under many names, names which are used and even designed to express His qualities and powers. The Vedic *Rishis* ought surely to have known something about their own religion, more, let us hope, than Roth or MaxMuller and this is what they knew."

   —Shri Aurobindo : "Dayanand and The Veda", pp. 17-18
3. (a) "The Almighty, Infinite, Eternal, Incomprehensible, Self-existent Being, He who sees everything, though never seen, is *Brahma*—the One unknown True Being, The Creator, Preserver and Destroyer of the universe. Under such and innumerable other definitions is the Deity acknowledged in the Vedas."

   —(Charles Coleman : 'Mythology of the Hindu')

   (b) "It (Vedic religion) recognises but one God."

   —(W.D. Brown : 'Superiority of the Vedic Religion')

   (c) "It cannot be denied that the early Indians possessed a knowledge of the true God."

   —(Schlegel : 'Wisdom of the Ancient Indians')

   (d) "The Vedas Teach nothing but Monotheism."

   —(Furdun Dadachanju Philosophy of Zoroastrianism and Comparative Study of Religions)

क्या यह जगत् मिथ्या है ?

वैदिक दर्शन इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् को ब्रह्म की छाया या माया अथवा भ्रम नहीं मानता। इस दर्शन में तो प्रकृति भी विश्वात्मा और जीवात्मा की भाँति अनादि एवं अनन्त है। इसमें उत्पन्न होनेवाले जीवों की भी पारमार्थिक सत्ता है। ''जो दर्शन परमेश्वर को सब विश्व में सम्पूर्णतया ओतप्रोत और व्यापक मानते हैं, वे विश्व को दु:खदायी नहीं मान सकते। इसी तरह जो मानते हैं कि यह विश्व परमेश्वर का स्वरूप है, जैसा सोने के स्वरूप में आभूषण होता है, वे भी विश्व को दु:खदायी नहीं मान सकते। हमने इससे पूर्व बताया है कि ''एक ही ब्रह्म सत् है और ज्ञानी लोग उसी सत् को अग्नि, जल, सूर्य, वायु आदि कहते और वैसा वर्णन करते हैं।'' इस देववचन से यह सिद्ध है कि यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का ही रूप है। और ब्रह्म तो सच्चिदानन्दस्वरूप ही है, तो यह विश्व भी 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' स्वरूप है। अत: यह विश्व दु:खरूप या मिथ्या, केवल भ्रांति नहीं हो सकता।

''ईश्वर का बीज या वीर्य प्रकृति में आ गया और इससे सब विश्व उत्पन्न हुआ है। बलवान् पुरुष के वीर्य से बलवान् पुत्र होता है, अच्छे आम की गुठली से अच्छे आम का वृक्ष होता है। परमेश्वर सब प्रकार से शुभ गुणों की पराकाष्ठा है। इसलिए उसके वीर्य से बना हुआ यह विश्व उत्तम से उत्तम ही है। परमेश्वर का वीर्य रोग से दूषित है, ऐसा कोई नहीं कह सकता। इसलिए परमेश्वर का वीर्य निर्दोष है, ऐसा ही सब कहेंगे। फिर ऐसे उत्तम वीर्य से दु:खमय संसार कैसे हुआ ? ऐसा मानना ही असंभव है। जो ईश्वर को नहीं मानते, वे ही विश्व को दु:खदायी मानते हैं।'' ईश्वर के वीर्य से सृष्टि की उत्पत्ति माननेवाले कदापि सृष्टि को सदोष नहीं कह सकते। वैसे देखा जाए तो इस विश्व में दोष है ही नहीं। देखिए भगवान् श्रीकृष्ण क्या कहते हैं :

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
....अहं बीजप्रदः पिता। (भ० गी० 14.3, 4)

''प्रकृति के गर्भ में मैं अपना बीज रखता हूँ, उससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है। मैं बीज देनेवाला पिता हूँ।''

परमेश्वर सारे विश्व का बीज देनेवाला पिता है। परमेश्वर के बीज का विस्तार होकर यह सब विश्व बना है। अतः कहा है कि—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। (ऐ० ब्रा०)

'वह ब्रह्म पूर्ण है, यह विश्व भी पूर्ण ही है, क्योंकि पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण विश्व उत्पन्न हो सकता है।' पूर्ण परब्रह्म से अपूर्ण दुःखदायी पदार्थ कैसे उत्पन्न होगा? अतः विश्व को दुःखपूर्ण कहनेवाला बुद्ध मत सर्वथा अवैदिक, अनुभव-शून्य फलतः तत्काल त्याज्य है। इस सृष्टि में पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि पदार्थ हैं। ये स्वयं आकर किसी को कष्ट देते हैं ऐसा कदापि नहीं होता। नियमों के प्रतिकूल बरताव मनुष्य करता है, इसलिए मनुष्य दुःखी होता है। अतः वह मानव का दोष है, उस विश्व का दोष नहीं। जलेबी अधिक खाने से अजीर्ण हुआ तो वह जलेबी का दोष नहीं, परन्तु उसे खानेवाले का दोष है। यही अनुभव सर्वत्र है।

'बीज से वृक्ष होता है। आम के बीज से आम का वृक्ष हुआ है। जो शक्तियाँ बीज में गुप्त थीं, वे ही शक्तियाँ वृक्ष में प्रकट हुई है। बाहर से कुछ भी वहाँ आया नहीं है। बीज में शाखा, प्रशाखाएँ, पत्ते, फूल, फल आदि सब अंशरूप से था, वही वृक्ष में प्रकट हुआ है। इसलिए वृक्ष की सेवा करनी चाहिए और लाभ उठाना चाहिए। ऐसा न करता हुआ यदि उद्यान का स्वामी उस आम्र वृक्ष को दुःखदायी, नश्वर, कष्टदायी मानकर बीज को ही प्राप्त करने के लिए नीचे की भूमि खोदने लगेगा, तो वह आदमी पागल बना है— ऐसा ही सब सुज्ञ विद्वान् मानेंगे। इसका कारण यही है कि जो बीज में था वह तो बीज में गुप्त था, वही वृक्ष में प्रकट हुआ है, बीज तो अब रहा भी नहीं। बीज ही वृक्षाकार हुआ है इसलिए वृक्ष की सब प्रकार से सेवा करनी चाहिए। इसी से सब प्रकार का लाभ है। वृक्ष की सेवा न करते हुए जो बीज का ध्यान करेगा और वृक्ष को हीन, दीन, गौण समझकर दूर करेगा, उसे बीज तो मिलेगा नहीं, परन्तु वृक्ष भी उसकी उपेक्षा के कारण नष्ट हो जाएगा।'

''यही दृष्टि यहाँ लगाइए। परमेश्वर का बीज प्रकृति में रखा गया, जिसका यह संसार वृक्ष हुआ है। परमेश्वर के बीज में जो अनेकविध शक्तियाँ थीं वे सब शक्तियाँ यहाँ नाना पदार्थों के रूपों

से प्रकट हुई हैं। परमेश्वर की सम्पूर्ण शक्तियाँ आनन्द देनेवाली हैं, इस कारण विश्व के पदार्थ आनन्द देनेवाले ही हैं। यह विश्व दुःखमय है, यह विचार ही असत्य है। क्योंकि, ब्रह्मबीज में कोई ऐसा दोष नहीं कि जिस कारण यह सृष्टि दुःखदायिनी बन जाए। ब्रह्म में जो गुप्त शक्ति थी वही वहाँ प्रकट हुई है। इसलिए शुद्ध ब्रह्म की अपेक्षा विश्व ही अधिक लाभदायक है। जिस तरह बीज की अपेक्षा से वृक्ष लाभदायक है, वैसा ही ब्रह्म की अपेक्षा से विश्वसृष्टि अधिक लाभदायिनी और अधिक सहायिका है। बुद्ध मत से भ्रान्त हुए मनुष्य अज्ञान से वेष्टित हो जाने के कारण इस विश्व को तुच्छ और गौण मानते हैं और अप्राप्य ब्रह्म के पीछे पड़ते हैं। परमेश्वर स्वयं अतुल दया से विश्वरूप बना है, इसलिए कि उस विश्व के लोग अपना अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर आनन्द-प्रसन्न बनें। यह ईश्वर की दया है।

"इसलिए यह सब विश्व-सृष्टि या जगत भ्रम नहीं है, मिथ्या नहीं है, मनःकल्पित नहीं है, मृग-जलवत् आभास-मात्र नहीं है, परन्तु सुवर्ण के आभूषणों के समान वह ब्रह्म का ही प्रत्यक्ष रूप है। ब्रह्म का स्वभाव ही विश्वाकार होकर विराजना है। अपने अन्दर की गुप्त शक्तियाँ विकसित करना—यह ब्रह्म का स्वभाव ही है। उसका स्वभाव होने के कारण उससे वह स्वभाव दूर नहीं हो सकता। परम कारुणिक परमात्मा ने इस विश्व में भरपूर आनन्द फैलाने के लिए विश्वरूप में स्वयं आत्मार्पण किया है। यही परमेश्वर का सर्वमेध यज्ञ है। विश्व की निर्मात्री यह परमात्मा की अपार दया है, वह उसका अपार आनन्द है। जैसा परमात्मा ने यह आत्मयज्ञ किया है, वैसा ही विश्व-कल्याण का कार्य बढ़ाने के लिए, विश्व-सेवा के लिए अपने-आप को समर्पित करना चाहिए, यह मानव की उन्नति का मार्ग है।"[1]

ऋग्वेद में प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर सम्बन्ध को एक मनोहर दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। वहाँ कहा गया है कि नित्य प्रकृतिरूपी वृक्ष पर आत्मा और परमात्मा नामक दो पक्षी बैठे हैं जो नित्यता की दृष्टि से समान परस्पर मित्र हैं, इनमें से एक

1 सातवलेकर - 'क्या यह सम्पूर्ण विश्व मिथ्या है?' पृ० 3 13 15

जीव तो अपने कर्मानुसार मधुर या कटु फलों का भोग करता है और दूसरा अर्थात् परमात्मा भोग न करता हुआ केवल साक्षी बनकर उसे देखता रहता है।[1]

वैदिक कर्म-सिद्धान्त

उपर्युक्त "**द्वा सुपर्णा**" इत्यादि मन्त्र में आत्मा के कर्मानुसार फल भोगने का भी स्पष्ट विधान है। सारे जीव इस जगत् में पाप व पुण्य कार्य को करके उनके फलों को भोगते हैं और ईश्वर एक न्यायाधीश के समान न्यायपूर्वक पाप-पुण्यों को देखता हुआ तदनुरूप कटु या मधुर फल प्रदान करता है। वैदिक दर्शन के अनुसार मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।[2] वेद में कहा है कि मनुष्य जैसा पकाता है वह पकानेवाले को वैसा ही प्राप्त होता है।[3] अर्थात् मनुष्य जैसा करता है वैसा भरता है। अथर्ववेद में यह प्रतिपादित किया गया है कि जीवात्मा पाप-पुण्य कर्मों का कर्त्ता होने से पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त करता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि "ज्ञानमय परमात्मा (अग्नि) प्रभूत अमृत व मोक्षधाम को देने के लिए स्वामी हुआ है अर्थात् देने को उद्यत है। वह सुपुष्टि व सुसमृद्धि करनेवाले सांसारिक धन देने को भी उद्यत है। किन्तु हे प्रतापी परमात्मन्! हम अवीर अर्थात् आत्म-बल-रहित तेरे पास पहुँच नहीं पाते तथा रूप-रहित हुए अर्थात् पापकालिमा से छूटे हुए मुखवाले (अप्सवः) उक्त धन लेने को तेरे पास नहीं पहुँच सकते तथा समर्पण-भाव-रहित हुए भी हम उक्त धन लेने को तेरे पास नहीं पहुँच सकते।

वस्तुतः कार्य-कारण का नियम भौतिक जगत् का एक अटल नियम है—कारण उपस्थित होगा, तो कार्य होकर रहेगा। दो साल का एक सुन्दर बच्चा पाला पड़ते हुए नंगा बाहर रह गया तो उसे

---

1. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।**
   तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभि चाकशीति॥—(ऋग्० 1.164.20)
2. **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।**
3. **आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंसि कृणुषे पुरूणि।**
   धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥—(अथर्व० 5 1 2)

सर्दी लग ही जाएगी। सर्दी इस बात की परवाह नहीं करेगी कि बच्चा छोटा-सा है, सुन्दर है, माता-पिता की भूल से बाहर रह गया है, उसका अपना कोई दोष नहीं है। कुछ नहीं, किसी बात की रियायत नहीं; कारण उपस्थित हुआ है, कार्य होगा—अवश्य होगा। यह निर्दय-निर्मम कार्य-कारण का नियम विश्व का संचालन कर रहा है।[1] ''क्योंकि 'कर्म' का सिद्धान्त 'कार्य-कारण' का ही सिद्धान्त है, इसलिए कर्म में भी कार्य-कारण की दोनों बातें—**'अवश्यंभाविता'** तथा **'चक्रपन'** पाई जाती हैं। प्रत्येक कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है—यह अवश्यंभाविता है; प्रत्येक कर्म का फल, फल न रहकर, स्वयं एक कर्म बन जाता है—ऐसा कर्म जिसका फिर आगे फल मिलता है—यह 'चक्र' है।''[2]

कार्य-कारण के नियम और कर्म-फल के सिद्धान्त में एक मूलभूत अन्तर भी है। कार्य-कारण का नियम पूर्ण रूप से भौतिक जगत् का नियम है, जबकि कर्म का नियम आध्यात्मिक जगत् का नियम है। 'कार्य-कारण' प्रकृति का नियम है और प्रकृति का स्वभाव ही 'कार्य-कारण' के अटल नियम में जकड़े रहने का है, जबकि इसके विपरीत आत्मतत्त्व का स्वभाव बन्धन से निकलने का है। आत्मा स्वतन्त्र है और कर्म-फल की शृंखलाओं को काट देने के लिए उद्यत रहता है। कर्म-फल के सिद्धान्त मात्र 'कार्य-कारण' के नियम के रूप में देखने से व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र कर्म करने में असमर्थ पाकर सब-कुछ दैव या प्रारब्ध के भरोसे छोड़ देता है, किन्तु वैदिक दर्शन के अनुसार मनुष्य आत्मतत्त्व के ज्ञान से कर्मों के चक्कर से मुक्त भी हो सकता है।

''असली समस्या, पारमार्थिक नहीं; लौकिक समस्या, वह समस्या जिसका व्यावहारिक रूप में हम सबको सामना करना पड़ता है, यह है कि हम जो सामाजिक कर्म करते हैं—किसी को मार दिया, किसी को लूट लिया, किसी की स्त्री को भगा लिया—ये हमारे हाथ की बातें हैं या ये टल ही नहीं सकतीं? समस्या के इस बिन्दु पर पहुँचने पर वैदिक संस्कृति का कहना था कि 'कर्म'

---

1. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार : 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व', पृ० 62
2 वही पृ० 63

कार्य–कारण के नियम की तरह एक अन्धा नियम नहीं है। यह ईंट–पत्थर का, अचेतन का नियम नहीं, चेतन का नियम है। दीवार पर ईंट फेंकी जाएगी तो वह अवश्य दीवार से टकराएगी; किसी मनुष्य पर फेंकी जाएगी तो वह एक ही स्थान पर खड़ा रहकर चोट भी खा सकता है, एक तरफ को हटकर चोट से बच भी सकता है। खड़ा रहकर दीवार की तरह व्यवहार करेगा तो अचेतन की तरह व्यवहार करेगा, एक तरफ को हट जाएगा तो चेतन की तरह व्यवहार करेगा—खड़ा रहेगा तो '**अवश्यंभाविता**' और '**चक्र**' में फँस जाएगा, हट जाएगा तो इन दोनों में से निकल जाएगा।''[1]

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि मन के आवेगों के वश में पड़ने से ही कर्म–फल का चक्र–परावर्तन प्रारम्भ होता है, और इन्हें अपने वश में कर लेने से कर्म–चक्र भग्न हो जाता है। वैदिक दर्शन के अनुसार आत्मा के विकास की एक अवस्था तो यह है कि जिसमें जीव इन मनोवेगों से बचकर निकल ही नहीं सकते और निरन्तर इनके घात–प्रतिघातों में थपेड़े खाते रहते हैं। आत्मा की यह अवस्था 'भोग–योनि' कहलाती है। इसमें कामादि मनोवेगों द्वारा प्रेरित कार्य अवश्यंभावी हैं। पशु–योनि भोगि–योनि है। इसके विपरीत मनुष्य–जन्म कर्म–योनि है। मनुष्य की इस कर्म–योनि में आकर हमारे हाथ में वह शस्त्र आ जाता है जिससे हम कर्म के बन्धनों को, अर्थात् कर्म की 'अवश्यंभाविता' और 'चक्र' को काट सकते हैं, परन्तु हम इसका लाभ उठाते हैं या नहीं—यह दूसरी बात है। मनुष्य–जन्म कर्म–भूमि है। इस एक जन्म में इतना सामर्थ्य है कि हम पिछले सभी जन्मों से संचित कर्मों को इस जन्म के 'क्रियमाण' कर्म से काट सकते हैं। ''वैदिक संस्कृति के सभी शास्त्र एकस्वर होकर, एक ही पुकार से मनुष्य को जगा रहे हैं—''**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत**'—उठो, जागो, ज्ञानी पुरुष के चरणों में जाकर आत्मतत्त्व को पहचानो—क्योंकि जिस घुमरघोरी में हम पड़े हैं, उसमें से मनुष्य–जन्म में ही निकला जा सकता है, और दूसरे किसी जन्म में नहीं।''[2]

---

1. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार : 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व', पृ० 80
2. वही, पृ० 82–94

वैदिक दर्शन का परम लक्ष्य : मोक्ष अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार

वैदिक दर्शन में मानव-जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष माना गया है। मुक्ति वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सब वासनाओं को त्यागकर पूर्णकाम हो जाता है और सब प्रकार के कष्ट-क्लेशों से दूर विशुद्ध, दिव्य आनन्द के महासमुद्र में हिलोरें लेने लगता है। परमपिता परमेश्वर मुक्त स्वभाव हैं, उनकी ज्ञान-बल-क्रिया स्वाभाविक हैं। प्रभु निर्विकार हैं, एकरस एवं आनन्दस्वरूप हैं। इसके विपरीत मनुष्य की मुक्ति परिश्रम-साध्य है, स्वभाव-सिद्ध नहीं। मनुष्य यज्ञ, योग एवं उपासना आदि के द्वारा जितना-जितना परमात्मा के समीप होता जाता है, उतना ही अधिक आनन्द का अनुभव करता है। मुक्ति की दशा में जीवात्मा-परमात्मा का अत्यन्त सामीप्य होता है। अतः मोक्ष, मुक्ति या अपवर्ग को ब्रह्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म-प्राप्ति भी कहा गया है। वेद में कहा गया है, ''जिसमें सुकर्मचारी लोग ज्ञान से अमृत के प्रसाद को निरन्तर प्राप्त करने की घोषणा करते हैं, वह समस्त संसार का स्वामी और रक्षक अपने ज्ञान में रमनेवाला मुझ परिपक्व अर्थात् यम नियम से पके हुए आत्मा में प्रविष्ट है अर्थात् मुझे उसका साक्षात्कार होना है। इस मुक्ति-सुख का भोग इन्द्रियों द्वारा नहीं होता। आत्मा अपनी शक्तियों से परमात्मा के सहारे उस परम आनन्द का भोग करता है।''[1] ''अविनाशी, परम रक्षक जिस परमात्म देव में सब जड़ और चेतन देव निवास करते हैं, वेद की ऋचाएँ उसी का बखान करती हैं। जिसने उसे नहीं जाना वह वेद की ऋचाओं से क्या करेगा? जो उसे जानते हैं, वे ही आनन्दपूर्वक रहते हैं।''[2] ''वह परमात्म देव कामनाओं से रहित है, धीर है, अमृत है, स्वयंभू है, आनन्द से तृप्त

---

1. यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
   इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
   —(ऋग्० 1.164.21)
2. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
   यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
   (ऋग्० 1 164 39)

है, उसमें कहीं से भी कोई कमी नहीं है, उसे जान लेनेवाला मृत्यु से नहीं डरता, वह सर्वव्यापक है, धीर है, अजर है और युवा है।''[1] ''मैंने उस परमात्मा देवरूप पुरुष को जान लिया है जो महान् है, सूर्य जैसा तेजस्वी और अन्धकार से परे है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को जीत सकता है। अमरता की ओर जाने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।''[2]

''मृत्यु के समय प्राण अमर वायु में मिल जाएगा, शरीर राख में मिल जाएगा। हे कर्मशील जीवात्मा! तू ओ३म् का स्मरण कर, शक्ति प्राप्त करने के लिए उसका स्मरण कर, अपने किये हुए का स्मरण कर।''[3] ''वह उस (प्रसाद) को प्राप्त न करेगा जो उस (जगत्पिता) को नहीं जानता।''[4]

मुक्ति का साधन ब्रह्म-साक्षात्कार है। यह साक्षात्कार मनुष्य की बाह्य इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता। वह तो अन्तःकरण में आत्मा की एकाग्रता द्वारा किया जाता है। परमात्म-दर्शन सद्विचार, सतत व्यवहार और श्रद्धा से ही सम्भव है।[5] व्यक्ति परोक्ष तथा प्रत्यक्ष दुष्कृतों से हटकर ही मोक्ष-भागी बनता है।[6] इसी प्रकार अहिंसा आदि धर्माचरण तथा योगाभ्यास, ध्यान, उपासना भी मोक्ष के आवश्यक साधन हैं।[7]

मुख्य प्रश्न यह है कि यदि मृत्यु से जीवन का अन्त हो जाता है और मनुष्य से सम्बन्ध रखनेवाली सब बातें भी समाप्त हो जाती

---

1. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
   तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
   —(अथर्व० 10.8.44)
2. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
   तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —(यजु० 31.18)
3. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
   ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर॥ —(यजु० 40.15)
4. तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद। —(ऋग्० 1.164.22)
5. ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः। —(ऋग्० 9.113.2)
6. स्वामी ब्रह्ममुनि : 'वैदिक वन्दन', पृ० 119 पर (ऋग्० 10.7) की व्याख्या।
7. वही, पृ० 420 पर
   सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा। —(अथर्व० 4.11.6)

हैं तो फिर जीने के लिए इतना प्रयास क्यों? जन्म के कुछ क्षणों के उपरान्त मर जानेवाले शिशु की कल्पना कीजिये। यह क्षणभर का जीवन यदि उसका एकमात्र जीवन हो तो उसके जन्म का प्रयोजन ही क्या था? आत्मा की नित्यता, उसकी आध्यात्मिक सत्ता एवं कर्मानुसार पुनर्जन्म आदि आवागमन के सिद्धान्तों को स्वीकार न करनेवाले दर्शनों के पास इस समस्या का कोई हल सम्भव नहीं। वैदिक दर्शन स्थूल शरीर के अवसान के साथ आत्मा का भी अन्त नहीं मानता और न ही वह इस बात को मानता है कि मृत्यु के बाद आत्मा दोजख या नरक की आग में जलता रहता है। वैदिक तत्त्व ज्ञान के अनुसार जीवात्मा अनश्वर और नित्य होता है। इस आत्मा के अनन्त नित्यत्व को स्वीकार करने से हमारा वर्तमान जीवन विविध जन्मों की लम्बी शृंखला में कड़ी का काम करता है। ये विविध जन्म पड़ाव-स्वरूप हैं जिनमें आत्मा की बीज शक्तियों का विकास हुआ करता है। आत्मा का सर्वांगीण विकास एक जीवन में नहीं हो सकता, इस जीवन में असफल रहने पर दूसरे में सफल हो सकता है। मोक्ष की सिद्धि शनैः-शनैः होती है। साधारणतः मनुष्य भौतिक विषयों में अत्यधिक निमग्न होकर अपने स्वरूप को भूल बैठता है और स्वयं को केवल खाने-पीने और मौज उड़ाने की सत्ता मान बैठता है। इन भौतिक प्रपंचों व प्रकृति के कारागार से छूटे बिना ब्रह्म-साक्षात्कार व मोक्ष का अक्षय आनन्द प्राप्त करना असंभव है। किन्तु इस भौतिक शरीर का निर्वाह अनेकानेक भौतिक आवश्यकताओं के बिना संभव ही नहीं, अतः वैदिक दर्शन में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य को भौतिक प्रपंच से लेशमात्र भी डरने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि व्यक्ति इन सांसारिक भोगों एवं पदार्थों में लिप्त होकर ही न रह जाए। इस संसार को वह अपना साध्य नहीं, अपितु मुक्ति-मार्ग के बीच का एक पड़ाव समझे तथा इस प्रकार निर्लिप्त भाव से सांसारिक भोगों का उपभोग करते हुए भी सदा प्रभु के ध्यान एवं उपासना में लीन रहे। इस प्रकार वैदिक दर्शन सांसारिक उन्नति एवं मोक्ष-प्राप्ति में कोई विरोध नहीं मानता, प्रत्युत जीवन में इन दोनों के सन्तुलित समन्वय का ही उपदेश देता है। मनुष्य तब परमपिता परमेश्वर से वेद के शब्दों में यह प्रार्थना करने लगता है

कि हे अमृतस्वरूप प्रभो! जहाँ कामना का कामनापन दब जाता है, जहाँ आत्माभिस्थिति की पराकाष्ठा है, और जहाँ सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र आत्मतृप्ति है, वहाँ हे अमृतमय प्रभो! मुझे अमर बना। इन्द्रियपति संयमी आत्मा के लिए सब ओर इस सुख का प्रवाह हो।[1]

1. यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
(ऋग्० 9 113 10)

तीसरा अध्याय

वैदिक धर्म और मानववाद

वैदिक दर्शन के प्रसंग में हमने देखा कि सम्पूर्ण वैदिक दर्शन के केन्द्रीभूत विषय हैं—परमात्मा, आत्मा, प्रकृति, ऋत एवं सत्य। यह सहज प्रतीत होता है कि क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् के मूल में कोई ध्रुवतत्त्व अवश्य है। यह प्रत्यक्ष दृश्यमान ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से, सम्पूर्ण भौतिक प्रपंच प्राणिसमूह से और फिर जड़-चेतन रूप उभयविध सृष्टि किसी परात्पर सूत्र से परस्पर आबद्ध है। चर्म-चक्षुओं एवं तर्कादि से अगोचर, नाना भावों में ओतप्रोत सर्वान्तर्यामी सूत्र—सूत्रस्य सूत्रम्—का आर्ष चक्षुओं ने अन्तः-प्रत्यक्ष द्वारा दर्शन प्राप्त किया। मनुष्य के सम्मुख सृष्टि का जो अनन्त विस्तार है वह उसी सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी विश्वात्मा की कृति है। सृष्टिकर्ता परमात्मा की यह जड़-चेतन सृष्टि उसकी माया या छाया नहीं, प्रत्युत इस सृष्टि के मूल में उसके कुछ शाश्वत एवं अटल सिद्धान्त कार्य कर रहे हैं। यह सृष्टि कोई आकस्मिक घटना नहीं है, वरन् इसके पीछे कोई निश्चित योजना कार्य कर रही है। परमात्मा के इन ध्रुव सत्य नियमों की ही वैदिक ऋषियों ने 'ऋत' के रूप में उपासना की। इसी 'ऋत' की मानव के आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्र में 'सत्य' के रूप में प्रतिष्ठा की गई।

यह है वैदिक दर्शन का निचोड़ और इसी नींव पर वैदिक धर्म का प्रासाद प्रतिष्ठित है : सृष्टि के कारणभूत तीन तत्त्वों—विश्वात्मा, जीवात्मा और प्रकृति—का सम्यग् विज्ञान प्राप्त कर, परमात्मा की अटल-शाश्वत व्यवस्था 'ऋत' के अधीन सत्यशील और होकर शुभ कर्मों को करते हुए पूर्ण वैभवशाली

जीवन व्यतीत करना, उस सर्वान्तर्यामी परमसत्ता परमपिता परमेश्वर की उपासना एवं अन्तर्दर्शन करना, तथा सब प्राणियों में आत्मतत्त्व के दर्शन द्वारा समदृष्टि बनकर प्राणिमात्र का उपकार करना एव अपनी, समाज की, राष्ट्र की तथा समस्त मानवता की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति करना।

यज्ञ

"यज्ञों का कर्मकाण्ड वेदकालीन धार्मिक जीवन का एक विशेष अंग था। समस्त वैदिक साहित्य के संकलन का मूल उद्देश्य यज्ञों का कर्मकाण्ड ही है। वैदिक आर्य यज्ञों से बहुत प्रेम करते थे वे दैनिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, वार्षिक आदि यज्ञ किया करते थे। इस प्रकार वैदिक आर्यों का जीवन यज्ञमय था, और यज्ञों का सम्पादित किया जाना आवश्यकीय था। प्रत्येक वैदिक आर्य के लिए यह आवश्यक था कि वह आहिताग्नि बने और मृत्युपर्यन्त प्रतिदिन अपनी पत्नी के साथ यज्ञाग्नि में हवि आदि प्रदान करे। जातकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह आदि संस्कार इस यज्ञाग्नि की साक्षी में किये जाते थे। इसे गृह्याग्नि, आवसाध्याग्नि या स्मार्ताग्नि कहा जाता था।"[1]

अग्न्याधान

"विवाह के पश्चात् गृहस्थ को श्रौताग्नि प्रज्वलित कर उसमें प्रतिदिवस आहुतियाँ प्रदान करनी पड़ती थीं। सर्वप्रथम अग्नि को प्रज्वलित करने की विधि को 'अग्न्याधान' या 'अग्न्याधेय' कहते थे। इस कार्य के लिए एक 'अग्निशाला' का निर्माण किया जाता था जिसमें चतुर्भुजाकार वेदी बनाई जाती थी।"[2]

आर्यों के दैनिक कर्त्तव्यों में पाँच यज्ञों अर्थात् **ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ** तथा **पितृयज्ञ** की बहुत महत्ता है। ये **'पंचमहायज्ञ'** के नाम से प्रसिद्ध हैं। मनु का कथन है कि यथासंभव इन पाँच महायज्ञों के अनुष्ठान में प्रमाद नहीं करना

---

1. डॉ० शिवदत्त ज्ञानी : 'वेदकालीन समाज', पृ० 278
2. वही पृ० 279

चाहिए।[1] काव्य के क्षेत्र में यह पुनरुक्ति दोष माना जाता है, किन्तु कर्मकाण्ड में वही गुण है। एक ही मन्त्र को हजार बार जपने से उसकी भावना हृदय में गहरी हो जाती है और अन्ततः बद्धमूल हो जाती है। अब प्रश्न होता है कि वहाँ कौन-सी भावना है जिसकी कर्मकाण्ड में पुनरावृत्ति की गई है? सो वह है त्याग की भावना व निष्काम कर्म-भावना। इसी एक भावना की समस्त यज्ञों में नाना प्रकार से पुनरावृत्ति की गई है। निष्काम-कर्म करनेवालों में सबसे बड़ा स्थान परब्रह्म का है। उसे अन्न, जल, स्तुति, पूजा किसी भी फल की कामना नहीं और वह कर्म में निरन्तर प्रवृत्त रहता है। इस निष्कर्म की भावना को सीखने का सबसे अच्छा उपाय उसी की उपासना है। दूसरा उपाय ब्रह्म अर्थात् वेद और तदनुकूल शास्त्रों का स्वाध्याय है। 'ब्रह्मयज्ञ' वस्तुतः प्रभु की उपासना और वेद के स्वाध्याय का ही नाम है।

अग्नि, वायु, सूर्य आदि जड़ पदार्थ भी अपने आचरण से निरन्तर निष्काम सेवा, और प्रभु के आज्ञापालन का उपदेश देते हैं। प्रातःकाल देवयज्ञ के पश्चात् वैश्वदेव यज्ञ है। वैश्वदेव का अर्थ है वह यज्ञ जिसमें सम्पूर्ण विश्व का देव-अंश अर्थात् देने की सामर्थ्य सामने आ जाए। भोजनशाला में प्रवेश का समय मनुष्य के अभिमान का समय है। अतः इस समय वेद मनुष्य से कहलाता है कि मैं जो अन्न खा रहा हूँ इसमें संसार-भर के देवों ने भाग लिया है, इसलिए मैं उनके निमित्त अन्न निकालकर एवं उनके प्रति नमन कर फिर भोजन खाता हूँ। अतिथि को खिलाए बिना अन्न न खाए, यह अतिथि-यज्ञ की भावना है। जिसने इस यज्ञ के दैनिक अनुष्ठान से बचपन से ही यह उत्तम शिक्षा पाई हो, वह मनुष्य कभी स्वार्थी नहीं हो सकता। इसी प्रकार अपने पिता-माता-आचार्य आदि के प्रति कृतज्ञता की भावना दृढ़ करने तथा ज्ञान-प्राप्ति के लिए पितृयज्ञ किया जाता है।

इन पाँच यज्ञों पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो स्पष्ट होगा कि प्राचीन भारतीय पारिवारिक जीवन में विभिन्न तत्त्वों का सामंजस्य उपस्थित किया गया था। वेदाध्ययन

---

1 डॉ० शिवदत्त ज्ञानी · 'वेदकालीन समाज' पृ० 101

द्वारा बुद्धि तथा आत्मा का विकास, पितृयज्ञ द्वारा मृत पितरों की स्मृति का नवीनीकरण, देवयज्ञ द्वारा धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन, भूतयज्ञ द्वारा जीवमात्र के प्रति दया का भाव तथा अतिथियज्ञ के द्वारा आगत व्यक्तियों को खिला-पिलाकर प्रत्येक परिवार अपने जीवन के विभिन्न अंगों को परिपुष्ट करके विकसित करता था।

इष्टि याग

"आहिताग्नि गृहस्थ को अन्य श्रौतयाग भी करने पड़ते थे, उनमें से एक 'इष्टियाग' कहलाता था। इस 'याग' को प्रत्येक पक्ष में किया जाता था। यह पूर्णिमा व अमावस्या के दिन किया जाता था, इसलिए **'दार्शपौर्णमास'** भी कहलाता था। इस अवसर पर **अष्टकपाल पुरोडाश, एकादशकपाल पुरोडाश** आदि आहुतियाँ प्रदान की जाती थीं।"[1]

सोम याग

सोम-याग वैदिक युग के श्रौतयज्ञों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। ऋग्वेद में उसे **'प्रत्नमित्'**[2] (सर्वाधिक प्राचीन) और **'यज्ञस्य पूर्व्यः'**[3] (यज्ञों में सर्वप्रथम) कहा गया है। ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवम मण्डल में सोम-याग का ही वर्णन है। उसके लिए विभिन्न नाम वाले कितने ही ऋत्विगों की आवश्यकता होती थी। उसके लिए बहुत बड़ा स्थान भी आवश्यक होता था। अतएव यह याग ग्राम के बाहर किसी बड़े स्थान में किया जाता था। कभी-कभी यह याग एक दिन में पूर्ण हो जाता था, तब उसे **'एकाह्निक'** कहा जाता था, कभी-कभी बारह दिन तक चलता था जबकि उसे **'अहीन'** कहा जाता था। कभी-कभी यह याग एक वर्ष या उससे अधिक समय तक भी चलता था, तब उसे **'सत्र'** कहा जाता था। **'अग्निष्टोम'** नाम की विधि एक दिन में पूरी की जाती थी, किन्तु उसकी तैयारी में चार दिन लग जाते थे।

---

1. डॉ० शिवदत्त ज्ञानी : 'वेदकालीन समाज', पृ० 280
2. ऋग्०, 9.42.4
3. ऋग्०, 9.2.10

सोम-याग में सोम के पौधे के रस की आहुति दी जाती थी। सोमरस विधिपूर्वक निकाला जाता था और दूध, दही या शहद के साथ मिलाया जाता था। सोम का पौधा मूजवत् पर्वत पर उगता था। यज्ञ के लिए उसकी बहुत माँग रहा करती थी। यह कदाचित् चमकीला पौधा था एवं रात्रि के समय उसमें से प्रकाश निकलता था, इसलिए उसे '**सुपर्ण**' (सोने के पंखवाला पक्षी) व '**गन्धर्व**' (सूर्य) की उपमा दी जाती थी।[1] उसकी तुलना चन्द्र से भी की गई है। यज्ञ करनेवाले यजमान, ऋत्विक् आदि तथा युद्ध करनेवाले सैनिक सोमरस का पान करते थे।[2] सोमरस देवताओं का बहुत ही प्रिय पेय था, विशेषकर इन्द्र तो सर्वदा उसके लिए लालायित रहता था। सोम-याग का मुख्य उद्देश्य इन्द्र-वृत्र युद्ध में इन्द्र को शक्तिशाली बनाना था तथा कृषि-कार्यों के लिए मेघों से ठीक समय पर वर्षा प्राप्त करना था। ठीक समय पर वर्षा प्राप्त करने के लिए यह याग कभी-कभी नौ, दस या बारह महीनों तक चलता था। जो ऋत्विक् नौ महीने तक उस याग को करते थे वे 'नवग्व' तथा जो दस महीने तक करते थे वे 'दशग्व' कहलाते थे।

वैदिक साहित्य में सोम को राजा कहा गया है क्योंकि उसके अन्तर्गत देवताओं ने वृत्र पर विजय पाने में इन्द्र की सहायता प्रदान की थी और लोगों को सुखी तथा समृद्धिशाली बनाया था। वह न केवल जनता का राजा था, अपितु देवताओं का भी राजा था, क्योंकि उसकी सहायता से देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की थी। अतएव प्रत्येक वैदिक आर्य सोम की पूजा करता था तथा सोम रस का पान करता था, जिससे उसे सौभाग्य व अमरत्व प्राप्त होवे। ऋग्वेद में सोम की स्तुति, प्रशंसा आदि में कितने ही मन्त्र हैं जिससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद-कालीन आर्यों के जीवन में सोम-याग का बहुत महत्त्व था।"[3]

यह तो हुआ याज्ञिक कर्मकाण्ड का स्थूल एवं भौतिक रूप। इस कर्मकाण्ड के निरन्तर प्रयोग का भी अपना विशिष्ट प्रयोजन है,

---

1. ऋग्०, 9.85.11
2. ऋग्०, 9.86.2-3
3. डॉ० शिवदत्त ज्ञानी वेदकालीन समाज पृ० 281

किन्तु वैदिक यज्ञ अत्यन्त व्यापक अर्थों का वाचक है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (10-90) में यज्ञमय परमात्मा ही संसार की उत्पत्ति का मूल है। उसका इस प्रकार वर्णन है कि सृष्टि का सृजन करते हुए आदि-पुरुष परब्रह्म ने स्वयं अपनी आहुति देकर संसार की प्रत्येक वस्तु बनाई। ब्रह्माण्ड में निरन्तर एक यज्ञ हो रहा है। वह यज्ञ सर्वथा परोपकारार्थ है, अतः यज्ञ का मूल 'त्याग' है, जिसके अभाव में यज्ञ के अन्य सभी अंग पंगु बन जाते हैं।

सूक्ष्म रीति से वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्य का विचार किया जाए तो मालूम हो जाएगा कि यज्ञ शब्द के अन्दर प्रायः सब सामाजिक कर्त्तव्यों का अन्तर्भाव हो जाता है।

अग्नि के अन्दर सागग्री और घृत डालने का नाम ही वेदादि में यज्ञ नहीं है; इसका अत्यन्त व्यापक अर्थ है। भगवद्गीता में यज्ञ की व्याख्या करते हुए श्री कृष्ण भगवान् ने स्पष्ट बताया है कि···

द्रव्ययज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ 4.28

अर्थात् व्रतधारी जितेन्द्रिय पुरुषों में से कई द्रव्य-यज्ञ करनेवाले होते हैं, कई शीतोष्णादि द्वन्द्व-सहनरूप तपोयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, कई चित्तवृत्ति-संयमरूपी योगयज्ञ करते हैं और अन्य कई स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। कृष्ण भगवान् ने गीता में अर्जुन को यह भी उपदेश दिया है कि निःसन्देह अच्छे या बुरे जितने भी कर्म किये जाते हैं वे जन्म-मरण के चक्र में आदमी को डालनेवाले होते हैं, पर यज्ञ के लिए जो कर्म किया जाता है वह बन्धन में नहीं डालता, अतः तुम यज्ञ के निमित्त से ही सदा कर्म किया करो।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥ 3-9

इससे स्पष्ट है कि श्री कृष्ण का अभिप्राय केवल प्राकृतिक द्रव्यमय यज्ञ से नहीं, किन्तु परोपकार के लिए निष्काम भाव से जितने भी शुभ कर्म किये जाते हैं उन सबको यहाँ यज्ञ के नाम से पुकारा गया है। यज्ञ विषय का मुख्यतः प्रतिपादन करनेवाले यजुर्वेद के प्रथम ही मन्त्र में—

"देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।"

ये जो शब्द आए हैं वे स्पष्ट तौर पर इस बात की सूचना देते हैं कि यज्ञ का अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर प्रत्येक शुभ कर्म के लिए यज्ञ शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ—शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—'**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**'[1]। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे लिखा है—'**यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म।**'[2]

यज् धातु का प्रथम अर्थ देवपूजा है। अतः यह विचार करना अप्रासंगिक न होगा कि ये देव कौन हैं? एक देव तो देवाधिदेव परमात्मा है ही। उसकी उपासना-अर्चना तो यज्ञ का प्रथम आधार ही है। किन्तु देव शब्द स्वयं में बहुत व्यापक अर्थ का वाचक है तथा सामाजिक क्षेत्र में अनेक दिव्य गुणों से विभूषित जन 'देव' कहे जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् व्यक्तियों को 'देव' कहा गया है—"**विद्वांसो हि देवाः।**" गीता के सोलहवें अध्याय में "**अभयं सत्त्वसंशुद्धिः**" इत्यादि श्लोकों द्वारा दैवी प्रकृति का स्पष्ट वर्णन किया गया है। स्वयं ऋग्वेद के विश्वदेव-विषयक मन्त्रों में देवजनों के अनेक गुणों का वर्णन हुआ है। यथा :

जो यज्ञ और दक्षिणा से सम्पन्न होकर परमेश्वर की मित्रता और मोक्ष को प्राप्त होते हैं, ऐसे अग्नि के समान तेजस्वी प्रतिभाशाली देवो! तुम्हारा सदा कल्याण हो। तुम कृपा करके साधारण मनुष्यों को अपनी संरक्षा में ग्रहण करो अर्थात् अपने उपदेशों और संग से उन्हें उठाओ।[3] इस मन्त्र के अन्दर देवों के निम्नलिखित गुण बताए गए हैं—

1. वे यज्ञ और दान के द्वारा परमेश्वर के साथ अपनी मित्रता करते हैं अर्थात् शुभ कर्मों के अनुष्ठान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करते और उसे अपना सहायक समझते हैं।
2. उसी भगवान् के आश्रय से वे अन्त में इस शरीर को छोड़ने

---

1. शतपथ ब्रा० 1.7.1.5
2. तै० ब्रा० 3.2.1.4
3. **ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।**
   तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥
   (ऋ० 10.62.1)

के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

3. वे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निश्चय करनेवाली मेधा से सम्पन्न होते हैं।
4. वे परोपकार में तत्पर रहते हुए अपना और अन्यों का कल्याण करते हैं।

इसी सूक्त का तीसरा मन्त्र इस प्रकार है—"जो सत्यभाषण, सत्य-व्यवहार अथवा ज्ञान के द्वारा आध्यात्मिक विज्ञानरूप प्रकाश में आत्मिक अन्धकार को दूर करनेवाले परमेश्वर का उदय कराते हैं—परमेश्वरीय दिव्य ज्योति का दर्शन करते हैं, जो मातृभूमि अथवा उसके यश को विस्तृत करते हैं—मातृभूमि के मुख को उज्ज्वल करते हैं, ऐसे अग्नि के समान तेजस्वी तुम्हारी उत्तम सन्तान हो और तुम कृपा करके उत्तम मेधा से युक्त होते हुए मनुष्यमात्र को अपनी सुरक्षा व शरण में ग्रहण करके उसे उन्नत करो।"[1]

1. वे आत्मिक ज्योति को प्राप्त करके आन्तरिक अन्धकार को दूर करते हैं।
2. वे मातृभूमि के यश का विस्तार करते हैं।
3. वे स्वयं बुद्धि और ज्योति से सम्पन्न होकर मनुष्यमात्र को उन्नत करने का यत्न करते हैं।

इस विषय में यह मन्त्र देवों का ऐसा वर्णन करता है—

"वे सब देव स्वतन्त्रता देवी के अथवा अदीन प्रभावशालिनी माता के पुत्र हैं, वे निश्चय से मनुष्य के लिए उत्तम और दीर्घ जीवन व्यतीत करने के लिए निरन्तर ज्योति का प्रकाश देते हैं।"[2] इस मन्त्र में देवों के विषय में कहा है कि वे स्वतन्त्रता देवी के पुत्र अर्थात् अत्यन्त स्वतन्त्रता-प्रेमी हैं; मनुष्य अच्छी रीति से देर तक जी सकें इसके लिए वे उन्हें उत्तम ज्ञानरूपी प्रकाश लगातार देते रहते हैं।

---

1 य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥
—(ऋग्० 10.62.3)

2 ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्॥ —(यजु० 3.33)

इससे भी देवों की परोपकारी प्रवृत्ति स्पष्ट मालूम होती है।

उपर्युक्त वैदिक मन्त्रों में वर्णित गुणों से युक्त व्यक्ति देव हैं। उनकी पूजा करना ही मुख्यतया यज्ञ का अर्थ है।

अब संगतिकरण का थोड़ा-सा विचार करना आवश्यक है। वेद में इस विषय में बहुत ही उत्तम उपदेश पाए जाते हैं। वेद के अनुसार व्यक्ति समाज का एक अंग है और इसलिए समाज की उन्नति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा देना सबका प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्य के लिए **'व्रात'** शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ समुदाय अथवा संघ-प्रिय है। इससे 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है' इस प्रसिद्ध उक्ति का ही समर्थन होता है। ऋग्वेद में संगतिकरण अथवा संघ बनाकर उन्नति करने का **'सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'**[1] इत्यादि मन्त्रों द्वारा अत्युत्तम उपदेश किया गया है जिनमें मिलकर जाने अर्थात् उद्देश्य की पूर्ति के लिए यत्न करने, मधुर वाणी बोलने और मन को उत्तम शिक्षा के द्वारा सुसंस्कृत करने वा ज्ञान सम्पन्न बनाने का भाव पाया जाता है। इस प्रकार संगतिकरण पर संक्षेप से विचार करने के अनन्तर वेद के दान-विषयक भाव को देखना है। ऋग्वेद दशम मण्डल के 107 तथा 117वें दो सूक्त सम्पूर्ण रूप से इसी दान की महिमा का वर्णन करनेवाले हैं। इन दोनों सूक्तों में दान से अभिप्राय न केवल द्रव्य के दान, बल्कि विद्या आदि के दान का भी है। इसलिए 10.117.1 में कहा है—**'उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति'** अर्थात् देनेवाले का ऐश्वर्य कम नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही है। यह बात विद्या-दान के विषय में पूरे तौर पर घट सकती है।

यज्ञ के यौगिक अर्थ का एक और ढंग से भी विचार किया जा सकता है। सम्पूर्ण संसार मेल (संगतिकरण) ही का तो खेल है। अतः सम्पूर्ण विश्व यज्ञ का परिणाम अथवा महायज्ञ, उसमें ग्रह उपग्रह सब पृथक्-पृथक् छोटे-बड़े याग हैं। इस प्रकार अणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त यज्ञों की एक परम्परा चल रही है। प्रत्येक अणु अपने-आप में एक संस्थान है। संस्थान नाम ही मेल या संगतिकरण का है। अणुगत संस्थान अणुभर याग है तो विश्वव्यापक

---

1 ऋग्० 10 191 2

संस्थान विश्वव्यापक याग। विज्ञान इन भौतिक संस्थानों में संयोग का कारण 'ताप' (**Heat**) को बताता है। वेद में इस शक्ति का नाम **अग्नि** है।

व्यक्ति के शरीर में भी अग्नि है—जीवन-अग्नि (Vital Heat)। इसके द्वारा जीवन-याग सम्पन्न हो रहा है। हाथ पैर से, आँख कान से, जड़ कोंपल से, तना शाखा से, शाखा फूल से, कैसे एकीभूत हो रहे हैं? यही यज्ञ-भाव है। इस यज्ञ-भाव का फल शरीर का वह सुन्दर स्वाभाविक विकास है जो केवल सजीव शरीरों ही में दृष्टिगोचर होता है। बीज वृक्ष बन रहा है। वीर्य बालक, बालक युवा। जीवन जीवन ही से पैदा होता है। शरीर मर जाए, परन्तु सन्तान पैदा हो जाने से जीवन-ज्योति फिर भी जलती रहती है। अग्नि को वेद में 'गृहपति' कहा है। 'गार्हपत्य अग्नि' आर्यों के गार्हस्थ्य जीवन का बीज है। विवाह के समय इसकी स्थापना होती है एवं वानप्रस्थ होने तक इसे प्रज्वलित रखा जाता है। वैदिक आदर्श के अनुसार गृहस्थ-आश्रम एक यज्ञ है। इसमें पति-पत्नी का मेल होकर सन्तान पैदा की जाती है। सामवेद में कहा गया है—"यज्ञाग्नि को गृहपति-रूप में भली प्रकार स्थापित करो।"[1] "हे अग्निदेव! तुम हमारे घरों के स्वामी हो।"[2] तथा गृहपति पुरुष को सम्बोधित करके कहा गया है—"हे घर के स्वामी! तुम घर से बाहिर न जाते हुए पूज्य हो। तुमने घर-बार की इच्छा कर द्युलोक को सुरक्षित कर लिया है।"[3] इत्यादि।

गृहस्थ आश्रम ही समाज की बुनियाद है। मनुष्य अकेले से दुकेला इसी आश्रम के कारण होता है। पहिले तो पति-पत्नी ही अपने पारस्परिक भेद को गार्हपत्य अग्नि की भेंट कर देते हैं, फिर सन्तान को माता-पिता का संयुक्त 'आत्मा'—अर्थात् अभिन्न रूप कहा गया है। भाई-बहिन, सगे-सम्बन्धी एक ही मूल के विकसित तने हैं। जो निष्काम, निःस्वार्थ प्यार एक परिवार के सदस्यों में पाया जाता है, उसी का विस्तार समाज में, राष्ट्र में तथा विश्वभर में क

---

1. नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्। —(साम० पूर्वा० 1.7 1)
2. त्वमग्ने गृहपतिः। —(साम० पूर्वा० 1.6 7)
3. अप्रोषिवान् गृहपते महा॑ असि [illegible]।—(साम० पूर्वा० 1.4 5)

सकना ही तो समाज-शास्त्र का उद्देश्य है। विश्व-व्यापक साम्राज्य का आदर्श एक हँसता-खेलता घर ही तो है!

सामाजिक व्यवहार के तीन रूप हैं—बड़ों की पूजा (देवपूजा), बराबर वालों से मेल-जोल (संगतिकरण) तथा छोटों के प्रति दान-वृत्ति। 'यज्ञ' शब्द का अर्थ इस प्रकार 'सामाजिक शिष्टाचार' हो जाता है। इस शिष्टता का जितना विस्तार होगा, उतना ही विस्तार यज्ञभाव का भी होता जाएगा।

मनुष्य मननशील प्राणी है। केवल भौतिक विकास ही मानव-जीवन नहीं है। मानव-जीवन की विशेषता उसका मानसिक विकास है। इसी का परिणाम है—साहित्य, संगीत, काव्य, कला। ये वस्तुएँ मानव-जाति के सम्मिलित उद्योग ही के फल हैं। व्यक्ति व्यक्ति से, जाति जाति से, देश देश से मिलकर सम्मिलित मनन कर रहा है। मानव-जीवन का जितना भी मानसिक व्यापार है, वह सब अग्निरूप है। वेद में ओजस्विता को विशेष रूप से अग्नि का चमत्कार समझा गया है—"हे अग्निदेव! तुझ ओजःस्वरूप को नमस्कार है।" "हे अग्निदेव! हमारे लिए अत्यन्त ओजभरा तेज लाइये।"

इसके अतिरिक्त यज्ञ का एक पूर्णतः आध्यात्मिक रूप भी है। शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त मार्मिक ढंग से अग्निहोत्र कर्म से संबद्ध विभिन्न वस्तुओं की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इसमें बताया गया है कि यज्ञ केवल भौतिक ही नहीं होता, अपितु उसका मर्म समझने के लिए या उसका उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के लिए उसको आध्यात्मिक दृष्टि से समझकर उसका आध्यात्मिक अनुष्ठान करना आवश्यक है। भगवान् मनु का कथन है कि यज्ञों के अनुष्ठान से मनुष्य अपने शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार-रूप बना लेता है। यज्ञ वह दिव्य संकल्प है जो पूर्ण रूप से दिव्य बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है। यज्ञ वह शक्ति है जिससे सत्यचेतना क्रिया करती है।

यज्ञ वैदिक जीवन का आधार है। यह वह धुरी है जिस पर ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, दर्शन आदि अपना वृत्त पूरा करते हैं। यज्ञ वस्तुतः उस आन्तरिक और बाह्य प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा यज्ञ पुरुष के प्रति समर्पित हो जाता है यज्ञ का भाव

है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है उसे वह ब्रह्मार्पण कर दे। यज्ञ-कर्म की यही श्रेष्ठता है।[1] ऋग्वेद में तो यहाँ तक कह दिया है कि "जो यज्ञमयी नौका पर चढ़ने में समर्थ नहीं होते, वे कुत्सित आचरणवाले होकर यहीं इस लोक में नीचे-नीचे गिर जाते हैं।"

यज्ञों में पशु-हिंसा का सर्वथा निषेध

पौराणिकों, पाश्चात्य वेदज्ञों एवं उनकी विचारधारा का अनुसरण करनेवाले भारतीय विद्वानों का मत है कि वेद में अनेक यज्ञों में पशु-वध का स्पष्ट विधान है। वैदिक काल में यज्ञों में पशुओं की हिंसा की जाती थी एवं मांस की हवि देवताओं के निमित्त दी जाती थी। मैक्डॉनल और कीथ लिखते हैं, "वैदिक आर्यों के मांस-भक्षण का पता उन जानवरों की सूची से चलता है, जो यज्ञ में मारे जाते थे। मांसाहारी ही वस्तुतः देवताओं को भैंस, भेड़, बकरी और बैलों की बलि देते हैं।"[2] "वेदों के मन्त्रों से पता चलता है कि वैदिक काल में मांस सर्वसाधारण का भोजन था। यज्ञ में बलि देने का अभिप्राय था कि जो देवताओं को भेंट करते थे, उसका शेष ब्राह्मण भी खाते थे।"[3] इसी प्रकार मैक्समूलर, ग्रिफिथ, विल्सन, क्लेटन व अन्यान्य पाश्चात्य विद्वानों तथा 'वैदिक एज' ग्रन्थ के लेखकों का भी मन्तव्य है।[4]

---

1. **यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म।** —(शत० 1.7.1 5)
2. "The usual food of Vedic Indian, as far as flesh was concerned, can be gathered from the list of sacrificial victims. What man ate, he presented to the gods *i.e.* the sheep, the goat and the ox." —**(Vedic Index, Vol.II,** p 147)
3. I bid., p. 145
4. (a) We may only note that when the Kaushik-Sutra (XIII, 1-6) prescribes a magic rite in which portions of the bodies of some animals and human beings....are to be eaten to acquire certain qualities, not totemism but the conception of sacramental communion in hinted at." —**(Vedic Age,** p. 501)

   (b) "At one sacrifice, probably a very unusual sacrifice, performed once in five years seventeen young cows were offered" —**(The Rigveda and Vedic Religion)**

संहिताओं में गोवध को महापाप समझा गया है।[1] गौ को वेद में "अघ्न्या" कहा गया है।[2] ब्राह्मणों में कहा गया है कि 'मांस-भक्षण से यज्ञ व व्रत भंग हो जाता है।'[3] वेद में 'उक्षन्' शब्द सोमपरक भी है।

वैदिक धर्म में अहिंसा को सबसे बड़ा धर्म माना गया है। वेद का उपासक प्रार्थना करता है—"हे परमात्मन्! सब प्राणी मुझे मित्र की आँख से देखा करें। मैं सब प्राणियों को मित्र की आँख से देखा करूँ। हम सब एक-दूसरे को मित्र की आँख से देखा करें।'"[4] वेद में स्थान-स्थान पर पशुओं और पक्षियों की रक्षा करने और उन्हें न

(c) "The guests are entertained with the flesth of cows got killed on the occasion (of marriage).

—(**Vedic Age, p. 389**)

1 (क) घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्।
—(यजु० 13.49)

(ख) अन्तकाय गोघातम्। —(यजु० 30.18)

(ग) यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ —(अथर्व० 1.16 4)

2 (क) दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्द्धतां महते सौभगाय॥
—(ऋग्० 1.164.27)

(ख) शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः॥
—(ऋग्० 4.1 6)

(ग) नीचीनमघ्न्यां दुहे, न्यग् भवतु ते रपः। —(अथर्व 6.91 2)

(घ) यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥
—(ऋग्० 10.87.16)

3 (क) न मांसमश्नीयात्, न मिथुनमुपेयात्। यन्मांसमश्नीयात्, यन्मिथुनमुपेयादिति न त्वेवैषा दीक्षा। —(शत० ब्रा० 1.2.2.39)

(ख) न मांसमश्नीयात्। न स्त्रियमुपेयात्। यन्मांसमश्नीयात्, यत्स्त्रियमुपेयात् निर्वीर्यः स्यात् नैनमग्निरुपनयेत्॥
—(तैत्ति० ब्राह्मण 1.1.9.7-8)

4. "मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। —(यजु० 36 18)

मारने के उपदेश दिये गए हैं। स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में भी हिंसा व मांस-भक्षण की घोर निन्दा की गई है। समस्त वैदिक परम्परा **'अहिंसा परमो धर्मः'** के सिद्धान्त में विश्वास करती है। यम-नियमों में भी अहिंसा ही सर्वप्रधान है। इसे महर्षि पतंजलि ने 'महाव्रत' कहा है। यम-नियमों के पालन का आदेश मनुष्यमात्र के लिए विहित है, न केवल योगी-संन्यासी के लिए। यह विचार गलत है कि हिन्दू धर्म ने अहिंसा का विचार बौद्ध-जैनों से लिया है, अपितु उन्होंने ही यह सिद्धान्त वैदिक धर्मियों से लिया है।

वैदिक धर्म की दृष्टि में मांस-भक्षण के लिए की जानेवाली हिंसा सबसे बड़ा पाप है। वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मांसाहारी स्वयं अपना ही मांस खाएँ।[1] पूरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

(शेरभक) ऐ नीच हिंसक **(शेरभ)** ऐ वध करनेवाले **(किमीदिनः)** सर्वभोजियो! **(वः यातवः)** तुम्हारे अनुयायी **(पुनः यन्तु)** लौट जाएँ **(हेति पुनः)** तुम्हारा हथियार लौट जाए **(यस्य स्थ)** तुम जिसके सम्बन्धी हो **(तम् अत्त)** उसको खाओ **(यः वः प्राहैत्)** जिसने तुम्हें भेजा **(तम् अत्त)** उसको खाओ **(स्वमांसानि अत्त)** अपने मांस खाओ।" एक अन्य स्थान पर कहा है कि "निरपराध की हिंसा करना बड़ा भयंकर है।"[2] ऋग्वेद में भी यह संकल्प किया गया है कि "हम किसी की हिंसा नहीं करेंगे।"[3]

किन्तु हिंसा के विचार वैदिक तथ्यों के सर्वथा विपरीत हैं। सर्वप्रथम वेद में यज्ञ के लिए 'अध्वर' शब्द का पौनःपुन्येन प्रयोग होता है। आचार्य यास्क इसकी व्युत्पत्ति में कहते हैं **'अध्वर'** यह यज्ञ का नाम है, जिसका अर्थ हिंसारहित कर्म है।[4] ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ही **'अध्वर'** शब्द यज्ञ के विशेषण-रूप में प्रयुक्त हुआ

---

1. **शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।**
   यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ —(अथर्व॰ 2.24.1)
2. **अनागोहत्या वै भीमा।** —अथर्व॰ 10.1.29)
3. **नकिर्देवा मिनीमसि।** —(ऋग्॰ 10.134.7)
4. निरुक्त 2 7

है।[1] वेद में यह पद हजारों बार प्रयुक्त हुआ है। वेद में से पशुओं की रक्षा का उपदेश करनेवाले एवं उनकी हिंसा का निषेध करनेवाले कितने ही मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही 'पशुओं की रक्षा कर' ऐसा कहा गया है।[2] एक अन्य मन्त्र में पति-पत्नी के लिए उपदेश है कि "पशुओं की रक्षा करो।"[3] अन्यत्र कहा गया है कि "हे मनुष्य! तू दो पैर वाले मनुष्यादि की रक्षा कर और चार पैर वाले पशुओं की भी सदा रक्षा कर।"[4] इसी प्रकार अन्य सैकड़ों मन्त्रों में गाय, घोड़ा आदि पशुओं की हिंसा का स्पष्ट निषेध है।[5] पुरुषमेध, अश्वमेध, आदि शब्द उन-उन पशुओं की हिंसा के द्योतक नहीं हैं। पुरुषमेध को पुरुषयज्ञ और नृयज्ञ भी कहा जाता है एवं मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है—"नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्" (मनु 3.70)। इस प्रकार स्पष्ट है कि इसमें अतिथियों की पूजा का भाव है। अश्वमेध के सम्बन्ध में भी शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कथन है—"राष्ट्रं वा अश्वमेधः"—राष्ट्र के सम्यक् विकास से सम्बन्धित यज्ञ ही अश्वमेध है। इसी प्रकार अजमेध का अर्थ यह नहीं कि इसमें बकरे की बलि दी जाती है। महाभारत में स्पष्ट कह दिया गया है कि वेद में जब अजों से हवन करने का विधान होता है तो वहाँ तात्पर्य अज नामक बीजों से है, बकरों का वध करना तुम्हें उचित नहीं।[6] महाभारत में तो स्पष्ट रूप से यहाँ तक कह दिया गया है कि धूर्तों ने ही यज्ञों में सुरा, मत्स्य, पशु-मांस, आसव आदि का प्रचलन कर दिया। वेदों में यह सब

---

1. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
   स इद् देवेषु गच्छति॥ —(ऋग्० 1.1.4)
2. पशून् पाहि। —(यजु० 1.1)
3. पशूंस्त्रायेथाम्। —(यजु० 6.11)
4. द्विपादव चतुष्पात् पाहि। —यजु० 14.8)
5. गां मा हिंसीः। —(यजु० 13.43)
   इमं मा हिंसीः""वाजिनं वाजिनेषु। —(यजु० 13.48) इत्यादि।
6. अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम्, इति वै वैदिकी श्रुतिः।
   अजसंज्ञानि बीजानि, छागान्नो हन्तुमर्हथ॥
   नैषधर्मः सतां देवाः, यत्र वध्येत वै पशुः॥ —(महाभारत शान्तिपर्व)

विहित नहीं है।[1] अश्वमेध पर्व में भी पशु-हिंसात्मक यज्ञों का सदा प्रबल विरोध किया गया है। वहाँ कहा गया है कि तपोधन ऋषियों ने दीन पशुओं को देखकर कहा कि "यह यज्ञ की विधि अच्छी नहीं। यज्ञों में पशुओं की हिंसा का कहीं विधान नहीं, यह तुम्हारे धर्म का नाश करनेवाला है।"[2] शान्तिपर्व में अन्यत्र कहा गया है— "पशुओं को मारकर और उनका रुधिर बहाकर यदि स्वर्ग जा सकते हैं तो नरक में जाने का क्या उपाय है?"[3] वसु महाराज के अश्वमेध के वर्णन में स्पष्ट कहा गया है कि वह सर्वथा हिंसारहित, पवित्र, महान् यज्ञ था जिसमें पशुओं का घात सर्वथा न किया गया था।"[4]

'**आलम्भन**' शब्द का प्रयोग भी हिंसार्थक नहीं है। निघण्टु वा धातुपाठादि में वधार्थक धातुओं में आलभ् धातु का प्रयोग कहीं नहीं है। पारस्कर गृह्यसूत्र में उपनयन प्रकरण में यह वाक्य आता है—**अथास्य (ब्रह्मचारिणः)** दक्षिणांसम् अधिहृदयम् आलभते (पा० गृ० सू० 2.2.16), अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है। भाष्यकारों ने भी '**आलभते**' का अर्थ वहाँ '**स्पृशति**' ही किया है। इसी प्रकार '**संज्ञपन**' शब्द का प्रयोग भी संहिताओं एवं ब्राह्मणों में 'ज्ञान देना' या 'मेल कराना' अर्थों में किया गया है।[5]

---

1. सुरा मत्स्याः पशोर्मांसम्, आसवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्त्तितं यज्ञे, नैतद् वेदेषु विद्यते॥
2. न हि यज्ञे पशुगणाः विधिदृष्टाः पुरन्दर।
धर्मोपघातकस्त्वेष, समारम्भस्तव प्रभो॥ —(अश्वमेध)
3. यूपं छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं, नरकं केन गम्यते॥ (शान्ति०)
4. न तत्र पशुघातोऽभूत्, स राजैवं स्थितो भवत्।
अहिंस्रः अशुचिरक्षुद्रः, निराशीः कर्मसंस्तुतः॥ (शान्ति०)
5. (क) संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥ —(अथर्व० 6.74.2)
(ख) यद्वै त्व वेत्याह तद् (शत० 1 4.5 10)

षोडश संस्कार

वैदिक धर्म का वास्तविक उद्देश्य है—'मानव का निर्माण'। जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओं का लेप जीवात्मा पर रहता है। मनुष्य-योनि में बँधकर ही वस्तुतः आत्मतत्त्व पकड़ में आता है। मानवी चोले पर ही शुभ-संस्कारों का नया रंग चढ़ता है। अतः वैदिक धर्म मनुष्य के गर्भ में आते ही व्यक्ति को अच्छे संस्कारों के दुकूल में लपेटने की व्यवस्था करता है। यह धर्म ऐसी व्यवस्था करता है कि आत्मा के पुराने बुरे संस्कार हटाए जा सकें और उस पर नये संस्कार डाले जा सकें। इस जन्म में इच्छित संस्कारों को आत्मा पर डालकर हम उसके जीवन की नवीन दिशा का निर्धारण कर सकते हैं, क्योंकि आत्मा के आनेवाले जन्मों के 'कारण-शरीर' के निर्माण में इस जन्म के संस्कारों व वासनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। कर्मों के निचोड़ से संस्कार या वासनाएँ बनती हैं तो संस्कारों या वासनाओं के निचोड़ को 'कारण-शरीर' कहते हैं। वैदिक धर्म के अनुसार आत्मा के इस 'कारण-शरीर' में जन्म लेने के बाद तो संस्कार डाले ही जा सकते हैं, जन्म लेने से पहले भी नये संस्कार डाले जा सकते हैं। 'कारण-शरीर' में नये संस्कार का पड़ जाना—यही वैदिक संस्कारों का रहस्य है। 'कारण-शरीर' में जो संस्कार पड़ जाएँगे—चाहे पुराने हों चाहे नये हों, वे ही इस जन्म में फूटेंगे। संस्कारों द्वारा ही संस्कारों को बदला जा सकता है।

" 'संस्कार' शब्द का दूसरी भाषा में याथातथ्य अनुवाद करना असंभव है। अंग्रेजी के 'सेरीमनी' (Caremony) और लैटिन के 'सिरीमोनिया' (Caerimonia) शब्दों में संस्कार शब्द का अर्थ व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इसकी अपेक्षा 'सेरीमनी' शब्द का प्रयोग संस्कृत 'कर्म' अथवा सामान्य रूप से धार्मिक क्रियाओं के लिए अधिक उपयुक्त है।"[1]

"इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जानेवाले उन अनुष्ठानों से है, जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके। किन्तु हिन्दू संस्कारों में अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक

---

1 डॉ० राजबली पाण्डेय हिन्दू संस्कार पृ० 17

विधि-विधान, उसके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार न होकर संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है।''[1]

''सम्प्रति सर्वाधिक लोकप्रिय संस्कार सोलह हैं, यद्यपि विभिन्न ग्रन्थों में उनकी संख्या भिन्न-भिन्न है। आधुनिकतम पद्धतियों में यह संख्या स्वीकृत कर ली गई है। गौतम ने अड़तालीस संस्कारों की लम्बी सूची में अन्त्येष्टि की गणना नहीं की और साधारणतः यह गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और स्मृतियों में भी अदृश्य है तथा संस्कार-विषयक उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी उपेक्षितप्राय है। इसके मूल में यह धारणा थी कि अन्त्येष्टि एक अशुभ संस्कार है और शुभ संस्कारों के साथ इसका वर्णन नहीं करना चाहिए।...इतना होते हुए भी अन्त्येष्टि एक संस्कार के रूप में मान्य था। कतिपय गृह्यसूत्र इसका वर्णन करते हैं तथा मनु, याज्ञवल्क्य और जातुकर्ण्य संस्कार की सूची में इसकी गणना करते हैं। अन्त्येष्टि समन्त्र संस्कारों में से है और उसके मन्त्रों का संकलन मुख्यतः अन्त्येष्टि-सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों में से किया गया है।''[2]

''कालक्रम से संस्कारों के भौतिक स्वरूप से उनका नैतिक पार्श्व प्रस्फुटित हुआ। चालीस संस्कारों को गिनाने के पश्चात् गौतम दया, क्षमा, अनसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभता—इन आत्मा के आठ गुणों का उल्लेख करते हैं। वह आगे कहते हैं कि ''जिस व्यक्ति ने चालीस संस्कारों का अनुष्ठान तो किया है, किन्तु उसमें उक्त आठ आत्म-गुण नहीं हैं, वह ब्रह्म का सान्निध्य नहीं पा सकता। किन्तु जिस व्यक्ति ने केवल कतिपय संस्कारों का ही अनुष्ठान किया है और जो आत्मा के आठ गुणों से सुशोभित है, वह ब्रह्मलोक में ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है।''[3]

''हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक कृत्यों और संस्कारों से जिस

---

1. डॉ॰ राजबली पाण्डेय : 'हिन्दू संस्कार', पृ॰ 19
2. वही, पृ॰ 26
3 वही पृ॰ 36

सांस्कृतिक प्रयोजन का उद्‌भव हुआ वह था व्यक्तित्व का निर्माण और विकास।''[1]

''इस प्रकार गर्भाधान संस्कार उस समय किया जाता था, जब पति-पत्नी दोनों शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ होते तथा परस्पर एक-दूसरे के हृदय की बात जानते और दोनों में सन्तान-प्राप्ति की वेगवती इच्छा होती थी। उस समय उनके समस्त विचार गर्भाधान की ओर केन्द्रित होते थे और होम व समयानुकूल वैदिक मन्त्रों के उच्चारण से शुद्ध व हितकर वातावरण तैयार कर लिया जाता था। स्त्री जब गर्भिणी होती तो दूषित शारीरिक व मानसिक प्रभावों से उसे बचाया जाता और उसके व्यवहार को इस प्रकार अनुशासित किया जाता था कि गर्भस्थ शिशु पर सत्प्रभाव पड़े। जन्म होने पर आयुष्य तथा प्रज्ञाजनन कृत्यों का अनुष्ठान किया जाता और नव शिशु को पत्थर के समान दृढ़ और कुल्हाड़े (परशु) की तरह शत्रुनाशक तथा बुद्धिमान् होने के लिए आशीर्वाद दिये जाते थे। शैशव में प्रत्येक अवसर पर आशापूर्ण जीवन के प्रतीक आनन्द और उत्सव मनाए जाते और इस प्रकार शिशु के विकास का उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो जाता था। चूड़ाकरण या मुण्डन संस्कार के पश्चात्, जब शिशु बालक की अवस्था में पहुँच जाता, तो ग्रन्थों के अध्ययन तथा विद्यालय के कठोर नियन्त्रण के बिना ही उसके कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों से उसका परिचय कराया जाता था। उपनयन तथा अन्य शिक्षा-सम्बन्धी संस्कार ऐसी सांस्कृतिक भट्ठी का काम करते थे जिसमें बालक की आकांक्षाओं, अभिलाषाओं व इच्छाओं को पिघलाकर अभीष्ट साँचों में ढाल दिया जाता और अनुशासित किन्तु प्रगतिशील और परिष्कृत जीवन व्यतीत करने के लिए उसे तैयार किया जाता था।

''समावर्तन के पश्चात् व्यक्ति विवाहित गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करता था। विवाह की इस अवस्था में था मानव-सभ्यता का विकसित स्वरूप और पाणिग्रहण-संस्कार था विवाहित दम्पती के भावी जीवन के मार्ग-दर्शन के लिए किया जानेवाला धर्मोपदेश। गृहस्थ के लिए जिन विविध यज्ञों व व्रतों का विधान किया गया था,

---

1 डॉ० राजबली पाण्डेय 'हिन्दू संस्कार' पृ० 36

उनका प्रयोजन स्वार्थपरता को दूर कर उसे यह अनुभव करने की प्रेरणा देना था कि वह समस्त समाज का एक अंग है। पूर्ववर्ती संस्कारों के मानसिक प्रभाव से व्यक्ति के लिए मृत्यु का सामना करना सरल हो जाता था और इससे जीवन के दूसरे पार्श्व की यात्रा करने में उसे सान्त्वना तथा सहायता मिलती थी। निःसन्देह संस्कारों में अनेक ऐसी विधियाँ हैं जिनकी उपयोगिता निरे विश्वास पर ही अवलम्बित है। किन्तु संस्कारों के मूल में निहित सांस्कृतिक उद्देश्य के माध्यम से व्यक्ति पर पड़नेवाले प्रभाव को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता, भले ही किसी पूर्ण वैज्ञानिक व व्यवस्थित योजना में उनकी गणना न हो सके।''[1]

''संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते थे। उनके द्वारा संस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है, और सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएँ आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं। यही वह मार्ग था जिससे क्रियाशील सांसारिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता था। जीवन की इस पद्धति में शरीर और उसके कार्य बाधा नहीं, पूर्णता की प्राप्ति में सहायक हो सकते थे। इन संस्कारों के अनुष्ठान से हिन्दुओं का सामान्य जीवन, जो अन्यथा समय-समय पर होनेवाले अनुष्ठानों के बिना पूर्णत भौतिक बन जाता, एक विशाल संस्कार ही बन गया। इस प्रकार हिन्दुओं का विश्वास था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से वे दैहिक बन्धन से मुक्त होकर मृत्यु-सागर को पार कर लेंगे। यजुर्वेद (40.14) के अनुसार ''जो व्यक्ति विद्या तथा अविद्या दोनों को जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।''[2]

मनुष्य को आमूल-चूल रूपान्तरित करने के लिए वैदिक धर्म दो-चार नहीं, सोलह संस्कारों की व्यवस्था करता है, और ये संस्कार आत्मा के जन्म धारण करने के पूर्व ही शुरू हो जाते हैं।

---

1. डॉ० राजबली पाण्डेय : 'हिन्दू संस्कार', पृ० 37-38
2 वही पृ० 39

प्राग्जन्म संस्कार

गर्भाधान—सबसे पहला संस्कार 'गर्भाधान' संस्कार था, जिसे आज का व्यक्ति मात्र वासना-पूर्ति का साधन मानता है। जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है उसे 'गर्भाधान' कहते थे।[1] शौनक भी कुछ भिन्न शब्दों में ऐसी ही परिभाषा देते हैं—"जिस कर्म की पूर्ति से स्त्री (पति द्वारा) प्रदत्त शुक्र को धारण करती है उसे गर्भालम्बन या गर्भाधान कहते हैं।"[2]

वैदिक काल में गर्भ धारण की ओर इंगित करनेवाली अनेक प्रार्थनाएँ हैं—"विष्णु गर्भाशय-निर्माण करें, त्वष्टा तुम्हारा रूप सुशोभित करें। प्रजापति बीज-वपन करें; धाता भ्रूण-स्थापन करें। हे सरस्वति! भ्रूण को स्थापित करो, नीलकमल की माला से सुशोभित दोनों अश्विन् देव तुम्हारे भ्रूण को प्रतिष्ठित करें।"[3]

अथर्ववेद के एक मन्त्र में गर्भ-धारण करने के लिए स्त्री को पर्यंक पर आने के लिए निमन्त्रण का उल्लेख है—"प्रसन्नचित्त होकर शय्या पर आरूढ़ हो, मुझ अपने पति के लिए सन्तति उत्पन्न करो।"[4] इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि पति पत्नी के समीप जाता उसे गर्भाधान के लिए आमन्त्रित करता, उसके गर्भ में भ्रूण-स्थापना के लिए देवों से प्रार्थना करता और तब गर्भाधान समाप्त होता था।[5]

गृह्यसूत्रों के अनुसार विवाह के उपरान्त ऋतु-स्नान से शुद्ध पत्नी के समीप पति को जाना होता था। किन्तु गर्भाधान के पूर्व उसे विभिन्न प्रकार के पुत्रों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, अनुधान, ऋषिकल्प, भ्रूण, ऋषि और देव की इच्छा के लिए व्रत का अनुष्ठान करना होता था।[6]

---

1 **'गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद्गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम्।'**
—पूर्वमीमांसा, अ० 1, पाद 4, अधि० 2

2 **निषिक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः संधार्यते स्त्रिया।**
तद् गर्भलम्भनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः॥ —(हिन्दू संस्कार, पृ० 59)

3 ऋग्० 10.184.1-2

4 अथर्व० 14.2.31

5 डॉ० राजबली पाण्डेय : 'हिन्दू संस्कार.' पृ० 61

6 बौधा० गृ० सू० 1.7.1-8
डॉ० राजबली पाण्डेय · 'हिन्दू संस्कार' पृ० 61

पत्नी के ऋतु-स्नान की चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भ-धारण के लिए उपयुक्त माना जाता था।[1] चौथी रात्रि के पूर्व स्त्री को अस्पृश्य माना जाता था और उसके समीप जानेवाला व्यक्ति दूषित और गर्भपात का दोषी; क्योंकि उसका शुक्र व्यर्थ में ही नष्ट हो जाता है।[2]

गर्भाधान के लिए केवल रात्रिकाल ही विहित था और दिन का समय निषिद्ध।[3] मास की कुछ तिथियाँ गर्भाधान के लिए निषिद्ध थीं—8वीं, 14वीं, 15वीं, 30वीं तिथियाँ और सम्पूर्ण पर्व विशेषतया छोड़ दिये गए थे।[4]

"सांस्कृतिक दृष्टिकोण से गर्भाधान संस्कार का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम न तो उस आदिम मनुष्य को देखते हैं जो सन्तति को देखकर आश्चर्य प्रकट करता था और उसकी प्राप्ति के लिए सदा देवताओं की सहायता खोजता फिरता था, और न गर्भधारण, बिना सन्तति की इच्छा के कोई आकस्मिक घटना ही थी। यहाँ हम उन व्यक्तियों को पाते हैं जो अपनी स्त्री के समीप, सन्तति-उत्पत्तिरूप एक निश्चित उद्देश्य को लेकर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति के लिए एक पूर्व-नियत रात्रि में निश्चित प्रकार से ऐसी धार्मिक पवित्रता को लेकर जाते थे जो भावी सन्तान को निर्मल करती थी।"[5]

पुंसवन—गर्भ-धारण का निश्चय हो जाने के पश्चात् गर्भस्थ शिशु को 'पुंसवन' नामक संस्कार के द्वारा अभिषिक्त किया जाता था। पुंसवन का अभिप्राय सामान्यतः उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से 'पुं-पुमान्' (पुरुष) सन्तति का जन्म हो।[6] अथर्ववेद

---

1 मनु० 3.47; याज्ञ० स्मृ० 1.79

2 **'व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्'।**

—(आश्वलायन गृ० सू० बी० सं० भाग 1 से उद्धृत)

3 याज्ञ० स्मृ० 1.79

4. मनु० 3.45; याज्ञ० स्मृ० 1.79

5. डॉ० राजबली पाण्डेय : 'हिन्दू संस्कार', पृ० 72

6. **पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्।**

(शौनक वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश भा० 1 पृ० 166)

तथा सामवेद मन्त्रब्राह्मण में[1] पुमान् (पुरुष) सन्तति की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ उपलब्ध होती हैं। पति पत्नी के निकट प्रार्थना करता है : 'जिस प्रकार धनुष पर बाण का सन्धान किया जाता है, उसी प्रकार तेरी योनि में पुत्र को जन्म देनेवाले गर्भ (**पुमान् गर्भः**) का आधान हो। दस मास व्यतीत होने पर तेरे गर्भ से वीर पुत्र का जन्म हो। तू पुरुष को, पुत्र को जन्म दे, उसके पश्चात् पुनः पुंसन्तति का प्रसव हो। तू पुत्रों की माता बन, उन पुत्रों की जो उत्पन्न हो चुके हैं, तथा जिनका तू भविष्य में प्रसव करेगी' आदि।[2] पुंसवन संस्कार गर्भधारण के पश्चात् तीसरे अथवा चौथे मास में या उसके भी पश्चात् उस समय सम्पन्न किया जाता था जब चन्द्र किसी पुरुप नक्षत्र, विशेषतः तिष्य में संक्रमण कर जाता था।[3] गर्भिणी स्त्री को उस दिन उपवास करना पड़ता था। स्नान के पश्चात् वह नये वस्त्र पहनती थी। तब रात्रि में वट-वृक्ष की छाल को कूटकर और उसका रस निकालकर स्त्री की नाक के दाहिने रन्ध्र में 'हिरण्यगर्भ' आदि शब्दों से आरम्भ होनेवाली ऋचाओं के साथ छोड़ा जाता था।[4]

संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भ के द्वितीय से अष्टम मास तक माना जाता था। इसका कारण यह था कि विभिन्न स्त्रियों मे गर्भ-धारण के चिह्न विभिन्न काल में व्यक्त होते हैं। कुलाचार या पारिवारिक प्रथाएँ भी इस वैविध्य के लिए उत्तरदायी थीं। पुंसवन संस्कार तब होता था जब बालक के भौतिक शरीर का निर्माण प्रारम्भ हो जाता था। तब माता को सम्बोधित करके कहा जाता था—"**आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः।**" जीवन का श्रीगणेश होते ही माता अपने प्रबल सशक्त विचारों से अपनी सन्तान को जीवन की दिशा देने लगती थी।

शौनक के अनुसार यह कृत्य प्रत्येक गर्भ-धारण के पश्चात् करना चाहिए, क्योंकि स्पर्श करने तथा ओषधि-सेवन से गर्भ

---

1. 1.4.8-9
2. **आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।**
   आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥ —(अथर्व० 3.23 2)
3. पा० गृ० सू० 1.14.2; बौ० गृ०सू० 1.9.1
4 वही 1 14 3

पवित्र एवं शुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के अवसर पर उच्चारित तथा पठित मन्त्रों के प्रभाव से व्यक्ति में विगत जन्मों को स्मरण करने की क्षमता का संचार होता है।[1] मिताक्षरा टीका में कहा गया है : "ये पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन के कृत्य क्षेत्र-संस्कार हैं, अतः इनका सम्पादन एक ही बार करना चाहिए, प्रत्येक गर्भधारण में नहीं।"[2]

यह कृत्य उस समय किया जाता था जब चन्द्रमा किसी पुरुष नक्षत्र में होता था। यह काल पुंसन्तति के जन्म में सहायक माना जाता था। गर्भिणी स्त्री की घ्राणेन्द्रिय के दाहिने रन्ध्र में वट-वृक्ष का रस भी गर्भपात के निरोध तथा पुंसन्तति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से छोड़ा जाता था। निःसन्देह यह जनता के आयुर्वेदिक अनुभव पर आधारित था। स्त्री की गोद में जल से भरा पात्र रखना एक प्रतीकात्मक कृत्य था। जल से पूर्ण पात्र भावी शिशु में जीवन तथा उत्साह के आविर्भाव का सूचक होता था। गर्भाशय के स्पर्श के माध्यम से भावी माता द्वारा पूर्ण सावधानी बरतने की आवश्यकता पर बल दिया जाता था, जिससे गर्भस्थ शिशु स्वस्थ तथा सबल हो और गर्भपात की सम्भावना न रहे। '**सुपर्णोऽसि**' आदि मन्त्रों द्वारा सुन्दर तथा स्वस्थ शिशु के जन्म की कामना की जाती थी।

सीमन्तोन्नयन—गर्भ का तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन[3] था। इस नाम का कारण यह है कि इस कृत्य में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमान्त) को ऊपर उठाया (उन्नयन) जाता था। गर्भ के पाँचवें मास से भावी शिशु का मानसिक निर्माण आरम्भ हो जाता है।[4] जब बच्चे के मानसिक शरीर का निर्माण होने लगता है, तब 'सीमन्तोन्नयन संस्कार' किया जाता था। इस संस्कार में प्रतीक द्वारा माता को अपनी सन्तान में लीन रहने का सन्देश दिया जाता था और वह नौ

---

1 वी०मि०सं०भा० 1, पृ० 168

2. **एते च पुंसवन-सीमन्तोन्नयने क्षेत्रसंस्कारकर्मत्वात् सकृदेव कार्ये न प्रतिगर्भम्।** —(याज्ञ० स्मृ० 1.11)

3 **सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्।** —(वी० मि० सं० भा० 1, पृ० 172)

4 **पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति. षष्ठे बुद्धिः।** —(बौ० गृ० सू० 1.10 1)

मास तक अपने संस्कारों के ढांचे में अपनी सन्तान के संस्कारों को ढालने के प्रयत्न में रहती। इस संस्कार का एक अन्य प्रयोजन था गर्भिणी स्त्री को यथासम्भव हर्षित तथा उल्लसित रखना। इस संस्कार के लिए गर्भ के चतुर्थ अथवा पंचम मास को उचित ठहराते हैं।[1] स्मृतियों के अनुसार यह काल छठे अथवा आठवें मास तक हो सकता है।[2] यह संस्कार भी किसी पुरुष नक्षत्र के समय सम्पन्न किया जाता था। भावी माता को उस दिन उपवास करना होता था। वास्तविक विधि-विधान मातृ-पूजा, नान्दि श्राद्ध तथा प्राजापत्य आहुति आदि प्रास्ताविक कृत्यों के साथ आरम्भ होता था।

बाल्यावस्था के संस्कार

जातकर्म—जन्म लेने के बाद 'जातकर्म' संस्कार किया जाता था। यह संस्कार नाभिबन्धन छेदने के पूर्व सम्पन्न होता था। प्रथम कृत्य था—मेधा-जनन। पिता अपनी चौथी अँगुली और सोने की शलाका से शिशु को मधु और घृत अथवा केवल घी चटाता था। साथ में इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता था—"मैं तुझमें भूः निहित करता हूँ; भुवः निहित करता हूँ, स्वः निहित करता हूँ:; भूः भुवः स्वः सभी तुझमें निहित करता हूँ।" इस अवसर पर उच्चारित व्याहृतियाँ बुद्धि की प्रतीक हैं। जो पदार्थ शिशु को खिलाए जाते थे, वे भी उसके मानसिक विकास में सहायक होते थे। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार शिशु के कान में 'तू वेद है' इस वाक्य का उच्चारण करते हुए शिशु का एक नाम रखा जाता था। यह गुह्य नाम होता था जिसे केवल माता-पिता जानते थे।

जातकर्म संस्कार का द्वितीय कृत्य था आयुष्य। शिशु की नाभि अथवा दाहिने कान के निकट पिता गुनगुनाता हुआ कहता है, 'अग्नि दीर्घजीवी है, वह वृक्षों में दीर्घजीवी है। मैं उस दीर्घ आयु से तुझे दीर्घायु करता हूँ। सोम दीर्घजीवी है, वह वनस्पतियों द्वारा दीर्घजीवी है" आदि। इस प्रकार शिशु के समक्ष दीर्घायुष्य के सभी सम्भव उदाहरण प्रस्तुत किये जाते थे तथा विचारों के संयोग से यह

---

1. **प्रथमगर्भायाश्चतुर्थे मासि सीमन्तोन्नयम्।** —(आ॰ गृ॰ सू॰ 1.14 1)
2. **षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तः।** —(याज्ञ॰ स्मृ॰ 1.11)

विश्वास किया जाता था कि उक्त उदाहरणों के कथन से शिशु भी दीर्घायुष्य प्राप्त कर लेगा। दीर्घायुष्य के लिए अन्य कृत्य भी किये जाते थे। इसके पश्चात् पिता शिशु के दृढ़ वीरतापूर्ण तथा शुद्ध जीवन के लिए प्रार्थना करता था। वह शिशु से कहता था, "तू पत्थर हो, तू परशु हो, तू अमृत स्वर्ण बन। तू यथार्थ में पुत्र नाम से आत्मा है, तू सौ शरद् ऋतु पर्यन्त जीवित रह।" इसके पश्चात् कुल की आशाओं के केन्द्रभूत पुत्र को जन्म देने के लिए माता की स्तुति की जाती थी। उसके सम्मान में पति निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता था, "तू इडा है, तू मित्रावरुण की पुत्री है, तुझ वीर माता ने वीर पुत्र को जन्म दिया। जिसने हम लोगों को वीर पुत्र प्रदान किया, वह तू वीर स्वामिनी हो।"[1] तब नाभि की गुण्डी पृथक् की जाती, शिशु को स्नान तथा माता का स्तन्य पान कराया जाता था।

नामकरण—हिन्दुओं ने अति प्राचीन काल में ही व्यक्तिगत नामों के महत्त्व को अनुभव किया तथा नामकरण की प्रथा को धार्मिक संस्कार में परिणत कर दिया। ऋग्वेद गुह्य नाम को मान्यता प्रदान करता है[2] तथा ऐतरेय[3] और शतपथ ब्राह्मण[4] इसका वर्णन करते हैं। द्वितीय नाम बाह्य जीवन में सफलता तथा विशिष्ट स्थान की प्राप्ति के लिए किया जाता है।[5] पारस्कर गृह्य सूत्र[6] के अनुसार नाम दो अथवा चार अक्षरों का होना चाहिए तथा नाम का अन्त दीर्घ स्वर अथवा विसर्ग के साथ होना चाहिए। नाम में कृत् प्रत्यय का प्रयोग किया जा सकता था, तद्धित का नहीं। बालकों के लिए अक्षरों की सम संख्या विहित थी।

बालिका के नामकरण का आधार भिन्न ही था। बालिका का

---

1 **इडाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः।**
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति॥ —(पार० 1.16.19)

2 ऋग्० 10.55.2; 10.71.1

3 1.2.3 ऐतरेय

4 6.6.1.3.9; 3.6.24; बृ० उप० 6.4.26

5 श० ब्रा० 3.6.24; 5.3.3.14

6 पा० 1-17-1

नाम अक्षरों की विषम संख्या वाला तथा आकारान्त होना चाहिए और उसमें तद्धित का प्रयोग करना चाहिए।[1] मनु स्त्री-नामों की अन्य विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार करते हैं : वह उच्चारण में सुखकर और सरल, सुनने में अक्रूर, विस्पष्टार्थ तथा मनोहर, मंगलसूचक, दीर्घवर्णान्त और आशीर्वादयुक्त होना चाहिए।[2] उसका नाम नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्प तथा सेवक के नाम पर और भीषण नहीं रखना चाहिए। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी उसके नाम-विधान में एक निर्णायक तत्त्व थी। **विभिन्न वर्णों के भिन्न-भिन्न उपनाम होने चाहिएँ, "ब्राह्मण के नाम के साथ शर्मा, क्षत्रिय के नाम के साथ वर्मा, वैश्य के नाम के साथ गुप्त तथा शूद्र के नाम के साथ दास शब्द का योग किया जाता था।"**[3] उस नक्षत्र के अनुसार जिसमें शिशु का जन्म हुआ हो, उस मास के देवता, कुल-देवता तथा लोक-प्रचलित सम्बोधन के अनुसार चार प्रकार के नाम प्रचलित थे। नामकरण का एक अन्य प्रकार उस मास के देवता पर आधारित था जिसमें बालक का जन्म हुआ हो। तृतीय नाम कुलदेवता के अनुसार रखा जाता था।[4] नामकरण का अन्तिम प्रकार लौकिक था। लौकिक नाम समाज के साधारण व्यवहार के लिए रखा जाता था तथा व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इस नाम का मंगलसूचक तथा अर्थपूर्ण होना वांछनीय था।[5] नाम उच्चारण में सरल तथा श्रवण-सुखद होना चाहिए। दूसरे, नाम लिंग-भेद का द्योतक होना चाहिए। गृह्यसूत्रों के सामान्य नियम के अनुसार[6] नामकरण-संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् 10वें दिन अथवा 12वें दिन सम्पन्न किया जाता था। किन्तु परवर्ती विकल्प के

---

1. **अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्।** —(पार० गृ० सू० 1.17 3)
2. **स्त्रीणां च सुखमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
माङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥** —(मनु० 2.33)
3. **शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रियस्य तु।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥** —(व्यास)
4. **कुलदेवता सम्बद्धं पिता नाम कुर्यादिति।** —(शा० गृ०)
5. बृहस्पति वी० मि० सं० भा० 1, पृ० 237
6. शां० गृ० सू० 1.24.4; आ० गृ० सू० 1.15.4; पा० गृ० सू० 1.17; गो० गृ० सू० 2.7.15; खा० गृ० सू० 2.2.30; हा० गृ० सू० 2.4.10; आप० 152

अनुसार नामकरण जन्म के पश्चात् दसवें दिन से लेकर द्वितीय वर्ष के प्रथम दिन तक सम्पन्न किया जा सकता था। ज्योतिष्-विषयक ग्रन्थों के अनुसार प्राकृतिक असाधारणता अथवा धार्मिक अनौचित्य होने पर उक्त दिनों में भी संस्कार स्थगित किया जा सकता था। संक्रान्ति, ग्रहण अथवा श्राद्ध के दिन सम्पन्न संस्कार मंगलमय नहीं माना जाता था।[1] इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य निषिद्ध दिन भी थे, जिनका वर्णन किया जाता था।

जननाशौच समाप्त होने पर घर प्रक्षालित तथा शुद्ध किया जाता था तथा शिशु और माता को संस्कार कराया जाता था। वास्तविक संस्कार से पूर्व आरम्भिक कृत्य सम्पन्न होते थे। तब माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढँककर तथा उसके सिर को जल से आर्द्र कर पिता को हस्तान्तरित कर देती थी।[2] इसके पश्चात् प्रजापति, तिथि, नक्षत्र तथा उनके देवता अग्नि और सोम को आहुतियाँ दी जाती थीं।[3] पिता शिशु के श्वास-प्रश्वास को स्पर्श करता था, जिसका उद्देश्य संभवतः शिशु की चेतना का उद्‌बोधन तथा उसका ध्यान संस्कार की ओर आकृष्ट करना होता था। तब नाम रखा जाता था। शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ पिता उसे इस प्रकार सम्बोधित करता था : "हे शिशु, तू कुल-देवता का भक्त है, तेरा नाम...है, तू इस मास में उत्पन्न हुआ है, अतः तेरा नाम...है, तू इस नक्षत्र में जन्मा है, अतः तेरा नाम...है, तथा तेरा लौकिक नाम...है।' वहाँ पर एकत्र ब्राह्मण कहते थे, "यह नाम प्रतिष्ठित हो।" इसके पश्चात् पिता औपचारिक रूप से शिशु से ब्राह्मणों को अभिवादन कराता था, जो उसे 'सुन्दर शिशु, दीर्घायु हो', आदि आशिष् देते थे। वे 'तू वेद है' आदि ऋचा का भी उच्चारण करते थे।

निष्क्रमण-संस्कार—निष्क्रमण संस्कार करने का समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक भिन्न-भिन्न था।[4] किन्तु गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियों के अनुसार सामान्य नियम जन्म के पश्चात्

1. वी० मि० सं० भा० 1, पृ० 234
2. गो० गृ० सू० 2.7.15
3. स्वामी दयानन्द : संस्कार-विधि
4 मनु० 2 34

तीसरे या चौथे मास में संस्कार करने का था।

संस्कार के लिए नियत दिन माता बरामदे या आँगन के ऐसे वर्गाकार भाग को, जहाँ से सूर्य दिखाई देता, गोबर और मिट्टी से लीपती, उस पर स्वस्तिक का चिह्न बनाती तथा धान्य-कणों को विकीर्ण करती थी। सूत्रकाल में पिता के द्वारा शिशु को सूर्य-दर्शन कराने के साथ संस्कार समाप्त हो जाता था।

सम्पूर्ण संस्कार का महत्त्व शिशु की दैहिक आवश्यकता और उसके मन पर सृष्टि की असीमित महत्ता के अंकन में निहित है। संस्कार का व्यावहारिक अर्थ केवल यही है कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को घर से बाहर उन्मुक्त वायु में लाना चाहिए और यह अभ्यास निरन्तर प्रचलित रहना चाहिए। प्रस्तुत संस्कार शिशु के उदीयमान मन पर यह भी अंकित करता था कि यह विश्व ईश्वर की अपरिमित सृष्टि है और उसका आदर विधिपूर्वक करना चाहिए।

अन्नप्राशन—गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् छठे मास में किया जाता था।[1] दुर्बल शिशुओं के लिए यह अवधि अधिक बढ़ाई जा सकती थी। अन्तिम सीमा एक वर्ष थी, जिसके आगे संस्कार स्थगित नहीं हो सकता था। बालकों के लिए सम तथा बालिकाओं के लिए विषम मास विहित थे। लिंग पर आधारित यह भेद इस भाव का सूचक है कि संस्कारों में भी विभिन्न लिंगों के लिए किसी न किसी प्रकार का अन्तर अवश्य होना चाहिए।

भोजन के प्रकार भी धर्मशास्त्रों द्वारा नियत थे। साधारण नियम यह था कि शिशु को समस्त प्रकार का भोजन और विभिन्न स्वादों का मिश्रण कर खाने के लिए देना चाहिए।[2] कतिपय धर्मशास्त्री दही, मधु और घी के मिश्रण का विधान करते हैं।

अन्नप्राशन संस्कार के दिन सर्वप्रथम यज्ञीय भोजन के पदार्थ अवसरोचित वैदिक मन्त्रों के साथ स्वच्छ किये और पकाए जाते

---

1. आ० गृ० सू० 1.16; पा० गृ० सू० 1.19.2; शां० गृ० सू० 1.27; बौ० गृ० सू० 2.3; मा० गृ० सू० 1.20; भा० गृ० सू० 1.27
2. पा० गृ० सू० 1.19.4

थे। भोजन तैयार हो जाने पर वाग्देवता को एक आहुति दी जाती थी। यहाँ भोजन शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। शिशु की समस्त इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती थी, जिससे वह सुखी एवं सन्तुष्ट जीवन व्यतीत कर सके। अन्त में पिता बालक को खिलाने के लिए सभी प्रकार के भोजन तथा स्वाद को पृथक्-पृथक् रखता था और मौनपूर्वक अथवा 'हन्त' इस शब्द के साथ शिशु को भोजन कराता था।

अन्नप्राशन संस्कार का महत्त्व यह था कि शिशु उचित समय पर अपनी माता के स्तन से पृथक् कर दिये जाते थे। अन्नप्राशन संस्कार माता को भी यह चेतावनी देता था कि एक निश्चित समय पर उसे शिशु को दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिए। अनाड़ी माँ शिशु के प्रति स्नेह के कारण उसे एक वर्ष या उससे भी अधिक समय तक अपना स्तन्य पिलाती ही रहती है। किन्तु वह इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देती कि इससे वह शिशु का यथार्थ कल्याण न कर अपनी शक्ति का निरर्थक क्षय करती है।

चूड़ाकरण—धर्मशास्त्रों के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का प्रयोजन था।[1] 'चूड़ाकरण से दीर्घायु प्राप्त होती है तथा इसके सम्पन्न न करने पर आयु का ह्रास होता है। अतः प्रत्येक दशा में यह संस्कार सम्पन्न करना ही चाहिए।'[2] हिन्दुओं के आयुर्वेदिक ग्रन्थों से भी चूड़ाकरण के इस धर्मशास्त्रोक्त प्रयोजन की पुष्टि होती है। सुश्रुत के अनुसार 'केश, नख तथा रोम अथवा केशों के अपमार्जन अथवा छेदन से हर्ष, लाघव, सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि तथा पाप का उपशमन होता है।'[3] चरक का मत है कि 'केश, श्मश्रु तथा नखों के काटने तथा प्रसाधन से पौष्टिकता, बल, आयुष्य, शुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है।'[4]

---

1. **तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।** —(आ० गृ० सू० 1.17.12)
2. वसिष्ठ, वी० मि० सं० भा० 1, पृ० 296 से उद्धृत
3. **पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।**
   हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्॥ —(सुश्रुत—चिकित्सास्थान 24.72)
4. **पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।**
   केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्॥ —(चरक)

मुण्डन के लिए सिर को भिगोने का अथर्ववेद[1] में उल्लेख है। मुण्डन में व्यवहृत छुरे की स्तुति तथा उसके अहानिकर होने की प्रार्थना की जाती है : आयु, अन्नाद्य, प्रजनन, ऐश्वर्य (**रायस्पोषा**), सुसन्तति (**सुप्रजास्त्व**) तथा बल–वीर्य की प्राप्ति के लिए स्वयं पिता द्वारा केशच्छेदन का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[2] सविता अथवा सूर्य के प्रतिनिधीकृत नापित का भी स्वागत किया गया है।[3]

गृह्यसूत्रों के मतानुसार चूड़ाकरण संस्कार जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व सम्पन्न होता था।[4] मनु भी यही विधान करते हैं।[5] कतिपय आचार्यों का मत है कि यह उपनयन संस्कार के साथ भी किया जा सकता था, जो सात वर्ष की आयु के पश्चात् भी सम्पन्न हो सकता था।[6] किन्तु धर्मशास्त्रकार इसकी अपेक्षा अल्पतर आयु को प्राथमिकता देते तथा उसे अधिक पुण्यकर समझते हैं।[7] सूर्य के उत्तरायण में होने पर यह सम्पन्न होता था। राजमार्तण्ड के अनुसार चैत्र और पौष, किन्तु सारसंग्रह के अनुसार ज्येष्ठ तथा मार्गशीर्ष मास इस संस्कार के लिए वर्जित थे।[8] यह दिन के ही समय में किया जाता था। शिशु की माता के गर्भिणी होने पर उसका क्षौर–कर्म निषिद्ध था।[9] शिशु की माता

---

1 6.68.1

2 **शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंꣳसीः।**
निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याय।
—(यजु० 3.63)

3 अथर्व० 6.68.2

4 पा० गृ० सू० 2.1.1-2

5 म० स्मृ० 2.35

6 **तृतीये पंचमे वाऽब्दे चौलकर्म प्रशस्यते।**
प्राग्वा समे सप्तमे वा सहोपनयने वा॥
—(आश्वलायन, वी०मि० सं० भा० 1, 296 पृ० से उद्धृत)

7 **तृतीये वर्षे चौले तु सर्वकामार्थसाधनम्।**
संवत्सरे तु चौलेन आयुष्यं ब्रह्मवर्चसम्।
पञ्चमे पशुकामस्य युग्मे वर्षे तु गर्हितम्। —(अत्रि, वही, पृ० 298)

8 वही, पृ० 300

9 **गर्भिण्यां मातरि शिशोः क्षौरकर्म न कारयेत्।** —(बृहस्पति, वही, पृ० 312)

के रजस्वला होने पर उसके शुद्ध होने तक संस्कार स्थगित कर दिया जाता था।

शिखा रखना चूड़ाकरण संस्कार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग था, जैसाकि स्वयं संस्कार के नाम से सूचित होता है। 'यज्ञोपवीत तथा शिखा अवश्य धारण करनी चाहिएँ, उनके बिना धार्मिक संस्कारों का अनुष्ठान न करने के समान है।'[1] चूड़ाकरण संस्कार के लिए एक शुभ दिन निश्चित कर लिया जाता था।[2] इसके पश्चात् शिशु को लेकर माता उसे स्नान कराती, उसे एक ऐसे वस्त्र से ढँक देती जो अभी तक धोया न गया हो और उसे अपनी गोद में लेकर यज्ञीय अग्नि के पश्चिम ओर बैठ जाती थी। उसे पकड़ते हुए पिता आज्य आहुतियाँ देता था तथा यज्ञशेष भोजन कर चुकने पर निर्दिष्ट शब्दों के साथ उष्ण जल को शीतल जल में छोड़ता था। चूड़ाकरण–सम्बन्धी विधि--विधानों में निम्निलिखित प्रमुख तत्त्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं। प्रथम है शिर को आर्द्र करना। इसका प्रयोजन मुण्डन को सरल और सुविधाजनक बनाना था। अक्षति तथा अनाहति के लिए प्रार्थना के साथ केशों का छेदन, संस्कार का द्वितीय अंग था। शिशु के कोमल शिर पर लोहे के छुरे को देखकर पिता के हृदय में भय का संचार हो जाता था। वह उसकी स्तुति करता तथा बालक को क्षति न पहुँचाने के लिए उससे प्रार्थना करता था। संस्कार का तृतीय तत्त्व गोबर के पिण्ड के साथ कटे हुए केशों का छिपाना या फेंकना है। केशों को शरीर का एक अंग माना जाता था और परिणामस्वरूप शत्रुओं द्वारा उस पर जादू तथा अभिचार का प्रयोग सम्भव था। शिखा रखना चूड़ाकरण संस्कार का चतुर्थ तत्त्व है। उसके अनुसार मस्तक के भीतर ऊपर की ओर शिरा तथा सन्धि का सन्निपात है। वहीं रोमावर्त में अधिपति है। इस अंग को किसी भी प्रकार का आघात लगने पर तत्काल मृत्यु हो सकती है। अत.

---

1. **विशिखो व्युवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्।**
 --(देवल, वी० मि० सू० भा० 1, पृ० 315 से उद्धृत)
2. **पापग्रहाणां वारादौ विप्राणां शुभदं रवेः।**
 क्षत्रियाणां क्षमासूनो विट्शूद्राणां शनौ शुभम्॥
 (बृहस्पति गदाधर द्वारा पा० गृ० सू० 2 1 4 से उद्धृत)

इस महत्त्वपूर्ण अंग की सुरक्षा आवश्यक मानी जाती थी तथा उसी अंग पर शिखा रखने से इस प्रयोजन की पूर्ति हो जाती थी।

कर्णवेध—सुश्रुत कहता है कि 'रोग आदि से रक्षा तथा भूषण या अलंकरण के निमित्त बालक के कानों का छेदन करना चाहिए।'[1] अण्डकोश-वृद्धि तथा आन्त्रवृद्धि (हर्निया) के निरोध के लिए वह पुनः कर्णवेध का विधान करता है।[2] इस प्रकार वह जीवन के आरम्भ में किया जानेवाला एक पूर्व-उपाय था, जिससे उपर्युक्त रोगों का यथासम्भव निरोध किया जा सके। बृहस्पति के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें, बारहवें अथवा सोलहवें दिन किया जाता था।[3] किन्तु कात्यायन-सूत्र कर्णवेध संस्कार के उपयुक्त समय के रूप में शिशु के तृतीय अथवा पंचम वर्ष का विधान करता है। तृतीय और पंचम वर्ष चूड़ाकरण संस्कार के लिए भी विहित है। 'स्वर्णमयी सूई शोभादायिनी है किन्तु सामर्थ्य के अनुसार चाँदी अथवा लोहे की सूई का भी व्यवहार किया जा सकता है।' 'राजपुत्र के लिए स्वर्णमयी सूई, ब्राह्मण व वैश्य के लिए रजतनिर्मित सूई तथा शूद्र के लिए लौह-सूचिका व्यवहार में लानी चाहिए। इस भेदपूर्ण व्यवहार का आधार आर्थिक था। एक शुभ दिन में, मध्याह्न के पूर्व, दिन के पूर्वार्द्ध में यह संस्कार किया जाता था। शिशु को पूर्वाभिमुख बैठाकर उसे कुछ मिठाइयाँ दी जाती थीं। इसके पश्चात् अधोलिखित मन्त्र के साथ शिशु का दायाँ कान छेदा जाता था : '**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः**' हम अपने कानों से भद्र वाणी सुनें आदि।[4] और बायाँ कान '**वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति**' आदि मन्त्र के साथ छेदा जाता था।[5] बालक का दाहिना, कन्या का बायाँ कान पहले छेदा जाता था।

---

1 **रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते।** —(शरीरस्थान 16 1)

2. **शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।**
व्यत्यासाद् वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥
—(वही, चिकित्सास्थान 19.21)

3. **जन्मतो दशमे वाहि द्वादशे वाऽथ षोडशे।**
—(बृहस्पति वी० मि० सं० भा० 1, पृ० 258 से उद्धृत)

4 यजु० 25.21

5 यजु० 29 40

अन्य संस्कार

विद्यारम्भ संस्कार—जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता था, तब शिक्षा का आरम्भ विद्यारम्भ-संस्कार के साथ किया जाता था और उसे अक्षर सिखाए जाते थे। विश्वामित्र के अनुसार विद्यारम्भ-संस्कार बालक की आयु के पाँचवें वर्ष में किया जाता था।[1] किन्तु यदि किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियों के कारण इसे स्थगित करना पड़ जाता, तो उपनयन संस्कार के पूर्व किसी समय इसका किया जाना आवश्यक था।

इसके लिए उपयुक्त समय मार्गशीर्ष से ज्येष्ठ मास पर्यन्त था। आषाढ़ से कार्तिक तक विष्णु के शयन का समय माना जाता था, अतः इस समय विद्यारम्भ का अनुष्ठान निषिद्ध था।[2] वर्षा ऋतु में ही शिक्षा-सत्र आरम्भ होता था। सूर्य जब उत्तरायण में रहता था, उस समय कोई एक शुभ दिन संस्कार के लिए निश्चित कर लिया जाता था।[3] आरम्भ में बालक को स्नान कराया जाता और सुगन्धित पदार्थों तथा सुन्दर वेश-भूषा से उसे अलंकृत किया जाता था। तदनन्तर होम किया जाता था। गुरु, जो पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठता था, पश्चिम की ओर मुँह करके बैठे हुए बालक का अक्षरारम्भ करता था। रजतफलक पर केशर तथा अन्य द्रव्य बिखेर दिये जाते और सोने की लेखनी से उस पर अक्षर लिखे जाते थे। तब बालक गुरु का अर्चन करता था और गुरु बालक के लिखे हुए अक्षरों और उपर्युक्त वाक्यों को तीन बार पढ़ता था। अन्त में गुरु को एक पगड़ी या साफा भेंट किया जाता था।

उपनयन संस्कार—अथर्ववेद में उपनयन शब्द का प्रयोग 'ब्रह्मचारी को ग्रहण करने' के अर्थ में किया गया है।[4] यहाँ इसका आशय आचार्य के द्वारा ब्रह्मचारी की वेदविद्या में दीक्षा से है।

---

1 डॉ० राजबली पाण्डेय : 'हिन्दू संस्कार'

2 **अप्रसुप्ते जनार्दने विश्वामित्रः।** —(वही)
आषाढशुक्लद्वादश्यां शयनं कुरुते हरिः
निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः सम्पूज्यते हरिः॥ —(विष्णुधर्मोत्तर, वही)

3 **उद्गते भास्वति।** —(वसिष्ठ, वही)

4 **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त ।** (अथर्व० 11 5 3)

सूत्रकाल में भी विद्यार्थी द्वारा ब्रह्मचर्य के लिए प्रार्थना और आचार्य द्वारा उसकी स्वीकृति ही संस्कार के केन्द्रबिन्दु थे। किन्तु परवर्ती काल में उपनयन का रहस्यात्मक महत्त्व बढ़ने पर गायत्री मन्त्र द्वारा द्वितीय जन्म की धारणा ने विद्या में दीक्षा के मूल विचार को आच्छादित कर लिया। अब उपनयन का अर्थ हो गया : 'वह कृत्य जिसके द्वारा बालक आचार्य के समीप ले-जाया जाए।'[1]

मूलतः शिक्षा ही इसका प्रमुख प्रयोजन था और छात्र को आचार्य के समीप ले-जाने का कर्मकाण्ड गौण। याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन का सर्वोच्च प्रयोजन वेदों का अध्ययन करना है। 'महाव्याहृतियों से शिष्य का उपनयन कर गुरु को उसे वेद, आचार और शील (शौच) की शिक्षा देनी चाहिए।'[2]

ब्राह्मण का उपनयन आयु के आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष करना चाहिए।[3]

उपनयन संस्कार की अन्तिम सीमा ब्राह्मण के लिए सोलह, क्षत्रिय के लिए बाईस और वैश्य के लिए चौबीस वर्ष की आयु थी।[4] इसके मूल में निहित प्रयोजन समाज के समस्त युवकों को शिक्षित व जातीय संस्कृति से परिचित और परिष्कृत करना था। मनु के अनुसार 'यदि कोई व्यक्ति निर्धारित अन्तिम समय के पश्चात् भी अनुपनीत रह जाए, तो वह व्रात्य, सावित्री से पतित तथा आर्यसमाज में विगर्हित हो जाता है'।[5]

आरम्भ में उपनयन संस्कार अत्यन्त साधारण था। विद्यार्थी अपने हाथों में समिधा लेकर, जो इस तथ्य की सूचक थीं कि वह उसका शिष्य बनने तथा उसकी सेवा करने के लिए प्रस्तुत है,

---

1. **उप समीपे आचार्यादीनां वटोर्नीतिर्नयनं प्रापणमुपनयनम्।**
—(वी० सं०, भा० 1, पृ० 334 से उद्धृत)
2. **उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।**
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥ —(याज्ञ० स्मृ० 1.15)
3. पा० गृ० सू० 2.2; आ० गृ० सू० 1.19; शां० गृ० सू० 2.1; बौ० गृ० सू० 2.5, आप० गृ० सू० 11; गो० गृ० सू० 2.10; मनु० 2.36; याज्ञ० स्म० 1.11
4. पा० गृ० सू० 2.5, 36-38
5 मनु० 2 39

आचार्य के निकट जाता था।[1]

संस्कार सम्पन्न करने के लिए कोई शुभ समय नियत कर लिया जाता था। साधारणतः उपनयन उस समय होता था, जब सूर्य उत्तरायण में रहता था।[2] किन्तु वैश्य बालकों के लिए दक्षिणायन भी विहित था।[3]

संस्कार सम्पन्न होने के पूर्व उपनयन के लिए एक मण्डप का निर्माण किया जाता था। उपनयन के पूर्व रात्रि को बालक के शरीर पर हल्दी के द्रव्य का लेप किया जाता और उसकी शिखा से एक चाँदी की अँगूठी बाँध दी जाती थी। इसके पश्चात् उसे सम्पूर्ण रात्रि पूर्ण मौन रहकर व्यतीत करनी होती थी। यह एक रहस्यपूर्ण विधि थी जो बालक को द्वितीय जन्म के लिए प्रस्तुत करती थी। पीत लेप गर्भ के वातावरण का दृश्य उपस्थित करता तथा पूर्ण मौन अवाक् भ्रूण का सूचक था।

दूसरे दिन प्रातःकाल अन्तिम बार माता और पुत्र साथ-साथ भोजन करते थे। यह बालक के अनियमित जीवन के अन्त का सूचक था तथा बालक को यह स्मरण कराता था कि अब वह दायित्व-हीन शिशु नहीं रहा और अब से उसे व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना है। किन्तु यह माता और पुत्र की विदाई का भोज भी हो सकता है। वह दीर्घकाल के लिए उससे पृथक् होने भी जा रहा था। अतः माता का हृदय इस अवसर पर स्वभावतः भारी हो जाता था तथा बालक के प्रति अपने स्नेह की सर्वाधिक प्रभावकर व उच्चतम अभिव्यक्ति वह उसके साथ भोजन करके ही कर सकती थी।

भोज के पश्चात् माता-पिता बालक को उस मण्डप में ले जाते थे जहाँ आहवनीय अग्नि प्रदीप्त रहता था। मुण्डन के पश्चात् बालक को स्नान कराया जाता था। स्नान समाप्त होने पर बालक को अपने गुह्य अंगों को ढँकने के लिए एक कौपीन दिया जाता था। बालक के मन में सामाजिक चेतना का उदय पहले ही हो चुका

---

1. बृ० उ० 6.2.1
2. पा० गृ० सू० 2.2; आ० गृ० सू० 1.19
3. **दक्षिणे तु विशां कुर्यात्।** —(बृहस्पति वी० मि० सं० भा० 1 पृ० 354)

रहता था, किन्तु अब से उसे विशेष रूप से सामाजिक शिष्टाचार का पालन और अपनी शालीनता तथा आत्म-सम्मान का निर्वाह करना होता था। अतः उपनयन के अवसर पर भावी विद्यार्थी को उत्तरीय दिया जाता था क्योंकि इस समय से उसका वास्तविक धार्मिक जीवन आरम्भ होता था।

इसके पश्चात् आचार्य बालक को कटि के चारों ओर मन्त्र के साथ मेखला बाँध देता था। मेखला धारण करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत-सूत्र दिया जाता था। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी को अजिन (मृगचर्म) दिया जाता था। आचार्य ब्रह्मचारी को एक दण्ड (डंडा) भी देता था। दण्ड का प्रकार विद्यार्थी के वर्ण के आधार पर नियत था। ब्राह्मण का दण्ड पलाश का होता था, क्षत्रिय का उदुम्बर (गूलर) का तथा वैश्य का बिल्व का।

इसके पश्चात् आचार्य शिष्य के दाहिने कंधे की ओर पहुँचकर 'मैं अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी हो'[1] आदि शब्दों के साथ उसके हृदय का स्पर्श करता था।

आचार्य ब्रह्मचारी को अश्मा (शिला) पर भी आरूढ़ कराता था और कहता था 'इस अश्मा पर आरूढ़ हो, तू इसी के समान स्थिर हो।'

इतना सब करने के बाद ही आचार्य द्वारा विद्यार्थी की वास्तविक स्वीकृति का कृत्य आरम्भ होता था। इसके बाद विद्यार्थी को पवित्रतम सावित्री मन्त्र का उपदेश दिया जाता था। गायत्री मन्त्र के उपदेश के बाद यज्ञीय अग्नि को प्रथम बार प्रदीप्त करने तथा आहुति डालने का कृत्य किया जाता था।

इसके बाद ब्रह्मचारी भिक्षा माँगता था। यह सम्पूर्ण विद्यार्थी-जीवनपर्यन्त उसके निर्वाह के प्रमुख साधन भिक्षा का विधिवत् आरम्भ था। किन्तु, भिक्षा के इस कृत्य द्वारा विद्यार्थी के मन पर यह तथ्य अंकित करने का प्रयत्न किया जाता था कि समाज की एक अविच्छिन्न इकाई होने के कारण वह अपने निर्वाह के लिए सार्वजनिक सहायता पर निर्भर है तथा उसे उस समय तक समाज से

---

1 पार० कां० 2 कं० 2 16

अपना पोषण लेना चाहिए जब तक कि वह उसका अर्जन करनेवाला सदस्य न हो जाए।

वेदारम्भ संस्कार—उपनयन के पश्चात् वेदारम्भ संस्कार को सम्पन्न करने के लिए शुभ दिन निश्चित किया जाता था। तब गुरु लौकिक अग्नि की प्रतिष्ठा करता तथा विद्यार्थी को आमन्त्रित कर उसे अग्नि के पश्चिम में बैठाता था। उसके पश्चात् साधारण आहुतियाँ दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, छन्दस् तथा प्रजापति के लिए होम किये जाते थे।

केशान्त—यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था। चूड़ाकरण के समान ही दाढ़ी तथा सिर के बाल और नख जल में फेंक दिये जाते थे। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरु को एक गौ का दान करता था। संस्कार के अन्त में वह मौनव्रत का पालन तथा एक वर्ष पर्यन्त कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करता था।

समावर्त्तन—यह संस्कार ब्रह्मचर्य-व्रत के समाप्त होने पर सम्पन्न किया जाता था तथा विद्यार्थी-जीवन के अन्त का सूचक था। समावर्त्तन शब्द का अर्थ है—'वेदाध्ययन के अनन्तर गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन।' इसे स्नान भी कहते थे क्योंकि वह संस्कार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग था।

उक्त आरम्भिक विचारों के पश्चात् संस्कार के लिए कोई शुभ दिन चुन लिया जाता था। विधि-विधान एक अत्यन्त विलक्षण कृत्य के साथ आरम्भ होते थे। ब्रह्मचारी को अपने को प्रातःकाल एक कमरे में बन्द रखना पड़ता था। मध्याह्न में ब्रह्मचारी कमरे के बाहर आ गुरु के चरणों में प्रणाम करता तथा कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति प्रदान करता था। वहाँ जलपूर्ण आठ कलश रखे जाते थे। यह संख्या आठ दिग्भागों की सूचक थी और इससे यह प्रतीत होता था कि ब्रह्मचारी का शरीर तपस्या और व्रत की अग्नि में तप्त हो चुका है, अतः गृहस्थ के सुखी जीवन के लिए उसे शीतलता की अपेक्षा है जिसका प्रतीक स्नान था तथा जिसकी सूचना सहवर्ती ऋचाओं से मिलती थी।

इस गौरवमय स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड आदि (ब्रह्मचारी के समस्त बाह्य चिह्नों) को जल में फेंक देता तथा एक नवीन कौपीन धारण करता था। कुछ दधि और तिल का

भोजन कर वह अपनी दाढ़ी, केश तथा नखों को कटवाता। आभूषण, अंजन, कर्णपूर, उष्णीय, छत्र, उपानह और दर्पण (जिनका प्रयोग विद्यार्थी के लिए वर्जित था) अब उसे विधिवत् दिये जाते थे। जीवन की सुरक्षा के लिए उसे बाँस की छड़ी दी जाती थी।

विवाह-संस्कार—" 'विवाह' उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत, विद्या, बल को प्राप्त होकर सब प्रकार से शुभ गुण-कर्म-स्वभाव में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त होकर सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिए स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है।"[1] वैदिक पद्धति के विवाह में लड़का और लड़की दोनों का युवावस्था में होना आवश्यक है।[2] उत्तम सन्तान के लिए वर-वधू की आयु, कुल, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य की जानी चाहिए।[3] वर की आयु कन्या की आयु से कम से कम डेढ़ गुना एवं अधिक से अधिक दो गुना होनी चाहिए।[4] वैदिक संस्कृति समान गोत्र में एवं भाई-बहनों एवं निकट-सम्बन्धियों में विवाह स्वीकार नहीं करती। दो दूरवर्ती कुलों के सम्बन्ध से शरीर आदि की पुष्टि अधिक होती है, यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। दूसरे, इसका एक व्यावहारिक कारण यह भी है कि निकट सम्बन्धियों के विवाह में परस्पर प्रीति नहीं रह पाती। विवाह अपने-अपने वर्ण में होना चाहिए। किन्तु यह वर्णव्यवस्था गुण-कर्म के अनुसार ही माई गई है।[5] विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी,

---

1. स्वामी दयानन्द : 'संस्कार विधि', पृ० 109
2. (क) **तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।**
   स शुक्रेभिः शिक्वभीरेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु॥
   —(ऋग् 2.35 4)

   (ख) **तत्राषोडशाद् वृद्धिः आपञ्चविंशते यौवनम्।**
   पंचविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
   समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥ —(सुश्रुत)
3. मनु० 3.2, 4, 21, 27-34, 39-42
4. स्वामी दयानन्द : 'संस्कार विधि', पृ० 110
5. **धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।**
   अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥
   (2 5 10 11)

जितेन्द्रिय, यम–नियम के पालक व्यक्ति ब्राह्मण व ब्राह्मणी कहलाते हैं। बल, शौर्य, न्याय–कारित्व आदि गुणों से युक्त व्यक्ति क्षत्रिय–क्षत्रिया। कृषि, पशुपालन, शिल्प एवं व्यापार में दक्ष व्यक्ति वैश्य–वैश्या। विद्याहीन एवं उपर्युक्त गुणों से विहीन सेवा–कुशल व्यक्ति शूद्र–शूद्रा। इसी क्रम से विवाह होना चाहिए, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी से, क्षत्रिय का क्षत्रिया से, वैश्य का वैश्या से और शूद्र का शूद्रा के साथ।

विवाह का अर्थ है विशेष बन्धन। जिस बन्धन में पति और पत्नी आपस में बँधते हैं उससे उत्तम और दृढ़ कोई बन्धन नहीं होता। वेदमन्त्र में कहा गया है, ''मैं तुमको एक जुए में बाँधता हूँ।'' वस्तुतः पति और पत्नी एक जुए में जुते हुए दो बैल हैं। उन्हे दाम्पत्य प्रेम की अदृष्ट डोरी में बँधकर एक–साथ चलना पड़ता है।[1] ऋग्वेद कहता है, ''हे वर और वधू! तुम दोनों यहाँ ठहरो। एक–दूसरे से कभी अलग मत होओ। पूर्ण आयु भोगो, बच्चों और बच्चों के बच्चों के साथ खेलो। अपने घर में सुखी रहो।''[2]

ऋग्वेद के इस मन्त्र का विश्लेषण करें तो उसके निम्नलिखित तत्त्व स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ जाते हैं। वेद एक पत्नी और एक पतिवाद के नियम का अति दृढ़ता से प्रतिपादन करता है। दूसरी बात यह है कि पति और पत्नी में से किसी को शरीर और मन से ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिससे वैमनस्य या कटुता पैदा हो। तीसरी बात यह है कि विवाहित जीवन स्वस्थ बच्चों की सृष्टि में फूलता–फलता है। और, पारिवारिक जीवन की एकरूपता ही गृहस्थ का लक्ष्य होना चाहिए। स्थिरता, आत्म–संयम, प्रेम और आत्म–त्याग ऐसे गुण हैं जिनका सर्वोत्तम विकास एकमात्र वैवाहिक जीवन में ही हो सकता है। वैदिक ऋषियों ने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए कई प्रकार के उपायों की व्यवस्था की थी, जिनमें से सर्वप्रथम उपाय यह था कि समाज के व्यक्तियों के सामने वर

---

1. समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
2. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे (स्वस्तकौ)॥
(ऋग्० 10 85 42 अथर्व० 14 1 22)

और वधू पारम्परिक प्रेम और सद्भाव की प्रतिज्ञाएँ करते थे और विवाह के आध्यात्मिक अंग पर बल दिया जाता था। मधुरता के साथ दिये गए मधुर मधुपर्क को मधुरता के साथ ग्रहण करते समय वर जिन तीन मन्त्रों का उच्चारण करता है वे बहुत ही मधुर हैं। वह कहता है—"वायु के झकोरे मधुर हैं। सरिताओं का प्रवाह मधुर है। हमारे लिए सब ओषधियाँ माधुर्यपूर्ण हों। रात्रि मधुर है और प्रभात मधुर है। पार्थिव रज मधुर है। पितृवत् आकाश हमारे लिए मधुर हो, वनस्पति जगत् और सूर्य हमारे लिए मधुर हों, गौएँ हमारे लिए मधुर हों"[1] इसी प्रकार कन्यादान के पश्चात् वर वधू का हाथ ग्रहण करता है। तत्पश्चात् मिलकर वे आहुति के लिए वेदी पर आकर जिस मन्त्र का उच्चारण करते हैं वह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मन्त्र का भाव यह है कि "हे उपस्थित लोगो, हम दोनों के हृदय जल के समान मिल गए हैं। जैसे प्राणवायु प्रिय है वैसे ही हम एक-दूसरे से प्रसन्न रहेंगे।"[2] शिलारोहण के समय जब शिला पर वधू पैर रखती है तब वर कहता है : इस पत्थर पर चढ़ और चट्टान की तरह दृढ़ बन। शत्रुता उत्पन्न करनेवालों के प्रति दृढ़ बन। उपद्रवियों पर विजय प्राप्त कर। इस कन्या ने पितृ-कुल को छोड़कर पतिकुल को अंगीकार किया है। हम ईर्ष्या-द्वेष से पृथक् रहें।"[3] सप्तपदी की क्रिया में भी वर-वधू अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्रत धारण करते हैं—(1) "अन्न (जीविका के लिए) पहला पग उठा, मेरे व्रत में मेरा अनुसरण कर। परमात्मा तेरा मार्ग-दर्शक हो। हम सन्तानवान् हों। हमारी सन्तान उत्तम और दीर्घजीवी हो। (2) बल के लिए दूसरा पग रख। मेरे व्रत में मेरा अनुसरण कर, इत्यादि। (3) धन-समृद्धि के लिए तीसरा पग रख। मेरे व्रत...(4) सुख के

---

1. **मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥**
   मधुनक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥
   मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥
   (ऋग्० 1.90.6 8)
2. **ओ३म् समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।**
   सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥ —(ऋग्० 10.85.47)
3. **ओ३म् कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमव दीक्षामयष्ट।**
   कन्या उत त्वया वय धारा उदन्य ... द्विष (गो० 2 2 9)

लिए चौथा पग रख। (5) सन्तान के लिए पाँचवाँ पग रख। मेरे व्रत···(6) ऋतुओं की अनुकूलता के लिए छठा पग रख···(7) प्रगाढ़ प्रेम तथा मित्रता के लिए सातवाँ पग रख··· ।''[1] तदनन्तर वर-वधू परस्पर हृदय का स्पर्श करते हैं—''मैं अपने व्रत में तेरे हृदय को लगाता हूँ। मेरा चित्त तेरे चित्त के अनुकूल हो। मेरी बात को ध्यान से सुन! परमात्मा तुझे मेरे साथ संयुक्त करे।''[2] पति के घर आने पर पुनः पवित्र अग्नि के समक्ष पति उसके पारिवारिक अधिकारों को उसके अर्पण करता है, ''हे वरानने! तू मेरे पिता में, जो तेरा श्वसुर है, प्रीति करके चक्रवर्ती राजा की रानी के समान पक्षपात छोड़ के प्रवृत्त हो। मेरी माता में, जो तेरी सास है, प्रेम-युक्त होकर उसी की आज्ञा में सम्यक् प्रकाशमति रहा कर। जो मेरी बहन और तेरी ननद है उसमें भी प्रीति-युक्त हो और मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं उनमें भी प्रीति से प्रकाशमती और अधिकार-युक्त हो अर्थात् सबसे अविरोधपूर्वक प्रीति से वरता कर।''

इस प्रकार वैदिक गृहस्थ आश्रम का प्रारम्भ एक संस्कार से होता है, जिसमें पति-पत्नी दोनों अत्यन्त उदात्त व्रत धारण करते हैं तथा एक सुखी परिवार बनाकर सांसारिक भोगों का खूब आनन्द लेते हुए भी परस्पर सहयोग, सौहार्द्र, दया-करुणा आदि गुणों से पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों में माधुर्य की सृष्टि करते हैं।

वानप्रस्थ और संन्यास का वर्णन हम पंचम अध्याय में 'वर्णाश्रम-व्यवस्था' के सन्दर्भ में करेंगे।

अन्त्येष्टि—और जब जीवन समाप्त हो जाता था तब अन्तिम संस्कार 'अन्त्येष्टि' होता था। इस प्रकार वैदिक धर्म मानव के जन्म

---

1 (1) ओम् इषे एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः। (2) ओम् ऊर्जे द्विपदी भव सा मामनुव्रता भव (3) ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव सा···(4) ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव (5) ओं प्रजाभ्यः पंचपदी भव। (6) ओम् ऋतुभ्यः षट्पदी भव। (7) ओं सखे सप्तपदी भव सा माम्।

2. ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम ` जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥ (पार० 188)

लेने से पूर्व से ही उसे संस्कारित करना प्रारम्भ कर देता था। वेद मनुष्य-जीवन को महान् अवसर समझता है तथा इस अवसर का लाभ संस्कारों की पद्धति से नवमानव के निर्माण के रूप में करता है।

अष्टांग-योग

योगदर्शन में ब्रह्म-साक्षात्कार का उपाय अष्टांग योग बताया गया है। ये आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये आठों अंग वेद से ही ग्रहण किये गए हैं। सामवेद का एक मन्त्र है—

जज्ञानः सप्तमातृभिर्मेधामाशासत श्रिये।

(साम० आ० का० 101)

अर्थात् जब मनुष्य सात मंज़िलों (पड़ावों) को पार कर वहाँ पहुँचता है तो परमात्मा प्रकट हो जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा—ये छः मंज़िलें हैं। सातवीं मंजिल है—ध्यान। इस ध्यान की मंज़िल में पहुँचकर मनुष्य ईश्वर को देखता है—

तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। (मुण्डक० 3.1.8)

ध्यान में पहुँचा हुआ व्यक्ति उस परम पुरुष परमेश्वर को देखता है।

पतंजलिप्रोक्त यम-नियम भी वेदमन्त्रों के ही अनुसार हैं[1]—

अहिंसा—'मागामनागामदितिं बधिष्ट' में, **सत्य—'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्'** में, **अस्तेय—'मा वः स्तेन ईशत'** तथा '**न स्तेयमद्मि**' में, **ब्रह्मचर्य—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'** में, **अपरिग्रह—'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर'** में, **शौच—'शुचिः पुनानस्तन्वम्'** में, **सन्तोष—'एवावस्वः इन्द्र सत्य सम्राट्'** में, **तपः—'अभीद्धात्तपसो अध्यजायत'** तथा '**तपसा ये अनाधृष्या**' आदि में, **स्वाध्याय—संवत्सरं शशयानाः'** में, और **ईश्वर-प्रणिधान—'त्वामित् हि त्वायवो'** में मूलतः विद्यमान है। यहाँ केवल मन्त्रों का निर्देश किया गया है। वेद के अनेक मन्त्र इस

---

1. गुरुकुल-पत्रिका (वेदयोगांक) मार्च-अप्रैल, 1973, 'वेद और योग', डा० मुंशीराम शर्मा पृ० 316

प्रकरण में उद्धृत किये जा सकते हैं, क्योंकि यम-नियम जीवन-निर्माण की आधारशिला हैं। जीवन-निर्माण के साथ जीवन-उद्देश्य के दोनों पक्ष भोग और अपवर्ग भी इनके द्वारा सिद्ध होते हैं।

यम और नियम क्रमशः सामाजिक तथा वैयक्तिक उपलब्धियाँ हैं। दोनों का सह-प्रयोग वांछनीय समझा गया है। हमें केवल नियमों को ही जीवन में नहीं उतारना है, यमों का भी पालन करना है। व्यक्ति और समाज परस्परापेक्षी हैं। ये पक्षी के दो पंख हैं। जैसे एक पंख से पक्षी उड़ नहीं सकता, दोनों पंखों के फड़फड़ाने पर ही वह आकाश में उड़ता है, वैसे ही मानव शौच, सन्तोष के साथ जब अहिंसा, सत्य आदि का भी पालन करता है, तभी वह अपना विकास कर सकता है। पूर्वकालीन सभी साधक यम-नियम दोनों के सम्यक् धारण द्वारा ऊपर उठे थे, विघ्नों को दूर कर निरापद पुण्य लोक के निवासी बने थे। '**इमौ ते पक्षौ अजरौ पतत्रिणौ**' मन्त्र में इसी दिशा का संकेत है।

समाज-सापेक्ष आचरण को जितना अधिक संयत किया जाएगा, उतना ही अधिक वह साधक के लिए श्रेयस्कर होगा। योग का प्रथम अंग 'यम' समाज से सम्बद्ध इसी वैयक्तिक आचरण को संयत करने के लिए है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। 'अहिंसा' साधनपक्ष में तथा समाज की सापेक्षता में सर्वप्रथम स्थान पाती है। वेद में स्थान-स्थान पर द्वेषरहित होने की, सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने की तथा हिंसा न करने की बात आई है। वेद में यज्ञवाची अध्वर शब्द भी अहिंसावाचक है। अगला यम 'सत्य' है। दार्शनिक दृष्टि से समग्र सत्ताओं का आधार 'सत्य' ही है। विश्व-भर की व्यवस्थिति 'सत्य' पर ही अवलम्बित है : '**सत्येनोत्तभिता भूमिः**' तथा '**सत्यं बृहत्... पृथिवीं धारयन्ति**'। सामाजिक पक्ष में सत्य का तात्पर्य सत्य-व्यवहार से है। तनिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए जब मानव सत्य और न्याय का गला घोंटने लगता है, तब समाज में विक्षोभ का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। सत्य का व्यवहार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होना चाहिए। सत्य-विरहित व्यापार समाज में भ्रष्टाचार को प्रेरित करता है। अतः सामाजिक हित के लिए सत्य का व्यवहार परमावश्यक है 'अस्तेय' का भाव है किसी के अधिकार का अपहरण न करना।

सामाजिक मर्यादा भी यही है कि जिसने जो कमाया है, उसका वह स्वतन्त्रता से उपभोग कर सके। कमाए कोई और उपभोग कोई करे और वह भी कमानेवाले एवं समाज की आँख बचाकर—यह निस्सन्देह महापाप है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही कहा गया है—'**मा वः स्तेन ईशत्**'—चोर तुम्हारे ऊपर शासन न करे। सामाजिक पक्ष मे यह निर्देश शासक के प्रति है। शोषण द्वारा प्रजा का उत्पीड़न भी महापाप है। अध्यात्म-पक्ष में चौर्य का भाव है कि वह मुझे दबा न ले अर्थात् मेरी सत्ता पर हावी न हो जाए। चौर्य कर्म मुझे भीतर से लज्जित करेगा और बाहर समाज द्वारा लांछित कराएगा। पुरुषार्थ-साधन के लिए '**ब्रह्मचर्य**' का बहुत महत्त्व है। इसका सविस्तार विवेचन हम वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रसंग में करेंगे। 'अपरिग्रह' की वृत्ति भी समष्टि-हित के लिए आवश्यक है। जो धन एक स्थान पर परिग्रहीत है और इस प्रकार जिस धन से समाज का हित-सम्पादन नहीं हो रहा, वह असेवित धन व्यक्ति और समाज का ध्वंस करनेवाला है। धन समाज में संचरित होता रहे, इसी में उसका संरक्षण भी है। इसके लिए आवश्यक है कि धन एक स्थान पर परिग्रहीत न रहे, वैदिक संस्कृति में इसे ही '**यज्ञ**' की संज्ञा दी गई है। निखिल सम्पदा का स्रोत होते हुए भी परमात्मा परम अपरिग्रही है। उनके ब्रह्माण्डरूपी यज्ञ में दान ही दान है।

यम के ये पाँच अंग साधक को बाहर से सुरक्षित करते हैं और आन्तरिक विकास की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ा देते हैं। सामाजिकता से सुरक्षित अपरिग्रह की दृढ़ आधारभूमि पर स्थित होकर अब वे परिमार्जन की अन्तःभूमि में प्रवेश कराते हैं। इसमें उसे पाँच सीढ़ियाँ और चढ़नी हैं। ये पाँच अंग हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान।

'धारणा' और 'ध्यान' के लिए '**यदाकूतात् समसुस्त्रोत् हृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा**' मन्त्र उपयोगी सामग्री प्रदान करता है। यदि हम किसी संकल्प, भाव, विचार या दृष्टि-बिन्दु पर चित्त को बाँध सकें और प्रत्यय के साथ एकतान हो सकें, तो 'समाधि' की अवस्था को प्राप्त कर लेंगे, व्युत्थान से निरोध में जा सकेंगे। जैसे भूतों और इन्द्रियों में एकाग्रता के साथ धर्मलक्षण और अवा
से होते रहते हैं वैसे ही चित्त मे भी व्युत्थान या

सर्वार्थता का शमन या क्षय और निरोध या एकाग्रता का उदय होता रहेगा। एक का तिरोभाव और दूसरे का आविर्भाव चित्त के साथ एक हो जाने के लिए आवश्यक है।

आसनों का भी अपना महत्त्व है। 'आसन' वह स्थिति है जिसमें शरीर को सुस्थिर रखते हुए सुखपूर्वक योगाभ्यास के काल में बैठा जा सके। सिद्धासन तथा पद्मासन अपेक्षाकृत सुगम हैं; योगदर्शन तो '**स्थिरसुखमासनम्**' कहकर आसन को स्थिर सुख देनेवाला ही मानता है, जो प्रयत्न-शैथिल्य तथा आनन्त्य भावना से सिद्ध होता है और द्वन्द्वों की चोट से रक्षा करता है।

प्राण शरीर में सर्वाधिक महत्त्वशाली है। इस प्राण को स्वायत्त करना 'प्राणायाम' का कार्य है। पतंजलि के योगदर्शन में श्वास-प्रश्वास के गति-विच्छेद को प्राणायाम की संज्ञा दी गई—जो बाह्यान्तर-स्तम्भवृत्ति, देश-काल-संख्या से परिदृष्ट, दीर्घ-सूक्ष्म तथा बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी नामों से चार प्रकार का है। प्राणायाम से प्रकाश का आवरण क्षीण होता है और धारणाओं में मन की योग्यता सिद्ध होती है। अथर्ववेद में अनेक मन्त्र प्राण की महिमा का वर्णन करते हैं।

'प्रत्याहार' का मुख्य लक्ष्य इन्द्रियों को वश में करना है। इन्द्रियाँ करण हैं जो आन्तरिक तथा बाह्य दो भागों में विभक्त हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार अन्तःकरण हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ बाह्यकरण हैं। बाह्यकरण यदि अश्व हैं, तो मन प्रग्रह (बागडोर) और बुद्धि सारथी हैं। शरीर रथ है। **सुषारथिरश्वानिव** (यजु० 34.6) में ऐसा ही रूपक बाँधा गया है।

'धारणा' और 'ध्यान' का संकेत गायत्री के '**धीमहि**' शब्द में वर्तमान है और 'समाधि' की अवस्था का चित्र '**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**' मन्त्र में उपस्थित है। चित्त का देशविशेष में बाँध देना धारणा है। ध्यान में मन एकदम निर्विषय हो जाता है, किन्तु स्वरूप-ज्ञान बना रहता है। समाधि में स्वरूप की शून्यता हो जाती है। धारणा-ध्यान-समाधि तीनों का एक सहवर्ग है। योगजन्य समाधि में जब चित्त निर्मल हो जाता है, तब जो आनन्दानुभूति होती है वह वाणी का विषय नहीं है—"**न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्त-करणेन गृह्यते॥**"

चौथा अध्याय

वैदिक आचारशास्त्र एवं मानववाद

आधारभूत सिद्धान्त एवं उदात्त भावनाएँ

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वेद में वर्ग-संघर्ष, बर्बरता, स्त्री-अपहरण, व्यभिचार, भ्रूणहत्या तथा धोखा, चोरी, डकैती, मांस-भक्षण और सुरापान आदि बातों को सिद्ध करने का भरसक प्रयास किया है। किन्तु वेद का अनुशीलन इन बातों को सर्वथा मिथ्या प्रमाणित कर देता है। आत्मा, परमात्मा, ऋत और सत्य की पूजा करनेवाले, वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति पर समाज की संरचना करनेवाले, अपनी आत्मा में सब प्राणियों के और सब प्राणियों में अपनी आत्मा के दर्शन करनवाले ऋषि-मुनि किसी प्रकार की संकीर्णता, जातिवाद या वर्ग-संघर्ष का षड्यन्त्र रचें अथवा दुराचारों की शिक्षा दें या उनमें प्रवृत्त हों, यह सोचना ही तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। वेद में तो विशुद्ध मानववाद का दिव्य सन्देश है। वेद में मनुष्य के सच्चे विकास के लिए, उसके आत्मिक बल के लिए, बहुत उदात्त आचारशास्त्र का संकलन है। वेद परमपिता परमेश्वर को सब प्राणियों का पिता घोषित कर प्राणिमात्र के प्रति समदृष्टि की भावना उत्पन्न करता है। वेद की दृष्टि में परमेश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वनियन्ता है। उसके नियम अटल हैं। सदाचार एवं समष्टि-भावना से ही व्यक्ति आत्म-दर्शन करके ब्रह्म-साक्षात्कार कर सकता है।

वेद   को अमृत पुत्र घोषित करता है

अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय (ऋग्वेद 5.60.5)। वैदिक संस्कृति सदाचार को जितना महत्त्व प्रदान करती है, उतना अन्य उपादानों को नहीं। वेद कहता है, 'दुराचारी व्यक्ति ऋत के पथ को पार नहीं कर सकता'—'**ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः**'। स्वर्ग या ज्योति की ओर ले-जानेवाला देवयान-मार्ग सुकृति अर्थात् सदाचारी व्यक्ति के लिए ही है—'**स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः**'। वेद में प्रार्थना है कि 'हे सर्वाग्रणी देव! आप सबके नियन्ता हैं। मुझे दुश्चरित से पृथक् करो और सब ओर से सदाचार का भागी बनाओ। मैं अमर देवों का अनुकरण करूँ तथा दीर्घ आयुष्य, शोभन जीवन लेकर ऊपर उठ जाऊँ'—"**परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतांऽअनु॥**" (यजु० 4 28) इस प्रकार वेद समता, भ्रातृभाव, विश्व-बन्धुत्व सम्बन्धी शिक्षाओं तथा सदाचार की शिक्षाओं का विश्वकोष ही सिद्ध होता है।

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति अपने ग्रन्थ 'वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र' में वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र (Ethics) के आधारभूत मूल सिद्धान्तों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं—

1. "परमेश्वर सब प्राणियों का एक ही पिता है।" अतः हम सबको परस्पर भ्रातृभाव तथा मित्रता की दृष्टि धारण करनी चाहिए। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए प्राणियों की हिंसा करना अनुचित है। द्वेषभाव को दूर करके प्रेमभाव की वृद्धि करनी चाहिए।
2. "परमेश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है।" उसकी अध्यक्षता में सार्वभौम अटल नियम कार्य कर रहे हैं। इनके पालन करने से ही मनुष्यमात्र का कल्याण हो सकता है। इनका उल्लंघन करना अपने को आपत्तियों के मुँह में डालना है।
3. "मनुष्य-जीवन का उद्देश्य दिव्य-शक्ति, दिव्य-शान्ति, दिव्य-ज्योति, दिव्य-आनन्द अथवा मोक्ष प्राप्त करना है।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना तथा निष्काम शुभ कर्मों का अनुष्ठान (यज्ञ) करना मुख्य साधन है।
4 "आत्मा दिव्य शान्ति सम्पन्न अमर है और शरीर मन

एवं बुद्धि का अधिष्ठाता है।" सब प्राणियों में आत्मौपम्य दृष्टि धारण करते हुए व्यवहार करना चाहिए। आत्मा के अन्दर काम, क्रोधादि शत्रुओं को वश में करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, उसे ईश्वर-भक्ति, आत्म-विश्वासादि द्वारा विकसित करते हुए पवित्र जीवन बनाना चाहिए।

5. "कर्म-नियम संसार में कार्य कर रहा है।" किये हुए कर्म के फल से कोई अपने को बचा नहीं सकता। परमेश्वर कर्म-फलदाता है। प्रार्थना आदि का उद्देश्य भावी पाप से अपने को मुक्त करना है।
6. "प्रत्येक व्यक्ति को सदा अन्धकार से प्रकाश, मृत्यु से अमृत और पाप से पुण्य-मार्ग की ओर आने का यत्न करना चाहिए।" इसके लिए दृढ़ निश्चय अत्यावश्यक है।
7. "शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का समविकास होना चाहिए।" इनमें से किसी एक ही शक्ति का विकास होना पर्याप्त नहीं। समविकास ही उन्नति का मूलमन्त्र है।
8. "व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में लगभग एक-जैसे अटल नियम, व्यापक नियम कार्य कर रहे हैं।" व्यक्ति और समाज का अटूट सम्बन्ध समझते हुए व्यक्ति को अपनी शक्तियाँ समाज की सेवा में लगा देनी चाहिएँ।
9. "बाह्य और आन्तरिक स्वाधीनता अथवा स्वराज्य को प्राप्त करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है।" स्वतन्त्रता में ही आनन्द है तथा परतन्त्रता में दुःख है। अतः स्वतन्त्रता का संरक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति का तथा समाज का 'मुख्य धर्म' है।
10. "कर्त्तव्य का निर्णय ईश्वरीय ज्ञान, वेद तथा पवित्र अन्तःकरण की साक्षी से हो सकता है।" सदाचारादि भी उसमें सहायक हैं।
11. "सत्य ही के कारण इस पृथिवी का धारण हो रहा है।" सत्य, यश और श्री इन तीनों को उत्कृष्ट समझते हुए सत्य-रक्षा के लिए सर्वस्व तक अर्पण करने को उद्यत रहना चाहिए।
12 'परमेश्वर को सदा अपना रक्षक समझते हुए प्रत्येक

व्यक्ति को अपने अन्दर पूर्णरूप से निर्भयता धारण करनी चाहिए।''[1]

अब हम वेद में उपलब्ध आचारशास्त्र एवं नैतिकता आदि से सम्बन्धित वेद के मर्मस्पर्शी प्रसंगों को उपस्थित करते हैं।

प्राणिमात्र में मित्रदृष्टि

वेद में उद्घोषपूर्वक कहा गया है कि मैं, मनुष्यों-समेत सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें—

"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (यजु० 36.18)

अथर्ववेद में गौओं, जगत् के अन्य प्राणियों एवं मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना की गई है—

स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। (अथर्व०1.31.4)

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है—

प्रभु हमारे दोपाये और चौपाये पशुओं के लिए कल्याणकारी और सुखदायी हों—

शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। (यजु० 36.8)

इस प्रकार यहाँ दोपाये मनुष्य और पक्षी आदि तथा चौपाये पशुओं की कल्याण-कामना की गई है।

अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थल पर कामना की गई है कि भगवन्! ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ—

"यांश्च पश्यामि यांश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि। (अथर्व० 17.1.17)

समता एवं समष्टि की भावना

ऋग्वेद में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से कहा है कि ये सब मनुष्य भाई हैं, इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुए सब ऐश्वर्य व उन्नति के

---

1 धर्मदेव विद्यावाचस्पति : 'वैदिक कर्तव्यशास्त्र'. पृ० 2-4

लिए मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढ़ते हैं—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥ (ऋग्० 5.60.5)

इससे पूर्व के मन्त्र में भी कहा है कि "सब मनुष्य समान हैं, उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं, और कोई मध्यम भी नहीं। ये अपनी शक्ति से ऊपर उठते हैं। ये महत्त्वाकांक्षा से बढ़ते हैं। ये जन्म से कुलीन, दिव्य मर्त्य हैं"—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्य्या आ नो अच्छा जिगातन॥ (ऋग्० 5.59.6)

इस मन्त्र का देवता 'मरुतः' है जिसका मनुष्यवाची होना "**यद् यूयं पृश्निमातरो मर्त्तासः स्यातन।**" (ऋग्० 1.38.4), "**नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः। सत्यश्रुतः कवयो युवानः**" (ऋग्० 5.57.8), "**परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः**" (ऋग्० 5.61.4) इत्यादि में जहाँ नर, मर्य, मर्त आदि मनुष्यवाचक शब्दों तथा **युवानः** (युवक), **भद्रजानयः** (जिनकी अच्छी स्त्रियाँ) इत्यादि विशेषणों से स्पष्ट है, वहाँ श्री सायणाचार्य ने भी "**मनुष्यरूपा वा मरुतः**" इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट स्वीकार किया है।[1] एक ऋचा में कहा है " सब चलनेवालों का मार्ग पर समान अधिकार है"—

समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे। (ऋग्० 2.13.2)

अन्यत्र कहा है "सबका कल्याण सोचो, चाहे शूद्र हो चाहे आर्य"—

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।
(अथर्व० 19.62.1)

ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त (10.191) समता का अत्यन्त दिव्य वर्णन प्रस्तुत करता है—

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥

---

1. धर्मदेव विद्यावाचस्पति : 'वैदिक कर्तव्यशास्त्र', पृ० 7

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

अर्थात्—"हे भगवन्! समस्त सुखों के बरसानेवाले! हे ज्ञान के प्रकाश प्रभो! तू सबका प्रेरक होकर समस्त प्राणियों और समस्त तत्त्वों को मिलाता है। तू भूमि पर अग्नि के तुल्य इस अन्न के बने देह में आत्मा के तुल्य, वाणी के परम प्राप्तव्य, ज्ञातव्य पद ओंकार रूप में प्रकाशित होता है। वह तू हमें नाना ऐश्वर्य और लोक प्राप्त करा। हे मनुष्यो! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो। विरोध छोड़कर एक-समान वचन कहो। आप लोगों के सब मन एक-समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पहले के विद्वान्-जन सेवनीय और मनन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुए अच्छी प्रकार उपासना करते रहे हैं, उसी प्रकार आप लोग भी ज्ञान-सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न का सेवन और उपास्य प्रभु की उपासना करो। इन सब का वचन एक और विचार एक-समान हो। परस्पर संगति, मेल-जोल भी एक-समान, भेद-भाव से रहित हो। इनका मन एक-समान हो। इनका चित्त एक-दूसरे के साथ मिला हो। मैं आप लोगों को एक-समान विचारवान् करता हूँ और एक-समान अन्नादि पदार्थ प्रदान कर आप लोगों को पालित-पोषित करता हूँ। आप लोगों के संकल्प और भाव-अभिप्राय एक-समान रहें। आपके हृदय एक-समान रहें। आप लोगों के मन समान हों जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोगपूर्वक अच्छे प्रकार हो सके।"

"सम-भावना की प्रेरणा देनेवाला यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें सब जनों की क्रियाओं, गति, विचारों और मन-बुद्धि के पूर्ण सामंजस्य की प्रेरणा दी गई है। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इस सूक्त में प्रार्थित समान विचारोंवाली विवाद-रहित सभा समाज का कितना उत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत करती है सभी सभासदों को एक सा जन का

दृष्टिकोण असन्दिग्ध रूप से राष्ट्र को उन्नति की ओर ले-जाता है। आज हमारे देश में और समस्त विश्व में इस भावना की और अधिक आवश्यकता है।''[1]

परिवार के सदस्यों में सौमनस्य

वेदों में सौमनस्य-सूक्तों में गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में जो उदात्त भाव प्रकट किए गए हैं, वे भी वैदिक धारा की महान् निधि हैं।

''इनमें सभी जनों में समभाव, परस्पर सौहार्द्र की भावना व्यक्त की गई है। यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि परिवार के सभी सम्बन्धी प्रेमपूर्वक मिलजुलकर रहें, क्योंकि समाज का मूल परिवार ही है। सब एक-दूसरे से मधुर-वाणी में बोलें और सबके मन एक-समान हों। उनमें एक-दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति हो। यह सौमनस्य प्रत्येक काल में रहे जिससे समाज में कलह न हो और सब कार्य सुचारु रूप से चलते रहें, फलतः राष्ट्र उन्नति करे और समृद्धि की प्राप्ति हो। स्नेह और सौहार्द्र का यह सन्देश आज के स्वार्थपरक युग में और भी आवश्यक है[2]—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

---

1. डॉ० कृष्णलाल : ''वैदिक संग्रह'', पृ० 173
2 डॉ० वैदिक सग्रह पृ० 189

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवनेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥
(अथर्व० 3.30.1-7)

अर्थात्—"मैं तुमको समान हृदयवाला बनाता हूँ। मैं तुम्हें विद्वेष से मुक्त करता हूँ। तुम एक-दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है। पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता के साथ प्रीतियुक्त मन वाला हो। पत्नी अपने पति के साथ द्वेष न करे। भाई-बहिन भी परस्पर द्वेष न करें। वे सब मंगलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ सुखदायक प्रेमपूर्वक संभाषण किया करें। जिस प्रकार के व्यवहार से विद्वान् लोग परस्पर पृथक् भाव वाले नहीं होते और परस्पर कभी द्वेष नहीं करते, मैं उसी व्यवहार को तुम्हारे घर के लिए निश्चित करता हूँ। तुम लोग परस्पर प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते हुए धनैश्वर्य को प्राप्त होवो। आपस में वैर-विरोध मत होने दो। अपने सम्मान की रक्षा करो। अपने व्यवहार में सावधान रहो। एक-दूसरे के ऐश्वर्य में वृद्धि करो और पहिये के अरों के समान मिलकर घूमो। एक-दूसरे से मीठे वचन बोलते हुए अपना योग-क्षेम करो। तुम मिलकर और एक मन वाले होकर काम करो। एक-साथ मिलकर पिओ और एक साथ मिलकर खाओ। मैं तुमको एक-साथ प्रेम-सूत्र में बाँधता हूँ। जिस तरह पहिये के अरे एक केन्द्र के चहुँ ओर घूमते हैं, उसी तरह तुम गृहस्थरूपी केन्द्र के चारों ओर प्रेममय व्यवहार करते हुए वरतो। तुम एक मन वाले होकर एक-साथ काम करो। तुम्हारे आदर्श समान हों। तुम मिलकर यत्न करनेवाले बनो। बुद्धिमान् व्यक्तियों की तरह अपने उत्तम समाज और राष्ट्र के हितों की रक्षा करो। प्रातः और सायं तुम्हारे मन में शुभ भाव रहे तथा प्रसन्नता का सदा निवास हो।"

प्रथम मन्त्र में हृदय की समानता, मन की समानता और विद्वेष-शून्यता की जो उपमा दी गई है, उससे अधिक उपयुक्त उपमा इस प्रसंग में और कोई नहीं हो सकती। नवजात बछड़े के साथ गौ पूर्णतया एकरूप होती है। बछड़े का तनिक-सा कष्ट भी मानो उसका अपना कष्ट होता है। यह समानता केवल शारीरिक नहीं है, हार्दिक और मानसिक है दूसरे मन्त्र का आशय है कि समाज में सम भावना का

आधार परिवार है, अतः माता–पिता के प्रति सन्तति का स्नेह और आज्ञाकारिता उसका प्रथम चरण है। इसी प्रकार जिस घर में पति और पत्नी में मधुर सम्बन्ध नहीं होगा, वहाँ समाज में भी उसका प्रतिफल लक्षित होगा। घरेलू असन्तोष से व्यक्ति बाहर के वातावरण को अनायास ही प्रभावित करता है। तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि भाई–बहिन का स्नेह परिवार की दृढ़ता के लिए आधार का कार्य करता है। परिणामस्वरूप वे साथ–साथ चलते हुए, समान नियमों का पालन करते हुए, मधुर और सभ्य वाणी बोलते हुए समाज को उन्नति तथा सौमनस्य की ओर ले जाते हैं। चौथे मन्त्र का भाव है— मनुष्य यदि परस्पर झगड़ते हैं तो दैवी शक्तियाँ भी मानो कलहरत हो जाती हैं अर्थात् उन शक्तियों से जो कुछ प्राप्त होता है, मनुष्य शान्तिपूर्वक उसका उपभोग नहीं कर सकता। पुरुषों में समान ज्ञानवाली बुद्धि हो तो देवता अर्थात् दैवी शक्तियाँ विमुख नहीं होतीं, अर्थात् उनसे प्राप्त द्रव्यों का पुरुष सुखपूर्वक उपभोग करके समभाव से आनन्द को प्राप्त करते हैं। पाँचवें मन्त्र में मिलकर साथ–साथ कर्म करने का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। सबको स्वार्थ छोड़कर केवल एक उद्देश्य अपने सम्मुख रखकर कार्य करना चाहिए। तभी कठिन–से–कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। राष्ट्र की उन्नति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। छठे मन्त्र में कहा गया है कि साथ–साथ खाना–पीना, उठना–बैठना हार्दिक सम्बन्ध का भी आधार होता है। प्रायः निकटता प्रकट करने के लिए साथ बैठकर खाना–पीना होता है। इसी प्रकार एक प्रकार के विचारों के व्यक्ति विविध प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ होने पर भी अग्नि की सपर्या अर्थात् ईश्वर की पूजा में एक–साथ मिल जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे विविध दिशाओं में निकली हुई पहिये की अराएँ एक ही केन्द्र–बिन्दु में मिली हुई होती हैं। सातवें मन्त्र में भी कहा गया है कि साथ–साथ चलने, कार्य करनेवाले, एक–समान गतिवाले जनों का मन स्वाभाविक रूप से समान हो जाता है। अमरत्व या दीर्घायुष्य की रक्षा करती हुई दिव्य शक्तियों का मनोभाव जिस प्रकार एक–जैसा शुभ होता है, उसी प्रकार समान भावना वाले, देशहित के एक उद्देश्य में निरत जनों का मनोभाव भी शुभ हो।[1]

---

1 डा० वैदिक संग्रह पृ० 188 95

मानव-कल्याण की भावना

ऋग्वेद में कहा गया है कि मनुष्य को मनुष्य की सब ढंग से रक्षा और सहायता करनी चाहिए "**पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः**" (ऋग्० 6.75.14)।

अथर्ववेद में भी कहा है कि आओ, हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो—

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।

(अथर्व० 3.30.4)

वेद इस तथ्य से अपरिचित नहीं है कि मनुष्यों के विभिन्न वर्गों में अनेक प्रकार के विरोध या संघर्ष रहते ही हैं।

पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानाम्। (ऋग्० 3.18.1)

"ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद—इन पाँचों प्रकार के मानव-संघों का हित करना 'पांचजन्य' शब्द ने वेद में बताया है। इसी प्रकार नरों का जो हित करता है वह '**नर्य**' (**नरेभ्यः हितः**) कहलाता है।[1]

त्वम् आविथ नर्यम्। (ऋग्० 1.54.6)

तू नरों का हित करनेवाले का संरक्षण करता है।

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु।

(ऋग्० 1.166.10)

वीरों के बाहु मानवों का हित करनेवाले हैं और उन बाहुओं में बहुत कल्याण करनेवाले सामर्थ्य हैं।

इन्द्राय···नरे नर्याय नृतमाय नृणाम्।

(ऋग्० 4.25.4)

यह इन्द्र नेता है (**नरे**) अर्थात् लोगों को सन्मार्ग से ले चलता है, मानवों का हित करता है (**नर्याय**) और मानवों में सर्वश्रेष्ठ है (**नृणां नृतमाय**)।

सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव।

(ऋग्० 9.105.5)

मित्र जिस प्रकार मित्र का सहायक होता है वैसा तू सब मानवों

---

1 सातवलेकर : "जनता का हित करने का कर्तव्य", पृ० 2

का हित करनेवाला बन और उनका तेज बढ़ा।

नृणां नर्यो नृतमः। (ऋग्० 10.29.1)

मानवों में श्रेष्ठ मनुष्य मानवों का हित करता है।

इसी प्रकार वेद में '**मर्य**' का प्रयोगार्थ भी मनुष्यों का हितकारक है। आचार्य सायण को भी यही अर्थ अभिप्रेत है—'**मर्या मनुष्येभ्यो हिताः**' (ऋग्० 5.53.3)।

''इस तरह 'पांचजन्य, नर्य और मर्य' इन पदों से जनहित करने का व्रत जीवन में ठान लेने का उपदेश किया गया है। केवल 'सार्वजनिक हित' इतना ही न कहते हुए वेद ने कहा है 'पंचजनों का हित करो, नरों का हित करो, मर्त्यों का हित करो।' बात एक ही है—सब मानवों का हित करने का उद्देश्य है, परन्तु उसमें कितनी बारीकी वेद में कही है—यह विचार की दृष्टि से देखने का यत्न यहाँ करने की आवश्यकता है।''[1] वेद की दृष्टि में ऋषि वही है जो मनुष्यों का हितकारी है—

ऋषिः स यो मनुर्हितः। (ऋग्० 10.26.5)

अकेला खाना पाप है

वेद में सहभाव के लिए सहभोजन पर बहुत बल दिया गया है। अथर्ववेद में कहा है—**सहभक्षाः स्याम** (अथर्व० 6.47.1) अर्थात् हम मिलकर खान-पान करनेवाले हों। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी कहा है '**सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे**' (यजु० 18.9) अर्थात् अपने साथियों से सह-पान और सह-भोज मुझे प्राप्त हों।

वेद कहता है **केवलाघो भवति केवलादी** (ऋग् 10.117.6) अर्थात् अकेला खानेवाला व्यक्ति पाप को ही भोगता है। संसार में भूखे ही मरते हों, ऐसा नहीं है। भरे पेट मनुष्य भी तो मर जाते हैं। अनेक व्यक्ति तो अधिक खाने से ही मर जाते हैं। इसलिए वेद में कहा गया है—विद्वानों ने भूख को ही वध नहीं माना, क्योंकि खा चुके हुए मनुष्य के पास भी मृत्युएँ नाना रूप में प्राप्त होती हैं तथा दूसरे को निज अन्न आदि धन से तृप्त करते हुए का अन्न आदि धन क्षीण नहीं होता, अपितु दूसरे की तृप्ति या

---

1 जनता का हित करने का कर्त्तव्य पृ० 17

बुभुक्षा–शान्ति न करता हुआ व्यक्ति सुख देनेवाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता।[1] जो अन्नवाला होता हुआ भी दरिद्र या अपाहिज के लिए, रोग आदि के द्वारा पीड़ित व्यक्ति के लिए, शरणागत कृश व्यक्ति के लिए तथा अन्न की कामना करते हुए विद्वान् भिक्षु के लिए अपने मन को ढीठ बनाए रखता है और स्वयं ही प्रथम अन्न का सेवन करता है, वह सुखदाता परमात्मा को प्राप्त नहीं करता।[2] (यहाँ वेद में चार प्रकार के व्यक्तियों को अन्न आदि देने का पात्र बतलाया है तथा कहा है कि जो इन चारों में से किसी को भोजन न देकर इनसे पूर्व खा लेता है वह सुख देनेवाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता।) वेद कहता है कि वह मित्र नहीं, जो साथ रहनेवाले सखा के लिए अन्न नहीं देता है। उसका मित्र उससे अलग हो जाता है और यह मानता है कि वह रहने का स्थान नहीं है। वह अन्य सद्भाव से तृप्त करनेवाले अपरिचित व्यक्ति तक को चाह सकता है।[3] इस प्रकार जो व्यक्ति समय पर काम आनेवाले अपने मित्र का अन्न आदि से यथावसर स्वागत–सत्कार नहीं करता या अवसर पड़ने पर प्रेमपूर्वक खाने–पीने का आग्रह नहीं करता, ऐसे शुष्क व्यक्ति से उसका मित्र अलग हो जाता है। इस प्रकार वह व्यक्ति एक दिन सब मित्रों से वंचित हो जाता है।[4]

वेद आज्ञा देता है कि समृद्ध व्यक्ति को याचना करते हुए सुपात्र अतिथि आदि को तृप्त करना ही चाहिए। उसे उदारता के मार्ग को समझना चाहिए क्योंकि धन–सम्पत्तियाँ रथ के पहियों की भाँति सदा

---

1 न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥ 1॥

2 य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विदन्ते॥ 2॥

3 स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ 3॥

4 न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ 4॥

(ऋग्० 10 117 1 4)

आवर्तन किया करती हैं तथा अन्य व्यक्तियों के पास आती-जाती हैं।[1] (सचमुच जैसे गाड़ी के पहिये अभी यहाँ और अभी वहाँ इस प्रकार भूमियाँ बदला करते हैं, ऐसे ही सम्पत्तियाँ भूमियाँ बदला करती हैं। देखते ही देखते करोड़ोंपति कंगाल बन जाते हैं और कंगाल करोड़पति बन जाते हैं। अतः जब भी धन प्राप्त हो, उसका सदुपयोग कर यश प्राप्त करना चाहिए।) वेद कहता है कि "बेसमझ व्यक्ति व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। सच कहता हूँ वह अन्न उसके लिए घातक ही है जो अपने अन्न से न तो ईश्वरोपासक पूजनीय विद्वान् का पोषण करता है और न ही बन्धु-बान्धवों का। ऐसा वह मात्र स्वयं खानेवाला नितान्त पापी होता है।"[2]

ऋत और सत्य की भावना

"वैदिक नैतिक भावनाओं का मौलिक आधार ऋत और सत्य का व्यापक सिद्धान्त है। बाह्य जगत की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को 'ऋत' कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सब का आधार 'सत्य' है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ़कर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है।[3] वेद में 'ऋत' और 'सत्य' की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन अनेक स्थानों पर पाया जाता है। यथा—

---

1. **पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।**
   ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्ते रायः॥ 5॥
2. **मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।**
   नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ 6॥
   —(ऋग्० 10.117.5-6)
3. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : "भारतीय संस्कृति का विकास", पृ० 74-75

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋतस्य दृळहा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥

(ऋग्० 4.23.8,9)

अर्थात् "ऋत अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है। ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है। मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देनेवाली ऋत की कीर्ति बहिरे कानों में भी पहुँच चुकी है। ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं, विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत मूर्तिमान् हो रहा है। ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है, ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं। जैसे गाएँ बछड़ों के स्थानों को वैसे ही सत्य आचरण से उत्तम शिक्षित वाणियाँ सत्य ब्रह्म को प्राप्त होती हैं।"

इसी प्रकार वेद में सत्य की महिमा का व्याख्यान करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार द्युलोक का धारण बाह्य लोक से सूर्य द्वारा हो रहा है, वैसे ही वास्तविक रूप से इस भूमि का धारण सत्य से ही हो रहा है—

सत्येनोत्तभित्ता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।

(ऋग्० 10.85.1)

वस्तुतः यदि इस संसार से सत्य को समाप्त कर दिया जाए तो कोई किसी पर भी विश्वास न करे तथा इस प्रकार सब लोक-व्यवहार ही समाप्त हो जाए, अतः सत्य पर ही भूमि का आधार है। यह वैदिक उपदेश पूर्णतः यथार्थ है। अथर्ववेद के भूमि-सूक्त मे भी पृथिवी के धारण करनेवाले पदार्थों में सर्वप्रथम सत्य का ही परिगणन किया गया है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

(अथर्व० 12.1.1)

यजुर्वेद में कहा गया है कि सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है; अश्रद्धा की अनृत या असत्य में है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

(यजु० 19 77)

अन्य मन्त्र में कहा गया है : व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने आदर्शों में श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजु० 19.30)

ऋग्वेद में कहा गया है कि उत्तम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले पुरुष के लिए सत्य और असत्य वचन एक-दूसरे का मुकाबला करते हुए पहुँचते हैं। उन दोनों में से जो सच और जो एक सरल वचन है, सौम्य गुण युक्त पुरुष उसकी रक्षा करता है; और जो असत्य वचन है उसका सर्वथा नाश कर डालता है—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसो पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

(ऋग्० 7.104.12)

इसलिए प्रार्थना की गई कि "मैं वाणी में सत्य को प्राप्त करूँ"—

वाचः सत्यमशीय। (यजु० 39.4)

समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें—

देवा देवैरवन्तु मा""सत्येन सत्यम्।

(यजु० 20.11,12)

यज्ञ द्वारा मैं सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूँ—

सत्यं च मे श्रद्धा च मे""यज्ञेन कल्पन्ताम्।

(यजु० 18.5)

"ऋत और सत्य की भावना ही वास्तव में अन्य वैदिक उदात्त भावनाओं की जननी है। सारे विश्व-प्रपंच का संचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है—ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावतः समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना और आत्मविश्वास को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।"

इसी प्रकार—

पथा प्रेत (यजु० 7 45)

"सत्य के मार्ग पर चलो।"

सत्रा वाजं न जिग्युषे। (अथर्व० 20.98.2)

"सत्य के साथ जीतनेवाले योद्धा अन्न आदि पदार्थों से प्रतिष्ठा पाते हैं।"

सुगा ऋतस्य पन्था:। (ऋग० 8.31.13)

"सत्य का मार्ग सुख से गमन करने योग्य सरल हो।"

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः। (ऋग्० 9.73.6)

"सत्य के मार्ग को दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।"

सत्या मनसो मे अस्तु। (ऋग्० 10.128.4)

"मेरी मन की भावनाएँ सच्ची हों।"

अहमनृतात्सत्यमुपैमि। (यजु० 1.5)

"मैं झूठ से बचकर सत्य को धारण करता हूँ।"

ऋतस्य पथि वेधा अपायि। (ऋग्० 6.44.8)

"सत्य के पथ में परमेश्वर रक्षा करते हैं।"

सत्यं तातान सूर्यः। (ऋग्० 1.105.12)

"सूर्य सत्य को ही विस्तारित करता है।" भाव यह है कि सत्य और प्रकाश में समानता है।

ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे। (ऋग्० 8.86.5)

अर्थात् "सृष्टि के नियमों की सत्ता सर्वत्र फैली हुई है।" इत्यादि हजारों वैदिक सूक्तियाँ वैदिक आचारशास्त्र में 'ऋत' और 'सत्य' के सर्वोपरि महत्त्व को व्यक्त करती हैं।

भद्र-भावना

वैदिक मन्त्रों की एक दूसरी अनोखी विशेषता उनकी भद्र-भावना है। यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप या समयानुकूल अपना काम निकालनेवाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, संयत जीवन, आपत्तियों के आने पर भी अपने कर्तव्य से मुँह न मोड़ना उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्व के अन्तःस्वरूप की आवश्यकता है। गीता की सात्त्विक भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण-भावना निहित है। मानव को परमोच्च देव-पद

पर बिठानेवाली यह भद्र-भावना वैदिक प्रार्थनाओं में प्रायः देखने में आती है, जैसे—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्‌वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥
देवानां भद्रा सुमितिर्ऋजूयतां, देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

(ऋग्० 1.89.1-2, 8)

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव॥ (यजु० 30.3)

अर्थात् "हमें सब ओर से भली भावनाएँ मिलें। उनमें धोखा न हो। उनमें बाधा न हो। उनमें उन्नति ही उन्नति हो, उनसे देवता तुष्ट होकर दिन-दिन हमारी रक्षा करें, वृद्धि करें, हमारा सदा साथ दें। देवताओं की भली कल्याणी धारणा हमारे अनुकूल हो। देवताओं के दान का मुख हमारी ओर हो। हमने देवताओं की मित्रता प्राप्त की है। वे हमारी आयु बढ़ावें और हम पूर्ण जीवन पावें। हे देवताओ! हम कानों से भला सुनें। हे पूजनीयो! हम आँखों से भला देखें। हमारा अंग-अंग स्थिर हो। हम सदा स्तुतिशील बने रहें। हमारे तन दैव-प्रदत्त आयुभर ठीक चलें। हे सर्वजगदुत्पादक परमेश्वर, आप हमारे सब दुःखों और दुर्गुणों को दूर भगा दो। जो कुछ मंगलकारक हो, उसे हमारे यहाँ ले आओ।"

स्वस्ति-कामना

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन॥
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वस्त्यभि या वाममेति।
सा नो अमासो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥

(ऋग्० 10.63.15-16)

अर्थात्—"सुविस्तृत मार्गों पर हमें सुख-लाभ हो। भूमि के मरु-भागों में हमें सुख-लाभ हो। जल-प्रधान प्रदेशों में हमें सुख-लाभ हो। खुले मैदानों में हमें सुख-लाभ हो। घनी बस्तियों में हमें सुख-

लाभ हो। सन्तति-कारक गृह-सम्बन्धों में हमें सुख-लाभ हो। हे मरुतो! सुख बढ़े, समृद्धि बढ़े। जो श्रेष्ठ, धनवती शुभ स्थिति दूर यात्रा में भी हमारा पूरा साथ देती है और झट से इष्ट-सिद्धि का द्वार खोल देती है, उसके रखवाले सब देवता स्वयं हैं। वह सदा हमारी बनी रहे। वही घर पर और वही बाहर हमारी रक्षा करे।''

विश्व-शान्ति

शन्नो मित्रः शं वरुणः, शन्नो भवत्वर्य्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
शन्नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शन्नश्चतस्त्रः प्रदिशो भवन्तु।
शन्नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शन्नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥
शन्नो देवः सविता त्रायमाणः शन्नो भवन्तूषसो विभातीः।
शन्नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः॥
शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी, शान्तिमिदमुर्वन्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः, शान्ता नः सन्त्वोषधीः॥
शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः॥
शं नो वातः पवताꣳ शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद्देवः, पर्जन्यो अभि वर्षतु॥
द्यौः शान्तिर् अन्तरिक्षꣳ शान्तिः।
पृथिवी शान्तिर् आपः शान्तिर् ओषधयः शान्तिः॥
वनस्पतयः शान्तिर् विश्वेदेवाः शान्तिर् ब्रह्म शान्तिः।
सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि॥

(ऋग्० 1.90.9; 7.35.8-10; अथर्व० 19.9.1 2,
यजु० 36 10-17)

अर्थात् ''मित्र हमारे लिए सुखकारी हो। वरुण हमारे लिए सुखकारी हो। अर्यमा हमारे लिए सुखकारी हो। इन्द्र हमारे लिए सुखकारी हो। बृहस्पति हमारे लिए सुखकारी हो। विशालगामी विष्णु हमारे लिए सुखकारी हो। विस्तृत प्रकाशवाला सूर्य हमारे लिए सुखकारी होता हुआ उदय हो। चारों प्रदेश हमारे लिए सुखकारी हों। निश्चल पर्वत हमारे लिए सुखकारी हों। नदियाँ और जल हमारे लिए सुखकारी हों। रक्षा करता हुआ सविता हमारे लिए

सुखकारी हो। प्रकाशवती उषाएँ हमारे लिए सुखकारी हों। हमारे लिए मेघ सुखकारी हों, जिससे हम प्रजावान् हो सकें। खेती की रक्षा करनेवाला शंभु हमारे लिए सुखकारी हो। हमारे लिए द्युलोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए पृथिवीलोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए यह विशाल अन्तरिक्ष–लोक शान्तिकारी हो। हमारे लिए ओषधियाँ शान्तिकारी हों। हमारे लिए पूर्व–रूप शान्तिकारी हो। हमारे लिए कृत और अकृत शान्तिकारी हों। हमारे लिए जो हो चुका और हो रहा है, सभी कुछ शान्तिकारी हों। वायु हमारे लिए सुखकारी होता हुआ चले। सूर्य हमारे लिए सुखकारी होता हुआ चमके। प्रबल मेघ हमारे लिए सुखकारी होता हुआ कड़–कड़ बरसे। द्यु–लोक शान्तिस्वरूप हो रहा है। मध्यलोक शान्तिस्वरूप हो रहा है। पृथिवी–लोक शान्तिस्वरूप हो रहा है। जल शान्तिस्वरूप हो रहा है। ओषधियाँ और वनस्पतियाँ शान्तिस्वरूप हो रही हैं। सब देवता शान्तिस्वरूप हैं। ब्रह्म शान्तिस्वरूप हैं। सर्वत्र शान्ति है, शान्ति है, शान्ति है। वही शान्ति मुझे भी मिले।''

भूमि हमारी माता है

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्व० 12.1.12)

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में मानव–साहित्य में प्रथम बार पृथिवी को माता बताकर अपने–आपको उसका पुत्र बताया गया है। 'मातृभूमि' की धारणा का यह प्रथम उद्गार है। राष्ट्र–प्रेम से ओत–प्रोत इस सूक्त में विविधरूपा वसुन्धरा की अनेक सुन्दर तथा कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में स्तुति की गई है। वह विविध ओषधि–वनस्पतियों से सब प्राणियों का भरण–पोषण उसी प्रकार करती है जिस प्रकार कोई माता दूध से अपने शिशुओं का। भूमि अटल है, दृढ़ है, अपने शिशुओं के लिए सब–कुछ सहन करती है। सूर्य, चन्द्रमा, पर्जन्य प्रभृति महती दिव्य शक्तियाँ निरन्तर पृथ्वी की रक्षा करती हैं। पृथ्वी रत्नगर्भा है—प्राणिमात्र के लिए ऊर्जा का महान् स्रोत है। यह ऊर्जा और दृढ़ता मनुष्य को सतत दृढ़ और स्वतन्त्र रहने की प्रेरणा देती रहती है। इसे विश्वंभरा और वसुधानी कहा गया है। यह सृष्टि की आधारभूत अग्नि को धारण करती है—
वैश्वानरं बिभ्रती (अथर्व० 12 1 6) यहाँ

पृथ्वी के भीतर विद्यमान ताप अभिप्रेत है। इसी पर शिलाएँ, पाषाण, धूलि आदि हैं—यही सुवर्णमय वक्षःस्थल वाली (हिरण्यवक्षा) है। भूमि की उत्पत्ति के विषय में बताया गया है कि उत्पत्ति से पूर्व वह समुद्र में सलिल के रूप में थी—**यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत्** (अथर्व० 12.1.8)। सम्भवतया यहाँ उस सृष्टि-जल के प्रति संकेत है जिस पर हिरण्यगर्भ अण्डा तैरता रहा था और बाद में फूटने पर उसके एक भाग से पृथ्वी और दूसरे से आकाश बने थे।

भूमि सबके लिए समान है, सबको समता का व्यवहार सिखाती है। इसीलिए पाँचों (प्रकार के या पाँचों दिशाओं मे रहनेवाले) मनुष्य उसके ही बताए गए हैं—**तवेमे पृथिवि पंच मानवाः** (अथर्व० 12.1.15)। भूमि को अदिति, कामनाओं का दोहन करनेवाली, विस्तृत और प्राणियों का बीज वपन करनेवाली बताया गया है—**त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना** (अथर्व० 12.1.61)। भूमि की गोद की कल्पना की गई है—**उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः** (12.1.62)। बार-बार भूमि से प्रार्थना की गई है कि वह सब प्रकार की सुरक्षा प्रदान करे, आयु दीर्घ बनाए, धन-धान्य से सम्पन्न तथा ओषधिरस, गोरस, जल आदि से समृद्ध होकर सभी प्राणियों को सुखी बनाए। कोई शत्रु इस पर आधिपत्य न कर सके। इसीलिए मातृभूमि का उपासक प्रण करता है कि "मैं क्रोध करनेवाले अन्य (शत्रुओं) को नीचे गिरा मारूँ"—**अवान्यान् हन्मि दोधतः** (58)। वह अपने-आपको चारों ओर से विजय करनेवाला, सर्वविजयी और प्रत्येक दिशा या मनोरथ को वश में करनेवाला उद्घोषित करता है—**अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः** (54)।

राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत, वीरता की भावनावाले तथा मातृभूमि के यशोगान से परिपूर्ण इस भूमि-सूक्त में कुल तिरेसठ मन्त्र है। यहाँ उसके प्रथम दस मन्त्र दिग्दर्शन-मात्र उद्धृत किये गए हैं।[1]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

महान् सत्य, महान् ऋत, उग्रता अर्थात् क्षात्र-शक्ति, दीक्षा,

1 डॉ० कृष्णलाल - 'वैदिक संग्रह' पृ० 196 97

तप, ब्रह्म-शक्ति और यज्ञ, ये सात पृथिवी को अर्थात् हमारे राष्ट्र को धारण कर रहे हैं। हमारे भूतकाल की और भविष्यकाल की रक्षा करनेवाली यह हमारी मातृभूमि हमारे लिए विस्तृत प्रकाश और स्थान करे।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥

जिसके गति-निरोधक व्यवहारों को बन्धन और संयमन में लानेवाले मनु के पुत्र अर्थात् मनुष्य की बहुत प्रकार की उच्चताएँ, निम्नताएँ और समताएँ हैं, जो अनेक प्रकार के वीर्य अर्थात् शक्ति और गुणोंवाली ओषधियों को धारण करती है, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए विस्तीर्ण होवे और हमारे लिए समृद्ध बने।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥

जिसमें समुद्र और नदियाँ तथा अन्य विविध प्रकार के जल हैं, जिसमें अन्न होता है और अनेक प्रकार की खेतियाँ होती हैं अथवा मनुष्य मिलकर रहते हैं, जिसमें प्राण लेता हुआ तथा चेष्टा करता हुआ यह सब प्राणि-जगत् चल रहा है अथवा अपने-आपको तृप्त कर रहा है वह हमारी मातृभूमि हमको पूर्वपेय में अर्थात् पूर्वज पुरुषों द्वारा प्राप्त किये गए उत्तम पद पर अथवा प्रथम पान करने योग्य दुग्धादि उत्तम पेय पदार्थों में धारण करे अर्थात् इनको प्रदान करे।

यस्याश्चतस्त्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥

जिस हमारी मातृभूमि की चार विस्तीर्ण दिशाएँ हैं, जिसमें अन्न होते हैं, खेतियाँ होती हैं अथवा मनुष्य मिलकर रहते हैं, मिलकर उन्नति करते हैं, जो प्राणधारी और चेष्टाशील प्राणि-जगत् का अनेक प्रकार से भरण-पोषण करती है वह हमारी मातृभूमि हमे गौवों में और भाँति-भाँति के अन्नों में धारण करे—इनको प्रदान करे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥

जिसमें पहिले के पूर्वज पुरुष भाँति भाँति के कर्म करते रहे

हैं, जिसमें देव प्रकृति के पुरुष असुर प्रकृति के लोगों को अभिभूत (पराजित) करते रहे हैं, जो गौवों का, घोड़ों का और भाँति-भाँति के पक्षियों का विशेष रूप से रहने का स्थान है अथवा अन्नों का विशेष रूप से रहने का स्थान है, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए ऐश्वर्य और तेज को धारण करे—प्रदान करे।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥

सबका भरण-पोषण करनेवाली अथवा सबको अपने ऊपर धारण करनेवाली, सब प्रकार के ऐश्वर्य को अपने में धारण करनेवाली, सबका आधार, सबको आश्रय और प्रतिष्ठा देनेवाली, सुवर्ण को अथवा हितकारी और रमणीय पदार्थों को अपने वक्षःस्थल में रखनेवाली, सब जगत् को अपने में बसानेवाली अथवा कल्याण में प्रविष्ट करानेवाली, सब लोगों के हितकारी अग्नि को अपने में रखनेवाली, इन्द्र अर्थात् चुना हुआ सम्राट् है अधिपति जिसका, ऐसी वह हमारी मातृभूमि हमें बल और धन में धारण करे—इनको प्रदान करे।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥

जिस विस्तार और ख्याति देनेवाली मातृभूमि की सदा जागरूक रहनेवाले विविध व्यवहारों में कुशल विद्वान् प्रजाजन प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए प्रिय मधु को दुहा करे—पूर्णरूप से दिया करे और हमें तेजी के साथ वृद्धि प्रदान करे।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥

जो पहले समुद्र में—जल में—थी, जिसकी बुद्धिमान् लोग अपनी कौशलयुक्त बुद्धियों से सेवा करते हैं, जिससे हमारा विस्तार करनेवाली और हमें ख्याति देनेवाली मातृभूमि का अमर हृदय परम रक्षक और आकाश की भाँति परम व्यापक परमात्मा में सत्य से ढका हुआ है, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में दीप्त तेज को और बल को धारण करे—प्रदान करे।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥

जिसमें सेवक होकर चारों ओर बहनेवाले जल दिन-रात प्रमादरहित होकर बह रहे हैं, अनेक धाराओंवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए जल और दूध को दुहे, पूर्ण रूप से प्रदान करे और हमें तेज से सींचे और बढ़ावे।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥

जिसे दोनों अश्वी दिन और रात नापा करते हैं या निर्माण करते हैं, विष्णु जिसमें विचरण करता है, जिसे वाणी, कर्म और प्रज्ञा के धनी इन्द्र ने अपने लिए शत्रुरहित कर रखा है, वह हमारी मातृभूमि मुझ पुत्र के लिए अन्न, दूध और जल प्रदान करे।

वैदिक राष्ट्रगीत

शुक्ल यजुर्वेद में से उद्धृत यह मन्त्र वेद के सर्वोदयात्मक सर्वांगपूर्ण उदार दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। इसे वेद का 'राष्ट्रीय गीत' भी कहा जाता है। स्वस्थ, सुखी, समृद्ध राष्ट्र के लिए जो कुछ भी मूलतः अपेक्षित है, उस सब की अभिलाषा इसमें अभिव्यक्त की गई है। शारीरिक, बौद्धिक और प्राकृतिक—तीनों रूपों में समस्त राष्ट्र को समृद्ध होना चाहिए :[1]

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां, दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां, निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां, योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

(यजु० 22.22)

अर्थात्—"(हमारे) ब्राह्मण-वर्ग में तप, त्याग और ज्ञान से सुशोभित जीवनवाले ब्राह्मण सदा होते रहें।

(हमारे) रक्षक (सैनिक) वर्ग में प्रभुत्वशाली, अस्त्र-शस्त्र में

1. डॉ० कृष्णलाल : 'वैदिक संग्रह', पृ० 185

अतिनिपुण, (रिपु-दल के) महा-विनाशक सूरमा सदा होते रहें।

(हमारे) इस यजनशील (समाज) में दुधार गौएँ, (खूब हल आदि) खींचनेवाले बैल, वेगगामी घोड़े, गृहधर्मिणी महिलाएँ और विजयशील (शत्रुओं का) नाश करनेवाले, युद्ध-प्रवीण, वीर जवान सदा होते रहें।

जब जब हमें चाहिए, मेह (बराबर) बरसता रहे। हमारी फल-लदी खेतियाँ (खूब) पकती रहें। हमारा सुख कल्याण (बराबर) बढ़ता रहे ॥''

पढ़ने-पढ़ानेवाले, तेजस्वी विचारक व्यक्ति सुदृढ़ राष्ट्र का आधार हैं, उसकी अमूल्य निधि हैं, अतः सर्वप्रथम उनके लिए प्रार्थना की गई है। किन्तु साथ ही उनकी रक्षा के लिए क्षत्रियों अर्थात् कुशल सैनिकों का होना अत्यन्त आवश्यक है। अरक्षा के वातावरण में चिन्तन-सम्बन्धी गतिविधियाँ असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती हैं—'**शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचर्चा प्रवर्तते।**' और सैनिकों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए कृषकों, वैश्यों आदि के द्वारा पुष्टिकारक दूध, अनाज आदि का विपुल उत्पादन आवश्यक है। इस उत्पादन से बैल, घोड़े आदि उपयोगी पशुओं को भी लाभ होता है। यदि गृहलक्ष्मी समृद्ध होगी, तभी वह अर्थ-व्यवस्था के मूलाधार घर को सुचारु रूप से सँभाल सकेगी। राष्ट्र में यजमान अर्थात् ईश्वर में श्रद्धाभाव रखनेवाले एवं दानी व्यक्ति निस्सन्देह सभी अभिलषित तत्त्वों की पूर्ति में सहायक होते हैं। प्रकृति का सहयोग अर्थात् समय पर आवश्यक मात्रा में वृष्टि का होना और प्रचुर मात्रा में अनाज का होना भी राष्ट्र के लिए आवश्यक है। और अन्त में आवश्यक है योगक्षेम अर्थात् आवश्यकतानुरूप वस्तुओं की प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा।

वैदिक वीर भावना

''यह संसार एक समर-स्थली है। मनुष्य को बड़े-बड़े संघर्षों में से होकर गुजरना है। चारों तरफ विघ्न-बाधाएँ और शत्रु मुँह बाये खड़े हैं और उसे हड़पना चाहते हैं। इधर आन्तरिक क्षेत्र में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि की पैशाची सेना मन पर करने को तैयार खडी है तो उधर व्याधियो की

सेना शरीर पर आक्रमण करने का उपक्रम कर रही है। इधर सिंह-व्याघ्र-सर्प आदि भयानक जन्तु मनुष्य को अपना ग्रास बनाने के लिए तैयार हैं, तो उधर अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि अनेक दैवी विपत्तियाँ उसे काल-कवलित करना चाह रही हैं। इधर धूर्त-वंचक-छली लोग मनुष्य को अपने चंगुल में फँसाने की चेष्टा कर रहे हैं तो उधर अत्याचारी लोग उसकी गर्दन को अपनी तलवार का निशाना बनाने पर उतारू हो रहे हैं।

ऐसे में मनुष्य के लिए वेद की प्रेरणा है : कभी तू आततायी राक्षस के अत्याचार को सहन मत कर। **"उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र"** (ऋग्० 3.30.17)—हे वीर! राक्षस को जड़-समेत उखाड़ फेंक। पर, कहीं हम वेद के इन वचनों का यह अर्थ न लगा लें कि वेद ने हमें पैशाची हिंसा की, लूट-पाट की, व्यर्थ उपद्रव मचाकर जगत् में अशान्ति फैलाने की अनुमति दे दी है। नहीं, वेद तो शान्ति के अग्रदूत बनकर हमारे सामने आते हैं। वेदों में तो भूमि-आकाश, सूर्य-चाँद-तारे, बादल-बिजली, वन-उपवन, तरु-लता, नदी-पर्वत आदि प्रकृति की एक-एक वस्तु के आगे शान्ति की पुकार मचाई गई है। इसी से हम समझ सकते हैं कि वेद शान्ति के लिए कितने अधिक आतुर हैं। पर शान्ति इसका नाम नहीं है कि अत्याचारी हम पर अत्याचार करने आएँ और हम कायरों की तरह उसे सह लें। हमारी आँखों के सामने निरीह भोली जनता पर क्रूर अत्याचारियों की तलवार का नग्न नृत्य हो रहा हो और हम आँख मींचकर बैठे रहें, राक्षस हमारे सुन्दर साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा हो और हम चुप रहें।

स्थान-स्थान पर वेद के मन्त्रों में राक्षसों के संहार का वर्णन है। मनुष्य जहाँ इससे बाह्य राक्षसों के विध्वंस का सन्देश लेंगे, वहाँ साथ ही हृदय में उत्पन्न होनेवाले आन्तरिक राक्षसों के संहार की भावना को भी जागृत करेंगे। बाहर की तरह अन्दर भी देवासुर-संग्राम चलता है। पाप-वृत्तिरूपी राक्षस देववृत्तियों पर विजय पाना चाहते हैं। मनुष्य का कर्तव्य है कि अपने तीव्र संकल्पबल के शस्त्रों से उनका पूर्णतः संहार कर दे। पाप, अन्याय, अत्याचार, अविद्या किसी भी कोटि के राक्षस को सहन मत करो, सभी राक्षसों को मिटाकर संसार में सुख शान्ति के को स्थिर करो अपने

आपको और जगत् को राक्षस-हीन करके देवतुल्य बनाओ—यही वेद का सन्देश है।

"तू मेरे अन्दर उत्साह, बल और कर्म को फूँक दे।"

वेद की ये कर्मयोग की प्रार्थनाएँ हमें सदा स्मरण रखनी चाहिएँ। साथ ही वेद का यह सन्देश भी हमारे सामने आ जाना चाहिए कि अन्याय और अत्याचार को नष्ट करने के लिए यदि हिसा भी करनी पड़े तो वह हिंसा नहीं, अपितु वीरता है। यदि कोई दुष्ट आततायी हम पर अत्याचार करने आता है तो हमारा कर्त्तव्य है कि वीरता के साथ मुकाबला करें, कायर न बनें। अतः वेद मनुष्य को उद्बोधन करता है :

वीरो! उठो, आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो। इन्द्र तुम्हें सुख दे। तुम्हारी भुजाओं में बल हो, जिससे कि तुम कभी पराजित न हो सको।[1] हे वीर! आगे बढ़, शत्रु पर वार कर, उसे परास्त कर दे। तेरे शस्त्र को कोई नहीं रोक सकता। शत्रु को झुका देनेवाला बल तुझमें विद्यमान है। आततायी को मार दे। तेरी निज प्रजाओं को शत्रु ने पकड़ लिया है, उन्हें जीत ले। स्वराज्य-आराधक बन।[2]

हे वीर! राक्षसों का संहार कर, हिंसकों को कुचल डाल, दुष्ट शत्रु की दाढ़ें तोड़ दे। जो तुझे दास बनाना चाहे उस वैरी के क्रोध को चूर कर दे।[3] हे वीरो! सुदृढ़ हों तुम्हारे हथियार शत्रु को भगा देने के लिए, सुदृढ़ हों शत्रु के वार को रोकने के लिए। तुम्हारी सेना, तुम्हारा संगठन, प्रशंसा के योग्य हो।[4] उठो वीरो! कमर कस लो, झंडे हाथों में पकड़ लो। जो भुजंग हैं, लंपट हैं, पराये हैं,

---

1. प्रेता जयता नर इन्द्रो व शर्म यच्छतु।
   उग्राः वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥ —(ऋग्० 10.103.13)
2. प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
   इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥
   —(ऋग्० 1.80 3)
3. वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
   वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः॥ —(ऋग्० 10.152 3)
4. स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
   युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ —(ऋग्० 1.39 2)

राक्षस हैं, वैरी हैं, उन पर धावा बोल दो।[1] ओ आततायी! तू मुझे निस्तेज, बुझा हुआ, मत समझना। मत समझना कि तू आकर मुझे सता लेगा और मैं चुपचाप सह लूँगा। देख, "यदि तू मेरी गाय को मारेगा, घोड़े को मारेगा, मेरे सम्बन्धी पुरुषों को मारेगा तो याद रख, मैं तुझे सीसे की गोली से बेध दूँगा।"[2] जो कोई व्यर्थ में किसी का वध न करनेवाले, किन्तु दुष्टों को पकड़-पकड़कर वध करनेवाले, हम लोगों को मारने का संकल्प करेगा, उसे मैं जलती हुई आग की लपटों में झोंक दूँगा।[3] जो कोई भले आदमियों को शाप न देनेवाले, किन्तु दुर्जनों को जी भरकर शाप देनेवाले हम लोगों को आकर कोसेगा, हमारे सामने आकर व्यर्थ गाली-गलौज बकेगा, उसे मैं मौत के आगे फेंक दूँगा, जैसे कुत्ते के आगे सूखी रोटी के टुकड़े।[4]

अरे, मुझे क्या तुमने साधारण मनुष्य समझा है? मैं तो सूर्य हूँ, सूर्य!! जैसे सूर्य उदित होकर सब नक्षत्रों के तेज को हर लेता है, वैसे ही मैं अपनी अपूर्व आभा के साथ जगत् में उदित होकर शत्रुता करनेवाले सब स्त्री-पुरुषों के तेज को हर लूँगा।[5] निश्चय ही हमारी विजय होगी, हमारा अभ्युदय होगा, शत्रु की सेना को हम परास्त कर देंगे। मुझसे शत्रुता ठाननेवाला जो अमुक पुरुष का बेटा और अमुक माँ का बेटा है, उसके वर्चस् को, तेज को, प्राण को, आयु को मैं हर लूँगा। उसे भूमि पर दे मारूँगा।[6] मुझसे वैर करनेवाले

---

1. उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥ —(अथर्व० 11.10 1)
2. यदि नो गां हंसि, यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो, यथा नोऽसो अवीरहा॥ (अथर्व० 1.16 4)
3. यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम्॥ —(अथर्व० 4.36 2)
4. यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं, तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे॥ —(अथर्व० 6.37 3)
5. यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे॥ —(अथर्व० 7.13 1)
6. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः
[illegible] पादयामि (अथर्व० 10 5 36)

दुष्टहृदयी द्वेषी शत्रु का सिर मैं काट डालूँगा।[1]

केवल वेद के पुरुषों में ही ऐसी वीर-भावना नहीं भरी है, किन्तु वेद की नारियाँ भी ऐसे ही वीर-भावों से ओत-प्रोत हैं। एक नारी के उद्गार देखिये—अरे, यह घातक मुझे अबला समझे बैठा है? मैं अबला नहीं, वीरांगना हूँ, वीर की पत्नी हूँ। मौत से न डरनेवाले वीर मेरे सखा हैं। मेरा पति संसार में अपनी तुल्यता नहीं रखता।[2] मेरे पुत्र शत्रु के छक्के छुड़ा देनेवाले हैं, मेरी पुत्री अद्वितीय तेजस्विनी है। मेरे पति में उत्तम कीर्ति का निवास है। और मैं अपनी क्या बताऊँ? कोई मेरी तरफ आँख उठाकर तो देखे, ऐसा परास्त होकर लौटेगा कि सदा याद रखेगा।[3]

मेरा मन शिव संकल्पवाला हो

वाजसनेय संहिता के मन-सम्बन्धी प्रस्तुत मन्त्र मनोविज्ञान का सार प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक मन्त्र में मन के शिव संकल्प होने की प्रार्थना के आधार पर इस मन्त्रसमूह को **'शिव-संकल्प-सूक्त'** नाम से भी अभिहित किया जाता है। मनोविज्ञान के मूलभूत गूढ़ तत्त्व इस सूक्त में अत्यन्त काव्यमयी भाषा में रखे गए हैं। इन मन्त्रों का सार यह है कि मन इन विश्व में बहुत बड़ी शक्ति है। ये मन्त्र ऋग्० 10.166 के पश्चात् पठित खिल सूत्र 4.11 में भी आए हैं—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।

---

1 अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा॥
—(अथर्व० 10.6 1)

2 अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥
—(ऋग्० 10.86 9)

3 मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
पत्यौ मे श्लोक उत्तम (ऋग्० 10 159 3)

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० 34.1-6)

अर्थात् मेरा मन विचित्र प्रकाश है। जब मैं दिन को जाग रहा होता हूँ, तो यह दूर निकल जाता है। जब (रात को) सोता हूँ, तब भी यह वैसे ही घूमता है। यह दूरगामी, ज्योतियों में अद्‌भुत ज्योति, अच्छे संकल्पवाला हो। जिसके द्वारा कर्मपरायण, मनीषी सज्जन यज्ञों में और बुद्धिमान् विद्वान् विज्ञान-सभाओं में (पवित्र) कर्मों को (विस्तृत) करते हैं, जो (सब) उत्पन्न हुए प्राणि-वर्ग के अन्दर अपूर्व और आदरणीय (पदार्थ के रूप में) विराज रहा है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो।

जो जानने, पहचानने और धारण करने में मुख्य साधन है, जो उत्पन्न हुए प्राणि-वर्ग के अन्दर अमृत-ज्योति (के रूप में) विराज रहा है, जिसके बिना कोई भी कर्म करना असम्भव हो जाता है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो। जिस (इस एक) अमृत (पदार्थ) ने अतीत और वर्तमान इस सब (ससार) को

धारण कर रखा है और जो सात स्तुति-पाठकों वाले (जीवन-रूपी) यज्ञ को विस्तृत कर रहा है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो।

जिसमें रथ-नाभि में अरों के समान ऋचाएँ, यजु और साम प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिसमें उत्पन्न हुए प्राणि-वर्ग का सब ज्ञान ओत-प्रोत हो रहा है, यह मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो। जो चतुर सारथि की तरह बलवान् घोड़ों के समान मनुष्यों को (मानो) रासो द्वारा लगातार हाँकता रहता है, जो हृदय-स्थान में रहता है, जो (कभी) घिसने में भी नहीं आता और जो वेग में सबसे आगे रहता है, वह (यह) मेरा मन अच्छे संकल्पवाला हो।

मनुष्य का मन सबसे अधिक प्रभावशाली है, उसकी शक्ति अपरिमित है, अतः यह दिव्य है। मनुष्य के सोते होने पर भी मन का गतिशील होना अवचेतन मन की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार बड़ी ज्योतियों (ग्रह-नक्षत्रों) से मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है, उसी प्रकार मन से भी होता है। साररूप में कह सकते हैं कि मनुष्य वह है, जो उसका मन है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के मन में कल्याण की भावना आ जाए, तो सारे संसार का चित्र परिवर्तित हो जाए।[1] अतएव वैदिक ऋषि मनःशुद्धि के लिए उपर्युक्त मन्त्रों में शिव-संकल्प करता है।

मनःशुद्धि की निरन्तर प्रक्रिया के फलस्वरूप अन्त में मनुष्य का यह कहने का सामर्थ्य होता है—

तेजोऽसि शुक्रमसि अमृतमसि धाम नामासि।
प्रियं देवानाम् अनाधृष्टम् देवयजनमसि। (यजु० 1.31)

अर्थात्—

हो तुम तेज (अरे मन!)
तुम ही दीप्तिमान् हो!
अमृत हो तुम निधान!
नाम हो प्रिय दिव्य गुणों के,
अनाधृष्ट हो (किसी तत्त्व से)
देव के पूजन-यजन तुम्हीं हो।[2]

---

1 डॉ० कृष्णलाल : 'वैदिक संग्रह', पृ० 179
2 वही शुक्ल यजुर्वेद मे श्री ग्रन्थ पृ० 76

वेद में मनोबल को बढ़ाने एवं मनोबल को क्षीण करने की कोशिश करनेवाले की दुर्गति बनाने का अदम्य उत्साह प्राप्त होता है। वैदिक वीर कहता है—'हे देवो! सुन लो, मेरी इस भीष्म-प्रतिज्ञा को सुन लो! आज मेरे बलवान् मन में प्रबल संकल्प उठ रहे हैं। जो कोई मेरे मनोबल की हिंसा करने आएगा वह पाशबद्ध होकर दुर्गति को पाएगा।[1] ओ मन के पाप! चल दूर हट मेरे पास से, क्यों निन्दित सलाहें दे रहा है? चल भाग यहाँ से, वृक्षों से जाकर टकरा, जंगलों में भटकता फिर। मुझे फुरसत कहाँ है, जो तेरा स्वागत करूँ? मेरा मन तो गृह-कार्यों में और गो-सेवा आदि शुभ-कार्यों में लगा है।' कैसी आत्म-विश्वास-भरी वीरतापूर्ण और सजीव उक्ति है! क्या ऐसे सतर्क और साहसी व्यक्ति के मन में पाप कभी डेरा डाल सकता है? आगे देखिए, अपने संकल्प-बल को जागृत करता हुआ वह वीर कह रहा है—"जाग, जाग, ओ मेरे संकल्प-बल, तू जाग! राक्षसों को मार गिरा, उन्हें घोर अन्धकार में धकेल दे। वे आततायी निरिन्द्रिय और निर्वीर्य हो जाएँ, एक दिन को भी जीवित न बचने पावें।"

बुद्धि और मेधा की उपासना

वेद में अच्छी बुद्धि एवं मेधा (तर्कशक्ति को धारण करना) के लिए पौनःपुन्येन प्रार्थना की गई है। यहाँ तक कि हिन्दुओं का सर्वप्रिय गायत्री मन्त्र भी बुद्धि-प्रेरणा की प्रार्थना करता है। वैदिक

1. इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नियुज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥
—(अथर्व० 2-12-2)

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप, यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥
—(अथर्व० 2-12-3)

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥
—(अथर्व० 6-45-1)

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्।
निरिन्द्रिया अरसा सन्तु सर्वे मा ते जीविषु
(अथर्व० 9 2 10)

में अंधश्रद्धा व अंधभक्ति को कोई स्थान नहीं। श्रद्धा का अर्थ
वस्तुतः 'सत्य' को धारण करना (श्रत्—धा) है जोकि बुद्धि के
सम्भव नहीं। अतः वेद में स्थान-स्थान पर अच्छी बुद्धि के
प्रार्थना की है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

'हम सविता देव के उस परम धन्य वरणीय प्रकाश को धारण
जो हमारी बुद्धियों को आगे सन्मार्ग पर ले-जाए।'

धियं वनेम ऋतया सपन्तः। (ऋग्० 2.11.12)

'सदाचरण से परस्पर प्रेम करते हुए हम बुद्धि प्राप्त करें।'

चोदय धियमयसो न धाराम्। (ऋग्० 6.47.10)

'हे प्रभो! मेरी बुद्धि को लोहे से बने शस्त्र की धार के समान
ा बना।'

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं, ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥
यां मेधामृभवो विदुर्, यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्यावेशयामसि॥
यामृषयो भूतकृतो नो मेधाविनो विदुः॥
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कृणु॥
मेधां सायं मेधां प्रातर्, मेधां मध्यन्दिनं परि।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे॥
द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददु॥

(अथर्व० 6.108.2-5; 12.1.53)

हे मेधा देवि! तुम वेद का आधार हो। वेद से तुम्हारा विस्तार
सब ऋषि तुम्हारी महिमा गाते हैं। सब ब्रह्मचारी तुम्हारा रक्षण
हैं। तुम हम पर प्रसन्न होओ और (तुम्हारे द्वारा) देवता हमारी
करें। जिस मेधा का ऋभु-गण को मान है, जिस मेधा का देव-
को मान है और जिस मेधा का ऋषि-गण को मान है, उसी
मेधा को हम अपने अन्दर धारण करें। हे अग्नि देव! मेधावी
गण (उत्तम) मेधा को (ही) पाकर (शब्दसार स्वरूप)
ओं का प्रकाश करते हैं। हे अग्नि देव। उसी मेधा से आज मुझे

भी युक्त करके मेधावी बना दो। हे मेधा देवि! सायं हो या प्रातः हो, हम तेरी ही आराधना किया करें, और दोपहर के प्रकाश में भी हम सूर्य की किरणों द्वारा तुझे (ही अपने अन्दर) धारण किया करें। (यह देखो) अब द्यु-लोक और पृथ्वी-लोक ने मुझे मेधा प्रदान की है। विस्तृत मध्यलोक ने मुझे मेधा प्रदान की है। अग्नि, सूर्य और जल ने मुझे मेधा प्रदान की है। सब देवताओं ने मुझे मेधा प्रदान की है।

सूझ की देवी की उपासना

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे, चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु, विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥
आकूत्या नो बृहस्पते, आकूत्या न उपा गहि।
अथो भगस्य नो धेहि, अथो नः सुहवो भव॥

(अथर्व० 19.4.2-3)

हे सूझ की देवि! आओ, सुखपूर्वक हमारे समीप आनेवाली बनो। तुम ऐश्वर्य से भरपूर हो। तुम चित्त की जननी हो। मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ। मैं जहाँ रहूँ, तुम मेरा सदा साथ देनेवाली बनो। तुम्हे मैं अपने मन में सदा प्रतिष्ठित होते हुए देखता रहूँ। हे बृहस्पति देव! आओ, सूझ को लेकर आओ। हे बृहस्पति देव! आओ, हमें ऐश्वर्य प्रदान करते हुए आओ! हे बृहस्पति देव! आओ, हमारी टेर को सुनते हुए आओ।

सरस्वती वन्दना

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः॥
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती॥
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति

हे सरस्वती देवी! तू पवित्र करनेवाली है। तू शब्दों का भण्डार है। तेरा चिन्तन-मात्र सब धनों का द्वार है। तू (हमारे) यज्ञ (आराधन) को स्वीकार कर। हे सरस्वती देवी! तू सच्ची वाणियों की प्रेरणा करनेवाली है। तू सुमतियों की सुझानेवाली है। तू (सब) यज्ञों को धारण करनेवाली है। हे सरस्वती देवी! तेरे इशारे से महान् शब्द पैदा हो रहा है। तू सकल स्तोत्रों के अन्दर चमक रही है। हे करुणामयी सरस्वती भगवती! हमें सुखी और कल्याण-युक्त कर दे। हम तेरे उत्तम दर्शन से (कभी) वंचित न हों।

विद्या-प्रेम

विद्ययाऽमृतमश्नुते। (यजु० 40.14)

'विद्या से ही अमृत मिलता है।'

सिंहा इव नानदति प्रचेतसः। (ऋ० 1.64.8)

'ज्ञानी सिंह की तरह गर्जते हैं।'

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट। (अथर्व० 3.30.5)

'बड़ा बनने की इच्छावालो! ज्ञानी बनो, (विद्या-प्राप्ति से) मत बिछड़ो।'

प्रियाः श्रुतस्य भूयास्म। (अथर्व० 7.61.1)

'हम सब वेदप्रेमी बनें।'

नो वेद आ भर। (अथर्व० 20.56.6)

'प्रभो! हमें वेदज्ञान प्रदान कर।'

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे। (अथर्व० 7.100.1)

'मैं वेद को अपनी ढाल बनाता हूँ।'

पवित्रवन्तः परिवाचमासते। (ऋग्० 9.73.3)

'पवित्रता के इच्छुक वेद-विद्या का आश्रय लेते हैं।'

जुआ मत खेलो

ऋग्वेद का अक्ष-सूक्त (10.34) एक जुआरी का आत्म-प्रलाप है। इसमें बहुत काव्यात्मक रूप में जुए के प्रति जुआरी का अनायास आकर्षण, उसके द्वारा सम्पादित गृह-विनाश, परिवार और समाज द्वारा उसकी गर्हणा और अन्त में इस सब के फलस्वरूप स्वयं जुआरी के द्वारा हाथ से काम करके कमाकर खाने का उपदेश

दिया गया है। सम्पूर्ण वर्णन अत्यन्त मार्मिक है और किसी भी उत्कृष्ट काव्य से प्रतिस्पर्धा कर सकता है। जुआरी की दशा का यह सजीव और यथार्थ चित्रण मन पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है।[1] सूक्त का अर्थ इस प्रकार है—

'इस (महान्) वृक्ष के ये झंझावात में उत्पन्न और द्यूत के पट पर लेटनेवाले, हिलते कर्ण-फूल, मुझे बड़ा आनन्द दे रहे हैं। मूजवत् पर्वत से प्राप्त हुए सोम (वल्ली के रस के पान) की तरह यह विभीदक (बहेड़ा वृक्ष का द्यूत खेलने में उपयुक्त फल) मुझे सदैव जागरूक प्रतीत होता है।'[2]

पाँसे चंचल हैं, क्रियाशील हैं, स्थिर नहीं रहते। वे मानो जागते रहते हैं (चाहे भाग्य सोता हो)। वे जुआरी को उसी प्रकार आकृष्ट और आनन्दित करते हैं जैसे किसी को भी प्रेरणाप्रद सोमपान।

''इस बेचारी ने मुझे कभी रोका नहीं, न इसने मेरा कभी तिरस्कार किया है। मेरे द्यूतकार मित्रों के तथा मेरे साथ वह बड़े ही सौजन्य से पेश आती थी। किन्तु प्रायः एक अंक से अधिक इन अक्षों के लिए मुझसे एकनिष्ठ रहनेवाली भार्या को भी मैं तिरस्कृत करता आया हूँ।''[3]

हारा हुआ दुःखी जुआरी पश्चात्ताप कर रहा है। उसकी पत्नी कितनी स्नेहार्द्र और सहनशील थी! परन्तु वह उस पाँसे के जाल में फँसा रहा जो केवल एक (जीतनेवाले) के प्रति आसक्त रहता है। यदि वह निर्दय होकर अपनी पत्नी को नहीं ठुकराता तो आज उसकी यह दुर्दशा न होती।

''उसकी सास (भार्या की माता) उसका तिरस्कार करती है और उसकी भार्या भी उसको रोकती है (बाहर जाने नहीं देती)। (आपत्ति में फँस जाने पर) जब वह याचना करने लगता है, तब दया दिखानेवाला कोई भी मनुष्य उसे मिलता नहीं। (हर एक

---

1. डॉ० कृष्णलाल : 'वैदिक संग्रह', पृ० 144
2. प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
   सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥ 1॥
3. न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
   अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ 2॥

कहता है कि) 'मूल्य कम करने योग्य बूढ़े घोड़े की तरह, मुझे इस जुआरी का कुछ भी उपयोग नहीं होगा'।''[1]

हारा हुआ जुआरी भिखारी बन जाता है। वह ऐसा भिखारी है, जिससे किसी की सहानुभूति नहीं होती। जामाता का सत्कार करनेवाली सास भी उससे घृणा करती है और पत्नी भी (जो स्वय धन की कठिनाई से पितृगृह में आकर रह रही है) उसे घर में आने से रोकती है। वह उस बूढ़े घोड़े के समान है जो बिकाऊ है, पर जिसका कोई मूल्य देने को तैयार नहीं। इस प्रकार जुआरी का कोई भोग दिखाई नहीं देता जिससे औरों को सुख हो।

''जिसकी आमदनी पर इस महापराक्रमी अक्ष ने लोभ दिखाया उस द्यूतकार की भार्या का भी अन्य पुरुष प्रधर्षण करते हैं। उसके माता-पिता और बन्धुजन भी उसे देखकर कहते हैं 'हम इसे (इसका द्रव्यादि व्यवहार) बिल्कुल जानते नहीं। इसे (आवश्यक हो तो) बाँधकर (राजपुरुप की ओर) ले जाइये'।''[2]

जिस जुआरी के धन के प्रति यह पाँसा अत्यन्त लोभी था अर्थात् इसने जिसे धन को लेकर हराया, उसकी पत्नी निराश्रित हो गई है। सम्भवतया अन्य जुआरी हारे जुआरी से दाँव में हारे धन को प्राप्त करने के लिए उसकी पत्नी को तंग करते हैं। जब वे जुआरी अथवा राजपुरुष उसे पकड़ने आते हैं तो माता, पिता और भाई भी उसे अपना नहीं मानते।

जिस समय ''अब के बाद मैं इनसे नहीं खेलूँगा'' इस तरह का निश्चय करता हूँ उस समय द्यूतसभा की ओर जानेवाले अपने मित्रो से छूटकर पीछे रह जाता हूँ। (किन्तु) जब द्यूतपट पर फेंके जाने पर उन पीतवर्ण अक्षों ने साथ ही मुझे आवाज दी तब शीघ्र ही, मै (बाहर निकलकर) उनके संकेत-स्थान पर, उसी तरह जाता हूँ जैसे कोई जारिणी अपने जार के संकेत-स्थान पर।[3]

---

1 द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ 3॥

2. अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्॥ 4॥

3. यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतं एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव॥ 5॥

जुआरी को जुआ खेलने का ऐसा व्यसन हो गया है कि वह उससे विमुख होने में विवशता का अनुभव करता है। वह बार-बार जुआ छोड़ने का निश्चय करता है। जुआरी मित्र उसे हराकर उसके घर तक छोड़ने आते हैं और फिर द्यूतस्थल को जाते हैं, तब वह सोचता है कि मैं इनके साथ न जाऊँ और फिर द्यूत-विरक्त हो जाऊँ। परन्तु द्यूत-पटल पर पाँसों के पड़ने का शब्द मानो उसे विचलित कर देता है और फिर वह जाए बिना नहीं रहता। यहाँ बहुत सुन्दर उपमा से यह भाव स्पष्ट किया गया है। उसका विवशतापूर्वक जाना एक स्वैरिणी अवैध प्रेमिका के अपने जार के पास निश्चित स्थल पर जाने जैसा है। इस मन्त्र में व्यसनी की मनःस्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

"कम से कम आज मेरी जीत होगी" इस प्रकार विचार करके और गर्व से वक्षःस्थल (चौड़ा करके) द्यूतसभा की ओर जाता है। परन्तु ये अक्ष उसके प्रतिस्पर्धी को ही 'कृत' संज्ञा का (सर्वश्रेष्ठ) दान समर्पित करके उसकी अभिलाषा को मिट्टी में मिला देते हैं।"[1]

किन्तु जब जुआरी पुनः जुए के लिए द्यूतगृह में जाता है तो उसे सन्देह होता है कि मैं जीतूँगा भी या नहीं? विश्वास का तेज फिर भी उसके मुख से प्रकट होता है। और वस्तुतः जाल में फँसाने वाले तो पाँसे ही हैं। जैसे-जैसे वह अपनी ओर से प्रतिपक्षी जुआरी के लिए नई उचित चालें चलता है, उसकी आशा बँधती है, मानो पाँसे उसमें और अधिक खेलने की इच्छा उत्पन्न कर रहे हों।

"सचमुच ये अक्ष हाथ में अंकुश हैं और प्रतिपक्षी को व्यथित करनेवाले, मानो दूसरे का अपमान करनेवाले, पीड़ा देनेवाले, पीड़ा देने के लिए दूसरों को प्रवृत्त करानेवाले ही हैं। उनका दान छोटे बच्चों के दान की तरह (अविश्वसनीय) है, (क्योंकि) वे आज विजयी होनेवाले जुआरी को फिर किसी अवसर पर पीट भी देते हैं। (तथापि) मधु से भरे हुए ये अक्ष द्यूतकार की मूर्तिमती (स्फूर्तिदात्री) शक्ति ही हैं।"[2]

---

1. सभामेति कितवः पृच्छमानो ज्येष्यामीति तन्वा शूशुजानः।
   अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि॥ 6॥
2 अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो
   कुमारदेष्णा जयत पुनर्हणो मध्वा सपृक्ता कितवस्य बर्हणा 7

पाँसों की शक्ति बहुत बड़ी है। ये उस अंकुश से युक्त महावत के समान हैं जो हाथी जैसे विशाल प्राणी को अपनी इच्छानुसार कहीं भी ले-जा सकता है। ये पाँसे जिताकर धन के द्वारा पुत्रलाभ-तुल्य आनन्द भी प्रदान करते हैं और हराकर मर्मभेद भी करते हैं—सन्तप्त भी करते हैं।

"सविता देव की तरह जिनके नियम अनुल्लंघनीय हैं, ऐसे इन 53 अक्षों का समूह स्वेच्छा से क्रीड़ा करता रहता है। अत्युग्र शूरवीर के क्रोध के सामने भी वे कभी विनम्र नहीं होते। साक्षात् सम्राट् इन्हे प्रणाम ही करता है।"[1]

जिस प्रकार सूर्य अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं होता उसी प्रकार इन प्रतापी पाँसों का समूह भी स्वाभीष्ट मार्ग का ही अनुसरण करता है। कोई यह चाहे कि मैं अपने भय से इन्हें झुकाकर अपने पक्ष में कर लूँ तो यह असम्भव है। ये किसी से नहीं झुकते, अपितु तथ्य तो यह है कि जुआ खेलने के समय राजा भी इनका ही प्रभुत्व स्वीकार करके इन्हें प्रणाम करता है।

"ये अक्ष नीचे (द्यूतपट पर) पड़े रहते हैं, लेकिन द्यूतकार के ऊपर (रहनेवाले हृदय को) काटते रहते हैं। ये स्वयं बिना हाथ के होकर भी हाथवाले द्यूतकार को परास्त करते हैं। द्यूतपट पर फैले हुए ये स्वर्गीय धधकते अंगार स्वयं शीतल होकर भी द्यूतकार के हृदय को जला देते हैं।"[2]

इस मन्त्र में बहुत ही काव्यात्मक आलंकारिक ढंग से पाँसों का महत्त्व और उनकी अतुलित शक्ति बताई गई है। विद्वानों द्वारा इसमें एक-साथ विरोधाभास, रूपक, अप्रस्तुत प्रशंसा और विभावना अलंकार माने गए हैं।

"द्यूतकार की धनहीन बनी हुई पत्नी और कहीं और भटकते हुए इस (कुलांगार) पुत्र की माँ मन में जलती रहती हैं और (सिर पर) दूसरों के ऋण का बोझ होने से धन की अभिलाषा रखनेवाला

---

1. **त्रिपंचाशः क्रीळन्ति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा।**
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत् कृणोति॥ 8॥
2 **नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।**
दिव्या अंगारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥ 9॥

वह डरते-डरते रात्रि के समय (छिपते हुए चोरी के लिए) दूसरों के घर जाता है।''[1]

हारा हुआ जुआरी घर आकर क्या मुँह दिखाए! इसीलिए वह इधर-उधर घूमता रहता है। उसकी पत्नी और माता, दोनों, उसके वियोग में सन्तप्त रहती हैं। वह ऋण लेता रहता है, पर उसे उतार नहीं पाता। दिनभर जुआ खेलता है और रात को फिर ऋण माँगने के लिए दूसरे लोगों के घर के चक्कर काटता रहता है, क्योंकि वे लोग तो रात को ही मिलेंगे—दिन में वे अपने-अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं।

''दूसरों की भार्या बनी हुई स्त्री को और उनका सुन्दर सजा हुआ घर देखकर द्यूतकार को अत्यधिक मानसिक पीड़ा होती है। क्योंकि यद्यपि दिन के पूर्वार्ध में इन सुनहले घोड़ों को (अक्षों को) उसने (अपने मनरूपी रथ पर) जोता था, तो भी (शाम के समय) भिखारी बनकर अपने चूल्हे की आग के पास वह खाली पड़ा रहा था।''[2]

हारे हुए जुआरी की जो दशा हुई है कि उसकी पत्नी दूसरों की पत्नी बनकर उनके घर में रह रही है और उनके घर सुन्दर सुशोभित सुखपूर्ण हैं, उस स्थिति ने उसे अत्यधिक सन्तप्त किया है। फिर भी वह जीतने की आशा में प्रातः से पाँसोंरूपी घोड़ों को द्यूतपटलरूपी मैदान पर दौड़ाता है। किन्तु निराशा उसके हाथ लगती है और रात को फिर वह घर आने का साहस न करके नीचे भूमि पर शीत से बचने के लिए कहीं लोगों द्वारा जलाई गई आग के निकट पड़ा रहता है।

''जो तुम्हारे इस महान् गण का सेनानी (प्रधान अक्ष) होगा, या जो तुम्हारे इस समुदाय का प्रमुख राजा होगा, उसके सामने मैं अपने हाथों की दसों अँगुलियाँ फैलाकर दिखाता हूँ और मैंने किसी प्रकार का धन छिपाकर पीछे नहीं रखा है, यह एकदम सत्य ही मैं

---

1. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
   ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥ 10॥
2. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
   पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद॥ 11॥

कहता हूँ।''[1]

यह एक निराश जुआरी की उक्ति है। अब वह पाँसों रूपी देवों के सम्मुख अपनी स्थिति स्पष्ट करता है। उन्हींको वह नमस्कार करता है। वह बताता है कि मैंने कभी धन को रोका नही जिससे पाँसे रुष्ट न हो जाएँ, और अब मैं सत्य कहता हूँ कि प्रतिज्ञापूर्वक इन दस अँगुलियों अर्थात् दोनों हाथों को जुए से हटा रहा हूँ।

पूर्वोक्त मन्त्रों में वर्णित महती कष्टानुभूति के पश्चात् जुआरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा करता है—

''अक्षों से द्यूत (जुआ) मत खेलो, खेत में (हल को जोतकर) कृषि ही करो। उसीमें धन्यता मानकर धन में रममाण हो जाओ। हे द्यूतकार, उसीसे गौओं और पत्नी दोनों का भी लाभ होता है। श्रेष्ठ ज्ञानी यह सवितादेव भी मुझसे वही कहता है।''[2]

कटु अनुभव प्राप्त करके शिक्षा ग्रहण करनेवाले जुआरी का यह आत्मनिवेदन है। अब वह जान गया है कि अपने हाथ से कार्य करके आजीविका प्राप्त करने से अच्छा और कुछ भी नहीं है। यह शिक्षा उसने अपने आसपास महाशक्तियों का निरीक्षण करके प्राप्त की है। सविता अर्थात् सूर्य सदा गतिशील रहता है। (**पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्**) इसी कारण यहाँ सविता का (ऋ गतौ से निष्पन्न) प्रयोग साभिप्राय है। वैसे अर्य का अर्थ स्वामी है किन्तु उसमें भी सम्भवतया मूल भावना यही है कि जो कार्य-निरत रहता है, वही सबका स्वामी हो सकता है।

''हे अक्षो, हमारी मित्रता को स्वीकार करो और सचमुच हम पर दया करो। धृष्टता से अपना भयंकर स्वरूप दिखाकर अपनी मोहिनी का प्रयोग हमारे ऊपर मत करो। (हमारे विषय में) तुम्हारे मन में विद्यमान क्रोध और शत्रुभाव समाप्त हो जाएँ, और इस समय

---

1. **यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।**
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि॥ 12॥

2. **अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।**
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥ 13॥

हमसे अन्य मनुष्य (जो हमारे शत्रु हैं) तुम्हारे पीतवर्ण अक्षों के जाल में फँस जाएँ।'[1]

अन्त में जुआरी पाँसों से प्रार्थना करता है कि वे उसके मित्र हो जाएँ और उसे अपने जाल में फँसाकर कष्ट न दें। अब वह अपना पूर्ण जीवन सुधारना चाहता है, इसलिए वह द्यूतक्रीड़ा से पृथक् होना चाहता है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार से अक्षदेवता का उसके प्रति क्रोध और दानहीनता की भावना शान्त हो जाएँगे। अब तो कोई दूसरा ही उसके समान दुःखी होकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए बभ्रुवर्ण पाँसों के बन्धन में फँसेगा।

निष्पाप होने की प्रार्थना

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 97वें सूक्त में परमात्मा से पापों को भस्म कर देने की अत्यन्त मार्मिक प्रार्थना की गई है। पाप-विनाशन की भावना का यह प्रवाह समस्त वैदिक धारा में प्रवहमान है। ऋषि परमात्मा से प्रार्थना करता है—

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदघम्॥
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम्॥
प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।
अप नः शोशुचदघम्॥
प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।
अप नः शोशुचदघम्॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः।
अप नः शोशुचदघम्॥
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम्॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अपः नः शोशुचदघम्॥

---

1 मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।
नि वो नु बभ्रूणा प्रसितौ त्वस्तु 14

स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम्। —(ऋग्० 1.97.1-8)

"प्रकाशस्वरूप देव! हमारे पाप को भस्म कर हमारी सद्गुण-सम्पत्ति को प्रकाशित कीजिये। हम बार-बार प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाप को भस्म कर दीजिये। उन्नति के लिए समुचित क्षेत्र, जीवन-यात्रा के लिए सन्मार्ग और विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति की कामना से हम आपका यजन करते हैं। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिये। भगवन्! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिये, जिससे हम और साथ ही हमारे तत्त्वदर्शी विद्वान् भी विशेषतः सुख और कल्याण के भाजन बन सकें। प्रकाशस्वरूप देव! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिये, जिससे कि हम आपके गुणों का गान करते हुए जीवन में उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त कर सकें। भगवन्! आप विघ्न-बाधाओं को दूर करनेवाले हैं। आपके प्रकाश की किरणें सर्वत्र फैल रही हैं। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिये। महिमाशील भगवन्! नाव से जैसे नदी को पार किया जाता है, इसी प्रकार आप हमें कल्याण-प्राप्ति के लिए वर्तमान परिस्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्रदान कीजिये। हमारे पाप को भस्म कर दीजिये।"

पाप-निर्मोक्षण

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत॥
ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम॥

(अथर्व० 6.114.1-2)

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः॥
यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥
द्रुपदाद् इव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः॥

(अथर्व० 6.115.1-3)

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः॥
(अथर्व० 7.106.1)

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्।
मिनीमसि द्यविद्यवि॥
मा नो वधाय हत्नवे, जिहीळानस्य रीरधः।
मा हृणानस्य मन्यवे॥
(ऋग्० 1.25.1-2)

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम, मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥
(ऋग्० 7.89.5)

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वम् आयुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥
(अथर्व० 6.41.3)

'हे अग्निदेव! हे उत्तम प्रकाशवाले (प्रभो)! कई बार भूल से हम कुछ-न-कुछ (दोषवाला कर्म) कर बैठते हैं और आचरण में लड़खड़ाने लग जाते हैं। तब-तब, हे जाननहार! आप ही हमारे संस्कार को ठीक करो और उस (दोषवाले संस्कार) से हमें बचाओ। हम आपके सखा ही तो हैं। इसलिए आपका शासन हमारे लिए अवश्य शुभकारी होना चाहिए। हे वरुण देव! माना, हम प्रतिदिन तेरी आज्ञाओं का उल्लंघन कर बैठते हैं, पर (क्या यह ठीक नहीं कि) हम (तेरे लिए) तेरी प्रजारूप ही तो हैं। इसलिए हे भगवन्, हमारा कचूमर मत निकाल। हमारी इतनी बुरी मार-पीट मत कर। हम पर रुष्ट होकर अति क्रोध मत कर। हे वरुण देव! हम साधारण मनुष्य हैं। हम कभी-न-कभी (जानते हुए भी) देवताओं के प्रति द्रोह कर बैठते हैं। कभी-कभी (न जानते हुए भी) देवताओं के प्रति द्रोह कर बैठते हैं। कभी-कभी अनजाने में तो हम तुम्हारे नियमों का भंग करते ही रहते हैं। हे देव! हमारे (मनों से) इस (दोनों प्रकार के) पाप का संस्कार दूर हो। हमारा इससे नाश मत हो

निर्भयता

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥
अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं, सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु॥
यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवंछग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥
(अथर्व० 19.15.5-6; 6.40.1; 19.15.1)

अर्थात्—"मध्यलोक हमें हमें अभय प्रदान करे। ये दोनों, भूलोक और द्युलोक हमें अभय प्रदान करें। पीछे की ओर हमे अभय हो। आगे की ओर हमें अभय हो। ऊपर की ओर हमें अभय हो। नीचे की ओर हमें अभय हो। मित्र से हमें अभय हो। अमित्र से हमें अभय हो। अपने से हमें अभय हो। पराये से हमें अभय हो। रात हो तो हमें अभय हो, दिन हो तो हमें अभय हो। सब दिशाएँ हमारे प्रति मित्रभाव से भरी हों। हे आकाश और हे भूमे! हमारे लिए इस जीवन में सदा अभय हो। सोम हमें अभय दे। सविता हमें अभय दे। विशाल अन्तरिक्ष हमारे लिए अभयदायक हो। सप्त-ऋषियों की भक्ति-भरी वेदवाणी द्वारा हमें अभयलाभ हो। हे इन्द्र! नीच से हमें शत्रुता से मुक्त करो। ऊपर से हमें शत्रुता से मुक्त करो। पीछे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। आगे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। हे इन्द्र! जिधर से हमें भय हो, उधर से हमें अभय दो। हे भगवन्! तुम हमें अपनी रक्षाओं द्वारा सशक्त बनाओ। हमारा हानि और हिंसा करनेवालों को दूर मार हटाओ।"

द्वेषत्याग

विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्। (ऋग्० 4.1.4)
'हे प्रभो! हमसे सब द्वेषों को पूरी तरह छुड़ा दो।'
स नः पर्षद् अतिद्विषः। (अथर्व० 6.34 1)
'ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक् कर दे।'

मा नो द्विक्षत कश्चन। (अथर्व० 12.1.24)
'हमसे कोई भी द्वेष करनेवाला न हो।'
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु। (अथर्व० 19.14.1)
'सभी दिशाएँ मेरे लिए शत्रुरहित हों।'
अनमित्रं नो अधराद् अनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद् अनमित्रं पुरस्कृधि॥
(अथर्व० 6.40.3)
असपत्नं नो अधराद्, असपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज् ज्योतिः शूर पुरस्कृधि॥
(अथर्व० 8.5.17)

'हे इन्द्र! नीचे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। ऊपर से हमें शत्रुता से मुक्त करो। पीछे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। आगे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। हे इन्द्र! नीचे हमें स्वतन्त्रता दो। ऊपर हमें स्वतन्त्रता दो। पीछे हमें स्वतन्त्रता दो। हे वीर! आगे हमें ज्योति प्रदान करो।'

दीर्घायु

पश्येम शरदः शतम्,
जीवेम शरदः शतम्॥
शृणुयाम शरदः शतम्,
प्र ब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्,
भूयश्च शरदः शतात्॥
(ऋग्० 7.66.16; यजु० 36.24)

'हम सौ वर्ष तक देखें, हम सौ वर्ष तक जियें, हम सौ वर्ष तक सुनें, हम सौ वर्ष तक भलीभाँति बोलें, हम सौ वर्ष तक अदीन बने रहें, हम सौ वर्ष से भी अधिक समय तक उन-उन कार्यों को करते रहें।'

जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरद शतम्

भवेम शरदः शतम्।
भूयेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात्॥

(अथर्व० 19.67.2-8)

'हम सौ और सौ से अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करें, अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति की प्राप्ति करते रहें, पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा गुणों से अपने को भूषित करते रहें।'

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥

(यजु० 25.22)

'हे देवताओ! आपने सौ वर्ष के आस-पास ही, हमारे तनों का बुढ़ापा बनाया है। तब तक हमारे पुत्र भी पिता हो चुकते हैं। हमारा जीवन इसी प्रकार चले। बीच में ही यह टूट मत जावे।'

मा नो हेतिर्विवस्वत आदित्याः कृत्रिमा शरुः
पुरा नु जरसोवधीत्॥ (ऋग्० 8.67.20)

'हे आदित्यो! हमारा जीवन बुढ़ापे तक ठीक चले। कहीं उससे पहले ही काल की कटनी इसे काट न दे या और कोई अस्वाभाविक मार इसे मिटा न दे।'

अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः। (अथर्व० 5.3.5)
'हम शरीर से नीरोग हों और उत्तम वीर हों।'

धातरायूंषि कल्पयैषाम्। (ऋग्० 10.18.5)
'प्रभो! तू हमें दीर्घजीवी कर।'

विश्वमायुर्व्यश्नवै। (यजु० 19.37)
'मैं सम्पूर्ण जीवन को भोगूँ।'

सविता नो रासतां दीर्घमायुः। (ऋग्० 10.36.14)
'जगत् उत्पादक प्रभु हमें दीर्घ आयु प्रदान करें।'

दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु। (अथर्व० 14.1.47)
परमेश्वर तेरी आयु दीर्घ करें'

मधुर जीवन

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय। पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा॥ सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा। विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः॥ यथा मधु मधुकृतः सम्भरन्ति मधावधि। एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि। एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम्॥ यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु। सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि॥ (अथर्व० 9.1.14-18)

'मैं मिठास को पैदा करूँ। मैं मिठास को आगे बढ़ाऊँ। हे अग्नि देव! मैं पुष्टि से भरा हुआ आया हूँ। मुझे प्रतापी बनाओ। हे अग्नि देव! मुझे प्रताप से युक्त करो। मुझे प्रजा से युक्त करो। मुझे आयु से युक्त करो। देवताओं तक मेरी पूछ-प्रतीति हो। इन्द्र तक और ऋषियों तक मेरी पूछ-प्रतीति हो। जैसे मधु-मक्खियाँ मधु के ऊपर मधु जोड़ती रहती हैं, हे अश्विनी देवो! वैसे ही मेरे अन्दर (प्रताप के ऊपर) प्रताप (नित्य) जुड़ता रहे। जैसे शहद की मक्खियाँ मधु के ऊपर मधु थोपती जाती हैं, हे अश्विनी देवो! वैसे ही मुझमें प्रताप, तेज, बल और ओज एकत्रित होता रहे। जो टीलों पर मिठास होती है, जो पर्वतों पर मिठास होती है, जो गौओं मे मिठास होती है, जो घोड़ों में मिठास होती है, और जो (गुड़ आदि की) मिठास सुरा (निकालते हुए उस) में डाली जाती है, वही स्वाभाविक मिठास मेरे अन्दर (अपने-आप) उमगती रहे।'

पवित्र जीवन

यत् ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनीहि नः॥
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥
पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये॥
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे॥

(ऋग् 9 67 23 अथर्व० 6 19 1 3)

'हे अग्नि देव! जो पवित्र और विशाल ब्रह्म तेरी ज्वाला में लस-लस कर रहा है, उससे हमें पवित्र करो। देव-जन मेरे विचार पवित्र करें। मनुगण मेरे विचार पवित्र करें। सब भूतगण मेरे विचार पवित्र करें। पवित्रकारी भगवान् मुझे पवित्र करें। मेरे अन्दर भक्ति-भाव तथा कर्मण्यता का विकास हो। मुझे जीवन और आरोग्य प्राप्त हो। हे सविता देव! पवित्रता और प्रेरणा दोनों द्वारा हमें पवित्र करो। हमें देखकर चलनेवाले बनें।'

सम्पुष्ट जीवन

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां सं स्राव्येण हविषा जुहोमि॥
इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः॥
ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः।
तेभिर्मे सर्वै संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥
ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥
रूपं-रूपं वयो-वयः संरभ्यैनं परि ष्वजे।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥
(अथर्व० 1.15.1-4, अथर्व० 19.1.3)

'नदियाँ सम्पुष्ट होती हुई खूब बहें। वायु सम्पुष्ट होती हुई खूब चले। पक्षी सम्पुष्ट होते हुए खूब उड़ें। मैं खूब धारावाहिनी आहुति से (सम्पुष्ट जीवन धारण करनेवाले इस) यज्ञ को करता हूँ। सुप्रकाश से युक्त (देवता) गण मेरे इस पूजन को स्वीकार करें। हे मिलकर बोलनेवाले पुरोहितो! आओ, मेरे इस यज्ञ में आकर बैठो और इसका विस्तार करो। (सुख के साधनरूप) सब पशु मुझे प्राप्त हों। जो धन-सम्पत्ति है, वह इस (मुझ) में ठहरी रहे। जिस प्रकार नदियों से सोते सदा अक्षीण भाव से (अपनी-अपनी धाराओं को आपस में) मिलाते हुए बहते हैं, उसी प्रकार धन की सभी धाराओं को मिलाकर हम अपनी ओर बहाते हैं। जैसे घृत, दूध और जल की अपनी-अपनी धाराओं के आपस में मिलने से उनके संयुक्त बहाव बहते हैं. वैसे ही (बडे-बड़े) संयुक्त बहावों से हम धन को

(समेटकर) अपनी ओर बहाकर ले आते हैं। इस (जीवन-संपोषक) यज्ञ का सब दिशाओं में विस्तार हो। मैं खूब धारावाहिनी आहुति से इसे सम्पन्न करता हूँ। मैं प्रत्येक पशु और प्रत्येक पक्षी को घेरे में लेकर इसको घेरता हूँ।'

यज्ञमय जीवन की सफलता

वाजश्च मे प्रसवश्च मे,
प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे,
धीतिश्च मे क्रतुश्च मे,
स्वरश्च मे श्लोकश्च मे,
श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे
ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥
प्राणश्च मेऽपानश्च मे,
व्यानश्च मेऽसुश्च मे,
चित्तं च मऽ आधीतं च मे,
वाक् च मे मनश्च मे,
चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे,
दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥
ओजश्च मे सहश्च मे,
आत्मा च मे तनूश्च मे,
शर्म च मे वर्म च मेऽ-
अङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे,
परूंषि च मे शरीराणि च मऽ-
आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥
रयिश्च मे रायश्च मे,
पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे,
विभु च मे प्रभु च मे,
पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे,
कुयवं च मेऽक्षितं च मे,
अन्नं च मेऽक्षुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥
वित्त च मे वेद्य च मे
भत च मे मे,

सुगं च मे सुपथ्यं च मऽ-
ऋद्धं च मऽ ऋद्धिश्च मे,
क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे,
मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥
व्रीहयश्च मे यवाश्च मे,
माषाश्च मे तिलाश्च मे,
मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे,
प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे,
श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे,
गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥
(यजु० 18.1-3, 10-12)

अर्थात्—यज्ञ के द्वारा मेरी वृद्धिकारी शक्ति और मेरी बुद्धि समुन्नत हों। मेरा दान और मेरा आदान यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो। मेरे पूजा-पाठ और मेरा धर्म-कर्म यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो। मेरा बोल और मेरा श्लोक यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो। मेरा सुना-सुनाया और मेरा पढ़ा-पढ़ाया यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो। मेरी (यज्ञाग्नि की) ज्योति और मेरा (यज्ञाग्नि का) प्रकाश यज्ञ के द्वारा समुन्नत हो।

मेरा प्राण और मेरा अपान यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा व्यान और श्वास यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा चित्त और मेरा चिन्तन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी वाणी और मेरा मन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे चक्षु और श्रोत्र यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी क्षमता और मेरा बल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

मेरा धन और मेरी सम्पत्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा पोषण और मेरी पुष्टि यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा वैभव और मेरी प्रभुताई यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी पूर्णता और मेरी पूर्णता-भरी स्थिति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी प्रचुरता और अक्षीणता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा अन्न और मेरी तृप्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

मेरा प्राप्त किया जा चुका और प्राप्त किया जानेवाला यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा भूत और भविष्यत् यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा स्वास्थ्य और मेरे स्वास्थ्य के उत्तम साधन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सामर्थ्य और मेरी सामर्थ्य की साधना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी मति और मेरी सुमति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

मेरे चावल और मेरे जौ यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे उड़द और मेरे तिल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे मूँग और मेरे खल्व (चने) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे श्यामाक (समा) और मेरे नीवार (पसाई के चावल) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे गेहूँ और मसूर यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥

(अथर्व० 19.63.1)

हे वेद–पाठ के देवता! उठो, देवताओं को यज्ञ का सन्देश सुनाओ। आयु बढ़ाओ। प्राण बढ़ाओ। प्रजा बढ़ाओ। पशु बढ़ाओ। कीर्ति बढ़ाओ। यज्ञकारी को (हर प्रकार से) बढ़ाओ।

शाकी भव यजमानस्य। (ऋग्० 1.51.8)

यज्ञकर्ता को आगे ले–जानेवाला बन।

ऊर्ध्वं नो अध्वरं कृतम्। (ऋग्० 7.2.7)

हमारे जीवन–यज्ञ को सदा उन्नतिशील रखो।

इयं ते यज्ञिया तनूः। (यजु० 4.13)

तेरा शरीर प्रभु–प्राप्ति के लिए है।

अयज्ञियो हतवर्चा भवति। (अथर्व० 12.2.37)

यज्ञहीन का तेज नष्ट हो जाता है।

यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। (अथर्व० 9.10.14)

यश ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बाँधनेवाला नाभिःस्थल है।

ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्। (अथर्व० 18.4.2)

यज्ञ करनेवाले उत्तम गति को प्राप्त करते हैं।

शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः। (ऋग्० 10.18.2)

शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले होओ।

ओजपूर्ण तेजस्वी जीवन

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्यु मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि। (यजु० 19.9)

अर्थात्—

हे प्रभो!

आप तेजस्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिये।

आप वीर्यरूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिये।

आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइये।

आप ओज-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइये।

आप मन्यु-रूप हैं, मुझमें मन्यु को धारण कीजिये।

आप सहस्-स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिये।

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥
या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥
राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥

(अथर्व 6.38.1-4)

सिंह में, व्याघ्र में, चीते में, अग्नि में, ब्राह्मण में, सूर्य में जिस स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश हो रहा है (वही मेरे अन्दर भी हो), जिस स्वाभाविक शक्तिरूपिणी देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिये हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे।

हाथी में, गैंडे में, सुवर्ण में, जलों में, गौओं में, पुरुषों में जिस (स्वाभाविक शक्ति) का प्रकाश हो रहा है (वही मेरे अन्दर भी हो); जिस देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिये हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे। रथ में (रथों में), छुरों में, बैल के बल में, वायु में, मेघ में, वरुण की सुखानेवाली शक्ति में जिस स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश हो रहा है (वही मेरे अन्दर भी हो; जिस (स्वाभाविक शक्तिरूपिणी) भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिये हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे। शासकगण में दुन्दुभि की दीर्घ (ध्वनि) में घोड़े की हिनहिनाहट में पुरुष की ललकार में जिस

(स्वाभाविक शक्ति) का प्रकाश हो रहा है (वही मेरे अन्दर भी हो); जिस देवी भगवती ने इन्द्र को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिये हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे।

हस्तिवर्चसं प्रथता बृहद् यशो अदित्या यत्तन्वः संबभूव।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥
मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा॥
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वपस्वन्तः।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाऽग्ने
वर्चस्विनं कृणु॥
यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः।
यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा॥
यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते।
तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम्॥
हस्ती मृगाणां सुषदाम् अतिष्ठावान्बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाभिषिञ्चामि मामहम्॥

(अथर्व० 3.22.1-6)

हस्ति-बल की महाकीर्ति (सर्वत्र) फैल रही है। साक्षात् अदिति देवी की उपज है। सब देवता और अदिति देवी अपने प्रसाद के रूप में मुझे वह महाबल प्रदान करें। मित्र देवता, वरुण देवता, इन्द्र देवता और रुद्र देवता (मेरा) ध्यान रखें। (वे) देवता (ही) सबके आधार हैं। वे ही मुझे महाबल की चमक प्रदान करें। जिस महाबल से हाथी प्रभावशाली होता है, जिस (महाबल) से राजा मनुष्यों के अन्दर प्रभावशाली होता है (और वरुण राजा) जलों के अन्दर (प्रभावशाली होता है), जिस (महाबल) से देवता पहले देवताओं की पदवी को प्राप्त हुए, हे अग्नि देव! अब मुझे उसी महाबल से (युक्त करके) महाबली बनाओ। हे जात-वेदस् देव! आहुति पड़ने पर जो तेरा महाबल (और) महान् हो जाता है, जितना सूर्य का और बड़े हाथी का महाबल होता है, हे पुष्कल वीर्यवाले अश्वी देवताओ! (उस ओर) उतने महाबल को मुझे प्रदान करो। चारों दिशाओं में जितनी दूर दृष्टि पहुँच पाती है उतनी (विशाल धारण करता हुआ)

शक्तिशाली बनानेवाला, वह हाथी का महाबल मुझे प्राप्त हो। बड़प्पनवाले पशुओं के मध्य में हाथी बढ़-चढ़कर स्थितिवाला बना है, मैं उसके प्रतापी महाबल से अपने-आपको अभिषिक्त करता हूँ।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता
धर्म साविषत्॥
विश्वेऽअद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः
समिद्धाः।
विश्वे नो देवाऽअवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं
वाजोऽअस्मे॥
वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु॥
वाजो नोऽअद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँऽऋतुभिः
कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा
वाजपतिर्जयेयम्॥
वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा
वर्धयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा
वाजपतिर्भवेयम्॥ (यजु० 18.30-34)

पृथिवी माता ही अदिति देवी है। उसी में सारा लोक समाया हुआ है। हम उसकी स्तुति करते रहें। वह हमारी बलदात्री बनी रहे। उस पर निवास करते हुए हम कर्मशील बने रहें, और सविता देव हमारे कर्मों को सफल बनाता रहे। हमारे लिए सभी मरुत् देवता रक्षा-धन से भरपूर होकर आवें। हमारे लिए सभी अग्नि देवता समुज्ज्वल होकर आवें। हमारे लिए सभी देवगण परिपालन से मुक्त होकर आवें। हमारा बल (ही) हमारा सब धन हो। हमारा बल सातों दिशाओं में व्याप्त होनेवाला हो। हमारा बल चारों कोनों में व्याप्त होनेवाला हो। हम धन-ऐश्वर्य को पैदा करें। हमारे इस कार्य में सब देवताओं से मिलकर हमारा अपना बल हमारा सहायक बने। हमारा बल अब हमारी दान-शक्ति को बढ़ाता रहे। हमारे बल ने हमें पूरा स्वस्थ बनाया है। हम ऐसे बल को दृढ़तापूर्वक धारण

करते हुए सब दिशाओं में अपनी विजय-पताका फहराते रहे। हमारा बल हमें आगे-आगे बढ़ाता रहे। हमारा बल बीच में (जहाँ हम खड़े हों) हमारी रक्षा करे। हमारा बल देव-पूजा में अधिक लगा रहे। मेरा बल ही मुझे सर्वथा स्वस्थ बनाए हुए है। मैं जिस दिशा में भी निकलूँ, मेरा बल मेरा पूरा साथ दे।

शारीरिक स्वास्थ्य की प्रार्थना

वैदिक ऋषि कामना करता है कि उसके समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें। वाणी, प्राण, आँख और कान अपना-अपना काम ठीक तरह से कर सकें। बाल काले रहें। दाँतों में कोई रोग पैदा न हो। बाहुओं में बहुत बल हो। ऊरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोश्श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा।
अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥ (अथर्व० 19.60.1-12)

"मेरे मुख में उत्तम वक्तृत्वशक्ति रहे, मेरे नाक में बलवान् प्राण संचार करता रहे, मेरी आँखों में उत्तम दर्शनशक्ति रहे, मेरे कानों में उत्तम श्रवणशक्ति रहे, मेरे बाल श्वेत न हों, मेरे दाँत मलिन न हों, मेरे बाहुओं में बहुत बल रहे, मेरी जाँघों में बड़ी शक्ति रहे, मेरी पिंडलियों में बड़ा वेग रहे, मेरे पाँवों में स्थिरता रहे, पाँव कभी काँपने न लगें, मेरे सभी अंग अच्छी अवस्था में रहें—रोगी न हों, मेरी आत्मा निरुत्साही न हो।"

अश्मा भवतु नस्तनूः। (यजु० 29.49)

'हम सबके शरीर पत्थर-तुल्य दृढ़ होवें।'

उग्रा वः सन्तु बाहवः। (अथर्व० 3.19.7)

'तुम्हारी भुजाएँ खूब बलशाली हों।'

सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः। (अथर्व० 16.2.5)

'गरुड़ के समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि और आँखों में निरन्तर ज्योति बनी रहे।'

घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व। (यजु० 12.44)

'घी से शरीर को बढाओ

बलं धेहि तनूषु नो। (ऋग्० 3.53.18

'हे प्रभु! हमारे शरीर में बल दो।'

अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः। (ऋग्० 10.128 3

(अथर्व० 5.3.5

'हम उत्तम वीर होकर शरीर से सुखी हों।'

यु-निवारण

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमहि मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥

(अथर्व० 5.30.17

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥
आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्।
ग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते॥
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु॥
प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥
आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयम् अग्निर्वरेण्यः॥

(अथर्व० 7.53.2-6

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत्तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि॥

(अथर्व० 8.1.21

''यह लोक देवताओं का प्यारा है। यहाँ पराजय का क
न? तुम जिस मौत के लिए प्रति संकल्पे जा चुके हो, हम उ
श में करके और मानो) साथ (खड़ा करके) तुम्हें वापस बुला
बुढ़ापे से पहले (अब) तुम मरने के नहीं। तुम्हारे प्राण औ
ान (फिर से) चलने लग जाएँ, (तुम्हारे) शरीर को छोड़ म
.। ये इसके अन्दर मिले हुए (अपना-अपना कार्य करनेवाले
तुम बढ़े चलो तुम सौ वर्ष पर्यन्त जीते रहो (

स्वयं) अग्नि (देव) तुम्हारा सर्वोत्तम अधिपति और रक्षक (बना रहा) है। तुम्हारा जीवन ठीक है; निकलकर दूर ही जा पहुँचा था परन्तु मेरे द्वारा किये जा रहे उपाय से तुम्हारे प्राण और अपान पुनः तुम्हारे अन्दर लौटकर आ रहे हैं। अग्नि (देव) तुम्हारे जीवन को मौत के घर से लौटा लाया है। अब उसे मैं तुम्हारे अन्दर भरे देता हूँ। न इसे प्राण छोड़े और न ही इसे अपान छोड़कर भाग निकले। (मैं) इसे (सनातन) सप्त ऋषियों के सामने स्थापित कर रहा हूँ (ताकि) वे इसे सुखपूर्वक बड़ी आयु (प्रदान करने के लिए) बढ़ाते रहें। हे प्राण! हे अपान! आओ इस (के शरीर) में प्रवेश करो। जैसे बैल (सूने) बाड़े में प्रवेश करके उसे आबाद कर देते हैं, ऐसे ही तुम इसमें जीवन का संचार कर दो। यह पक्की आयु भोगनेवाला बने। यह नीरोग रहे। यह बढ़ता रहे। हम तेरे अन्दर प्राण-शक्ति को लाकर भर देते हैं। हम तेरे क्षय-रोग को दूर भगा देते हैं। परम सनातन अग्नि (देव) हमें सब ओर से जीवन प्रदान करता रहे। (ले) देख, तेरी साँस चल पड़ी है। (ले, देख) तेरी (आँख की ज्योति) जाग पड़ी है। (ले, देख) तेरा अँधेरा दूर भाग गया है। (यह लो) मौत को, दुःख-दर्द को, रोग-शोक को तुझसे दूर ले-जाकर (भूमि के अन्दर) गहरा दबाए देते हैं, ताकि फिर सिर न उठा सकें।

अमृतत्व

परैतु मृत्युरमृतं न एतु। (अथर्व० 18.3.62)
'मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत पद हमें प्राप्त हो।'

मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युः। (अथर्व० 17.1.29)
'मुझे पाप और मौत न व्यापे।'

पर मृत्यो अनु परेहि। (यजु० 35.7)
'मृत्यु को परे धकेल दो।'

स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः। (अथर्व० 18.4.14)
'पुण्यात्मा के लिए विद्वानों का मार्ग स्वर्ग का रास्ता है।'

विविध

जानता संगमेमहि। (ऋग्० 5.51.15)
हम ज्ञानियों की संगत में रहा करें।
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। (अथर्व० 3.24.5)
सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों हाथों से बिखेरो।
दिवमारुहत् तपसा तपस्वी। (अथर्व० 13.2.25)
तपस्वी तप से उन्नति करता है।
तपोभिरहृदो जरूथम्। (ऋग्० 7.1.7)
तप के द्वारा बुढ़ापे को दूर रखो।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन।(ऋग्० 10.152.1)
ईश्वर-भक्त न कभी मारा जाता है और न कभी पराजित होता

यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्। (अथर्व० 7.18.2)
जहाँ परमेश्वर की ज्योति है वहाँ सदा कल्याण ही है।
महे च न त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्। (ऋग्० 8.1.5)
हे ईश्वर! मैं तुझे किसी कीमत पर भी न छोड़ूँ।
य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः। (अथर्व० 9.10.1)
जो उस ब्रह्म को जान लेते हैं वे मोक्ष पद पाते हैं।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः। (अथर्व० 10.8.44)
आत्मा को जानने पर मनुष्य मृत्यु से नहीं डरता।
एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। (अथर्व० 2.2.1)
एक परमेश्वर ही पूजा-योग्य और प्रजाओं में स्तुत्य है।
तरत् स मन्दी धावति। (ऋग्० 9.58.1)
ईश्वर के आनन्द में मस्त तर जाता है।
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट। (अथर्व० 3.30.5)
बड़ों का मान रखनेवाले और उत्तम चित्तवाले तुम लोग
ग-अलग न होओ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति। (यजु० 31.18)
उस ब्रह्म को जानने से ही मृत्यु से छुटकारा है।
धन्वन्निव प्रपा असि। (ऋग्० 10.4.1)
प्रभो! मरु देश में तू प्याऊ की भाँति है।
भद्रा इन्द्रस्य रातयः। (ऋग्० 8.62.1)
परमेश्वर के दान कल्याणकारी हैं।

न रिष्येत् त्वावतः सखा। (ऋग्० 1.91 8)
ईश्वर! आपका मित्र कभी नष्ट नहीं होता।
अनागो हत्या वै भीमा। (अथर्व० 10.1.29)
निरपराध की हिंसा करना बड़ा भयंकर है।
उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः। (ऋग्० 10.107 2)
दानी संसार में ऊँचा स्थान पाते हैं।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। (ऋग्० 1.125.6)
दानी अमर पद प्राप्त करते हैं।
उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अथर्व० 8.1 6)
पुरुष! तेरे लिए आगे बढ़ना है, न कि पीछे हटना।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्।(अथर्व० 5.30 7)
उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का धर्म है।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु। (ऋग्० 1.124.3)
सज्जन व्यक्ति सत्य के मार्ग पर चलता है।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम। (अथर्व० 2.11.1)
अपने समान लोगों से आगे बढ़ो और श्रेय को प्राप्त करो।
उच्छ्रयस्व महते सौभगाय। (ऋग्० 3.8.2)
बड़े भारी उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए उन्नत पद पर स्थिर हो।
सह ओजो यजमानाय धेहि। (अथर्व० 19.52.2)
बल और ओज यजमान के लिए दो।
प्रथमं नो रथं कृधि। (ऋग् 8.80.5)
हे ईश्वर। आप हमारे जीवन-रथ को सबसे आगे प्रथम स्थान पर कर दो।
वयं तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म। (अथर्व० 18.4.87)
हम उन सब में श्रेष्ठ हो जावें।
यशसः स्याम। (अथर्व० 6.39.2)
हम यशस्वी बनें।
यशः श्रीः श्रयतां मयि। (यजु० 39.4)
यश और ऐश्वर्य मुझ में हो।
वयं सर्वेषु यशसः स्याम। (अथर्व 6 58 2)
हम समस्त जीवों मे यशस्वी होवे

युतोत नो अनपत्यानि गन्तोः। (ऋग्० 3.54.18)

हम निपूतेपन के दोषों से बचें।

जनया दैव्यं जनम्। (ऋग्० 10.53.6)

उत्तम सन्तान पैदा करें।

भूत्यै जागरणम् अभूत्यै स्वपनम्। (यजु० 30.17)

जागना ऐश्वर्यप्रद है। सोना (आलस्य) दरिद्रता का मूल है।

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः। (यजु० 9.23)

हम अपने देश में सावधान होकर पुरोहित (नेता, अगुआ) बनें।

प्रबुधे नः पुनस्कृधि। (यजु० 4.14)

प्रभु हमें फिर प्रबुद्ध कर दे।

पाँचवाँ अध्याय

वैदिक समाज और मानववाद

समाज-व्यवस्था

इस समय विश्व में पूँजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद आदि अनेक आन्दोलन चल रहे हैं। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि व्यक्तियों से समाज एवं राष्ट्र का निर्माण होता है। व्यक्ति की उन्नति से समाज और राष्ट्र की उन्नति होती है। अत अपनी उन्नति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। मनुष्य को स्वतन्त्रता न रही तो मानव-व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो सकता।

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था एवं उसके भयंकर दुष्परिणाम

दूसरी ओर पूँजीवादी व्यवस्था है जिसमें समाज की व्यवस्था ऐसी है कि पूँजीपति मज़दूर से मज़दूरी कराते हैं और स्वयं निठल्ले रहकर भी उसकी कमाई का बड़ा हिस्सा स्वयं खा जाते हैं। यह पूँजीवादी व्यवस्था भीषण आर्थिक विषमता का कारण बनती है। एक ओर तो वे लोग हैं जो गगनचुम्बी राजप्रासादों में रहते हैं और दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जिन्हें पौष की कड़कड़ाती सर्दी, ज्येष्ठ की तपती दुपहरी और सावन की झड़ी से सिर छिपाने के लिए फूस की झोपड़ी भी नसीब नहीं होती। एक ओर वे लोग हैं जो चाँदी और सोने के बर्तनों में दिन में कई-कई बार राजसी आहार द्वारा अजीर्ण के शिकार बने रहते हैं तो दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जिनको अपना पेट भरने के लिए मुट्ठी-भर दाने भी नसीब नहीं होते पूँजीवादी कहता है कि उसने पूँजी लगाई है और इसलिए

कमाई का असली हकदार वह है। इस प्रकार की पूँजीवादी व्यवस्था मज़दूर और पूँजीपति इन दोनों की ही आत्मा का पतन करती है। इस व्यवस्था में जहाँ करोड़ों लोग गरीबी के अवर्णनीय कष्ट भोगते हैं, वहाँ अनेक बार वे गरीबी से तंग आकर धर्म, नैतिकता व सत्य का मार्ग छोड़कर चोरी, डाकेज़नी, ठगी व लूटपाट प्रारम्भ कर देते हैं। दूसरी ओर धनपति अपनी पूँजी को निरन्तर बढ़ाने के नशे में अपनी विक्रय वस्तुओं की कीमतों को मनमाने ढंग से बढ़ाते जाते हैं। माल जमा करके नकली अभाव और अकाल उत्पन्न करते हैं, जरूरतमंद गरीब लोगों को ऋण देकर भारी ब्याज वसूल करते हैं।

भौतिकतावादी समाज–व्यवस्था में व्यक्ति की भाँति ही समाज और राष्ट्र की वृत्ति भी इसी प्रकार शोषण द्वारा धन कमाने की होती है। धन के लोभी लोग राष्ट्र–रूप में संगठित होकर दूसरे दुर्बल देशों पर आक्रमण करके उन्हें निरन्तर शोषण द्वारा सर्वथा पंगु बना देते हैं। विजेता राष्ट्रों द्वारा विजित राष्ट्रों पर किये गए अन्याय और अत्याचारों की दु:खभरी कहानियों से इतिहास भरा पड़ा है। 'सिकन्दर, महमूद एवं नेपोलियन का युग और बड़े–बड़े राज्यों का वाणिज्य–व्यापार से रुपया कमाने का युग—ये दोनों पूँजीवाद के युग हैं।' राजा–बादशाहों का फौजें लेकर लूट के लिए निकल पड़ना और अंग्रेज़ व्यापारियों का उपनिवेशों द्वारा धन इकट्ठा करना, ये दोनों ही पूँजीवादी विचारधारा के प्रमाण हैं। पिछले दो महायुद्धों के मूल में भी वस्तुत: यही धन–लिप्सा एवं दूसरे को हड़प लेने की प्रवृत्ति रही।

साम्यवादी समाज–व्यवस्था

पूँजीवादी समाज–व्यवस्था के भीषण वैषम्य और अमानवीय अत्याचारों के विरुद्ध जर्मनी के महाचिन्तक कार्ल मार्क्स ने आवाज बुलन्द की। कार्ल मार्क्स द्वारा बताए गए साम्यवाद या कम्युनिज्म का उद्देश्य है मनुष्य–जाति में वह अवस्था उत्पन्न कर देना जो कुटुम्ब में होती है, अर्थात् हर व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार काम करे, अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग करे, किसी की अपनी सम्पत्ति न हो और समस्त सम्पत्ति सबकी साँझी हो। यह आत्म

कुटुम्ब की होती है, और जो सम्प्रदाय समस्त मानव-जाति में यह अवस्था उत्पन्न कर देना चाहता है उसे कम्युनिस्ट या साम्यवादी कहेंगे।[1]

साम्यवाद विश्व में कुटुम्बवादी व्यवस्था उत्पन्न करना चाहता है। कुटुम्ब में उनका स्वामी दिनभर अथक परिश्रम करके पैसा कमाता है। उसकी पत्नी घर के कामों में दिन-रात लगी रहती है। उनके बूढ़े माँ-बाप से कुछ होता ही नहीं। छोटा बच्चा भी असमर्थ होने के कारण कुछ नहीं करता। बड़ा भाई यह शिकायत नहीं करता कि उसका छोटा भाई तो दिनभर खेलता ही रहता है और कुछ नहीं कमाता है। कुटुम्ब के इस नियम को कहते हैं—'शक्त्यनुपाती श्रम' अर्थात् हर व्यक्ति को उतना काम अवश्य करना चाहिए जितना करने की उसमें शक्ति है (From Every body according to his capacity)। आवश्यकतानुपाती उपभोग और शक्त्यनुपाती श्रम (Enjoyment according to needs & work according to capacity)। ये दो मौलिक नियम हैं जिन पर कुटुम्ब की आधारशिला रखी गई। कम्युनिज़्म कहता है कि यह बात संसार-भर की मानव-जाति पर लागू होनी चाहिए, अर्थात् मानव-जाति का एक बड़ा कुटुम्ब है। उसमें हर मनुष्य को उतना काम करना चाहिए जितनी उसमें शक्ति है और उसके उपभोग की वह समस्त सामग्री उसके लिए उपलब्ध होनी चाहिए जो उसके सुखपूर्वक जीवन के लिए आवश्यक है।

कुटुम्ब में तीसरी बात यह है कि कोई किसी पर शासन नहीं करता। एक शासक वर्ग, दूसरा शासित वर्ग; एक राजा, दूसरी प्रजा—इस प्रकार के कुटुम्ब के दो भाग नहीं होते। एक प्रबंधक तो होता है, वह कुटुम्ब की सम्पत्ति का प्रबंध करता है, किन्तु सम्पत्ति समस्त कुटुम्ब की होती है, एक व्यक्ति की नहीं। इसी प्रकार हमारे मनुष्य-समाज में कोई साम्राज्य या सम्राट् नहीं होना चाहिए, कोई व्यक्ति सम्पत्ति न रखे। सम्पत्ति राष्ट्र-भर की हो। राष्ट्र प्रबंधकर्त्ताओं को चुन देवे। वे समस्त सम्पत्ति का प्रबन्ध करें। उसी सम्पत्ति में से सबको आवश्यकतानुसार खाना-कपड़ा मिलता रहे।

1 कम्युनिज्म

कुटुम्ब में चौथी बात यह होती है कि काम तो अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार सब करते हैं, परन्तु उस काम का पारिश्रमिक समस्त कुटुम्ब का धन समझा जाता है, केवल कमानेवाले व्यक्ति का नहीं। कल्पना कीजिये कि कुटुम्ब में चार भाई हैं। एक खेती करके 100 मन अन्न उत्पन्न करता है, दूसरा बजाज है और 500 रु० मासिक कमाता है, तीसरा डॉक्टर है और 2000 रु० मासिक पा जाता है, चौथा क्लर्क है और उसे केवल 80 रु० मिलते हैं। इन चारों की रुचि भिन्न-भिन्न, शक्ति भिन्न-भिन्न और कमाई भिन्न-भिन्न है, परन्तु यह सब कमाई कुटुम्ब की है, किसी की अपनी नहीं। कम्युनिज़्म की माँग है कि यही अवस्था समस्त देश की या समस्त जगत् की होनी चाहिए। "आय समस्त देश की हो, किसी एक की नहीं। काम सब करें और खाएँ भी सभी। परन्तु सम्पत्ति का स्वामी कोई एक न हो।"

साम्यवादियों का कथन है कि पूँजी सब बुराइयों की जड़ है। अतः यदि मनुष्य-जाति को पाप-पंक से मुक्त करना है तो इसका एकमात्र उपाय यह है कि सम्पत्तिशून्य, सम्प्रदायशून्य, वर्गशून्य, साम्राज्यशून्य, साम्यवादी समाज की स्थापना करनी चाहिए।

साम्यवाद की उपर्युक्त धारणा प्रत्यक्षतः बहुत उदात्त एवं सुन्दर प्रतीत होती है, किन्तु साम्यवाद के प्रतिबंध केवल भौतिक हैं। वे केवल कानून पर ही आधारित हैं। साम्यवाद का ध्यान केवल भौतिक धन-सम्पत्ति पर है, मनुष्य की आत्मा पर नहीं। साम्यवाद का व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार न करना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा अव्यावहारिक है। साम्यवादी राष्ट्रों में काम कम होता है, समय अधिक लगता है तथा निर्माण घटिया ढंग का होता है। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और अधिकार सर्वथा ही न रहने देने का यह साम्यवाद का आदर्शवाद साम्यवाद के सबसे बड़े पोषक रूस में भी अपने शुद्ध रूप में स्थिर न रह सका। पहले रूस में कर्मचारियों को वेतन नहीं मिलता था। काम के बदले पर्चियाँ ही दी जाती थीं, जिन्हें दुकानों पर देकर व्यक्ति उनके बदले में अपनी खाने-पीने व पहनने आदि की आवश्यकताओं को पूरा कर सकते थे। परिणाम यह हुआ कि कर्मचारी सामर्थ्य से काम बहुत कम करने लगे। अतः रूस में कर्मचारियों को फिर से वेतन देने की

पद्धति प्रारम्भ करनी पड़ी, और वेतन का आधार भी काम के महत्त्व तथा कर्मचारी की कुशलता को आँककर होने लगा। रूस में आमदनी का अनुपात लगभग एक और अस्सी का है। इतना ही नहीं, कर्मचारियों से अधिक काम कराने के उद्देश्य से आज रूस में भी कर्मचारियों से ठेके पर भी काम करा लिया जाता है। अब वहाँ भी लोग बैंकों में अपना हिसाब रख सकते हैं। अपने बचाए रुपये को उत्तराधिकार में देने की सुविधा भी वहाँ अब कर दी गई है।

साम्यवाद घोर प्रकृतिवादी है। किन्तु यदि जड़ प्रकृति के ही रूपान्तर का नाम जीवन है तो मनुष्य और पशु में इतना ही भेद है जितना कुर्सी और मेज में। यदि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञान के लक्षणवाली कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती तो दुःखी-सुखी मनुष्यों के दुःख-निवारण और सुख-प्राप्ति की ऊहापोह भी व्यर्थ है। जड़वाद का पहला परिणाम यह है कि आचारशास्त्र की जड काट दी गई। दया क्या वस्तु है ? जैसे किसी कुर्सी के चार पाये तोड देने से या उसे जला देने से कुर्सी की कोई हानि नहीं होती, इसी प्रकार प्राणी-हत्या भी कोई दूषित कर्म नहीं। जिसे चाहो मार डालो, जिसे चाहो जीवित रखो। इसी भौतिक दृष्टिकोण के कारण ही 1917 की क्रान्ति के पश्चात् लाखों जमींदारों को गोली के घाट उतार दिया गया। अनुमान लगाया गया है कि इस प्रकार मौत के घाट उतारे गए जमींदारों की संख्या 70 लाख तक पहुँच गई होगी और इस गड़बड़ के कारण खेती ठीक न हो सकने से जो अकाल पड़े उनमें भी लगभग 50 लाख व्यक्तियों की बलि हो गई। इसके अतिरिक्त रूस में 50 लाख से भी अधिक ऐसे व्यक्तियों का सफाया कर दिया गया जो साम्यवाद से भिन्न राजनीतिक विचारधारा रखते थे। इसी प्रकार चीन में भी भयंकर नरसंहार में करोड़ों लोगों की बलि दी गई। साम्यवादी देशों में लोगों की सोचने-विचारने, कहने और करने की स्वतन्त्रता का सर्वथा लोप किया जाता है। इस परम्परा में अहिंसा, सत्य, त्याग, न्याय, दया आदि नैतिक व चारित्रिक गुणों का सर्वथा लोप हो जाता है।

वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था

व्यष्टि एवं समष्टि की उन्नति का उपाय

वस्तुतः आज के पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वे एक ही भौतिकतावादी व्यवस्था के चट्टे-बट्टे हैं। तीनों का उद्देश्य पैसा और अधिकार है। तीनों मनुष्य की असली समस्या को पैसे से सम्बद्ध समझते हैं। इसके विपरीत वैदिक संस्कृति द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम की पद्धति पर आधारित समाज-व्यवस्था व्यक्ति और समाज की भौतिक एवं आत्मिक दोनों प्रकार की भूख-प्यास शान्त करती है। हम जब तक भौतिकवादी बने रहेंगे तब तक विश्वशान्ति और विश्व-प्रेम का नाम-भर लेते रहेंगे, इन्हें प्राप्त नहीं कर पाएँगे। वैदिक संस्कृति का अध्यात्मवाद यह नहीं कहता कि हमें शरीर को भूल जाना है या हमें मनुष्य की आर्थिक समस्या को हल नहीं करना। सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनेवाले ऋषि शरीर को घृणा की दृष्टि से कैसे देख सकते थे? वैदिक संस्कृति भौतिकवाद का तिरस्कार नहीं करती, उसे विकास के मार्ग में अपना साधन समझती है, क्योंकि इस संस्कृति के दृष्टिकोण में शरीर आत्मा की तरफ ले-जाने का साधन है, प्रकृति परमात्मा की तरफ ले-जाने का साधन है। हम शरीर से चलें परन्तु शरीर तक रुक न जाएँ। प्रकृति से चलें, परन्तु प्रकृति पर न रुक जाएँ—यही आज के युग को वैदिक संस्कृति का सन्देश है। इसी अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए—व्यष्टि और समष्टि के पूर्ण विकास के लिए वैदिक ऋषियों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रारम्भ की थी। वेद सब मनुष्यों को उसी परमपिता परमेश्वर की सन्तान मानकर सबमें समदृष्टि रखने का उपदेश देता है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सब मनुष्य भाई हैं, इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं और कोई छोटा नहीं; इस समानता के भाव को अपनाते हुए सब ऐश्वर्य या उन्नति के लिए मिलकर आगे बढ़ते हैं।[1]

---

1. '**अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते**
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥' (ऋग्० 5.60 5)

वेद के अनुसार व्यक्ति समाज का एक अंग है और इसलिए समाज की उन्नति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा देना सबका प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्य के लिए 'व्रात' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ समुदाय अथवा संघप्रिय है। इससे मनुष्य सामाजिक प्राणी है—इस प्रसिद्ध उक्ति का ही समर्थन होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम सूक्त में संगतिकरण अथवा संघ बनाकर उन्नति करने का अत्युत्तम उपदेश किया गया है, जिनमें मिलकर जाने अर्थात् उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए सामूहिक यत्न करने, परस्पर मधुर वाणी बोलने और मन को उत्तम शिक्षा के द्वारा सुसंस्कृत करने व ज्ञान-सम्पन्न बनाने का भाव पाया जाता है। वैदिक समाज-व्यवस्था का दूसरा आधार है त्यागपूर्वक उपभोग।[1] संसार के उपभोग के दो प्रकार हैं—एक तो उसमें लिप्त होकर, और दूसरा उससे अलिप्त रहकर। संसार में लिप्त रहने से अन्त में दुःख और उससे अलिप्त रहने से सुख मिलता है। इसलिए वेद कहता है अलिप्त रहकर उपभोग करो। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वैदिक ऋषियों ने मानव-जीवन को चार आश्रमों तथा मानव-समाज को चार वर्णों में विभक्त किया था तथा इन आश्रमों और वर्णों के कर्त्तव्य निश्चित किये थे। वैदिक आश्रम-व्यवस्था का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है :

वैदिक आश्रम-व्यवस्था

(क) ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य-आश्रम गृहस्थ-आश्रम के लिए तैयारी का आश्रम है। संसार के ऐश्वर्यों का जीवन में पूरी तरह से उपभोग किया जा सके, इसीलिए ब्रह्मचर्य-अवस्था में बालक को संसार के ऐश्वर्यों से दूर रखकर पहले उसे उपभोग के लिए समर्थ बनाया जाता है। ब्रह्मचर्य-आश्रम एक लम्बी साधना का आश्रम है, ऐसी साधना जिसमें जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण बना दिया जाता है। ब्रह्मचर्य की तपोमय साधना के बिना हमारा आज का जीवन एक

---

1 **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा** (यजु० 40 1)

लालसा का जीवन है, एक प्यास का जीवन है, एक भूख का जीवन है, परन्तु ऐसी लालसा, ऐसी प्यास, ऐसी भूख कभी तृप्त न होगी, कभी न शान्त होगी।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में पन्द्रह बार 'तप' शब्द को दोहराया गया है। यहाँ कुछ प्रसिद्ध मन्त्रों को उद्धृत कर देना अप्रासंगिक न होगा—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

(अथर्व० 11.5.17)

अर्थात् 'ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता है। आचार्य ब्रह्मचर्य के कारण ही ब्रह्मचारी की इच्छा करता है।' वस्तुतः ब्रह्मचर्य से तात्पर्य केवल अविवाहित रहने से नहीं, किन्तु आत्म-संयम प्राप्त करने से है। इन्द्रियजय के बिना राजा अपनी प्रजा या राष्ट्र का धारण अच्छी प्रकार नहीं कर सकता। जो अपने को वश में नहीं कर सकता, उससे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वह दूसरों को वश में रख सकेगा। अतः मनु ने कहा है—**'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे धारयितुं प्रजाः'** (7.44)। इसी प्रकार जो आचार्य संयमी नहीं, वह अपने शिष्यों को भी पूर्ण जितेन्द्रिय कभी नहीं बना सकता।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

(अथर्व० 11.5.19)

अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा ज्ञानी लोग (**विद्वांसो हि देवाः**) मृत्यु को मारते हैं अर्थात् स्वाधीन कर लेते हैं। जीवात्मा निश्चय से ब्रह्मचर्य के प्रताप से इन्द्रियों के लिए सुख को धारण करता है। भाव यह है कि ब्रह्मचर्य के बिना कभी भी आत्मिक सुख व आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतः ब्रह्मचारी का जीवन तपस्या का जीवन है। ब्रह्मचारी तप से अपने जीवन की साधना करता है। अतः विद्यार्थियों का निवास शहर से दूर जंगलों में ऋषि-मुनियों के आश्रमों में होता था। नैतिक बल उत्पन्न करने के लिए बालक को नैतिक वातावरण में रखना जरूरी है। वैदिक संस्कृति का बालक चारों तरफ के

प्रलोभनों से घिरकर जीवन को प्रारम्भ नहीं करता था, जैसा आज के बालक को करना पड़ रहा है। गुरुकुल में ब्रह्मचारी पच्चीस वर्ष तक विद्यार्जन करता था तथा भोग-ऐश्वर्य से दूर रहकर तपस्यामय जीवन-यापन करता था। तपस्यापूर्वक विद्या की साधना के बाद जब उसमें भोगों को भोगते हुए उनमें लिप्त न होने की क्षमता पैदा हो जाती थी, तब उसका समावर्त्तन संस्कार होता था। वह संसार में आता था परन्तु तैयारी के साथ, प्रलोभनों का मुकाबला करता था परन्तु उनके साथ टक्कर लेने की साधना पहले कर चुका होता था। इस तैयारी का नाम ही 'ब्रह्मचर्य आश्रम' है।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व—वैदिक संस्कृति में ब्रह्मचर्य पर अत्यधिक बल दिया जाता है। यम-नियमों में ब्रह्मचर्य का अपना प्रमुख स्थान है। वर्णाश्रम-धर्म वाली समाज-व्यवस्था में प्रत्येक बालक को कम से कम 25 वर्ष की आयु तक और प्रत्येक कन्या को कम से कम 16 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना आवश्यक माना गया है। विद्यार्थी-काल का तो नाम ही 'ब्रह्मचर्य आश्रम' रखा गया है। किन्तु गृहस्थ-आश्रम के अनन्तर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में भी पुनः ब्रह्मचर्य के ही जीवन को जुटाने का आदर्श उपस्थित किया गया है। ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्म या परमात्मा मे विचरण करना अथवा ब्रह्म अर्थात् वेद में विचरण—उसका गम्भीर और व्यापक स्वाध्याय करना। ब्रह्मचर्य और संयम के जीवन के बिना परमात्मा का साक्षात्कार और वेदादि शास्त्रों का ज्ञानार्जन सम्भव नहीं। विशेषकर शरीर-वृद्धि के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व वीर्य का रक्षण ब्रह्मचर्य में आवश्यक है। आजकल की बोलचाल में वस्तुतः इसी अर्थ में ब्रह्मचर्य को लिया जाता है। वीर्य की वृद्धि से इन्द्रियाँ समर्थ होती हैं, अंग-प्रत्यंग पुष्ट होता है, चेहरे पर कांति आती है एवं आँखों में दीप्ति रहती है, मस्तिष्क और बुद्धि तीव्र होती है और स्मृति-शक्ति बढ़ती है, विचार-शक्ति बढ़ती है; शरीर स्वस्थ और मन प्रसन्न रहता है। इसके विपरीत, अपरिपक्व अवस्था में वीर्य-नाश करने से व्यक्ति का स्वास्थ्य ढह जाता है। वह अनेक रोगों का शिकार हो जाता है। शिवसंहिता में तो कहा गया है कि वीर्य की एक बूँद-मात्र को भी गिराते रहने से व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है और वीर्य की बूँद बूँद की रक्षा करने से ही जीवन

बना रहता है।[1]

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए चार साधनों की ओर निर्देश किया गया है—(1) ब्रह्मचारी को पृथ्वी से लेकर सूर्य तक तीनों लोकों में पाए जानेवाले सब पदार्थों को ब्रह्मचर्य की अग्नि में समिधा बनाकर डालते रहना चाहिए, अर्थात् उसे अपना जीवन निरन्तर विद्या-प्राप्ति में बिताना चाहिए। कभी खाली या निकम्मा नहीं बैठना चाहिए। (2) ब्रह्मचारी को मेखलाधारी होना चाहिए ताकि उसमें कभी आलस्य, तन्द्रा या प्रमाद न आए। (3) ब्रह्मचारी को प्रतिदिन शारीरिक श्रम करना चाहिए। उसे खूब व्यायाम, प्राणायाम व क्रीड़ा करनी चाहिए। (4) ब्रह्मचारी को तपस्वी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सदा अच्छी संगति में रहना, अच्छे ग्रन्थों का स्वाध्याय करना, नित्य संध्योपासना करना, मांस-मदिरा, अण्डे, खटाई, लहसुन आदि तामसिक वस्तुओं का सेवन न करना, अधिक निद्रा या अधिक जागरण न करना आदि अनेक उपाय श्रुतियों-स्मृतियों में बताए गए हैं।

यों तो जीवन-भर ही ब्रह्मचर्य के पालन करने का यथासंभव प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु विद्यार्थी-काल में तो व्यक्ति को अखण्ड ब्रह्मचारी रहना चाहिए। विद्यार्थी-काल जीवन के निर्माण का काल होता है। इस समय में बालक को अपने शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास करना होता है, ताकि वह गृहस्थ-जीवन की जिम्मेदारियों को भली-भाँति पूरा कर सके। बालक इस अवस्था में अपने शरीर को सुन्दर, स्वस्थ और शक्ति-सम्पन्न बना ले। अपनी बुद्धि को विभिन्न ज्ञान-विज्ञान से भर ले और पूर्ण आत्मिक विकास कर ले—इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए वैदिक संस्कृति में ब्रह्मचर्य-आश्रम पर इतना बल दिया गया। शरीर, मन और आत्मा की यह तैयारी एक ऐसी पूँजी है जिसका संग्रह व्यक्ति को आगे जीवन-भर काम देगा। किन्तु यह पूँजी सहज ही प्राप्त नहीं हो जाती, उसके लिए बालक को अपने सम्पूर्ण विद्यार्थी-जीवन में हर ढंग से संयमी, तपस्वी, सदा सादा और परिश्रमी बनना पड़ता है। विद्यार्थी-जीवन तैयारी और निर्माण का काल है, इसलिए

---

1 **मरणं बिन्दु-पातेन जीवनं बिन्दु-धारणात्।** —(शिवसंहिता)

इस काल में तो व्यक्ति को पूर्ण संयम तथा अपने वीर्य रस की पूरी रक्षा करनी चाहिए ताकि उसके शरीर, मन और आत्मा का समुचित विकास हो सके। विद्यार्थी-काल जीवन-प्रासाद की नींव है। वह जितनी पक्की होगी, जीवन भी उतना ही स्थायी होगा।

वैदिक संस्कृति के इस ब्रह्मचर्य के विचार पर अनेकानेक पाश्चात्य मनीषी और डॉक्टर भी मुग्ध हुए हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फ्रांस के प्रसिद्ध समाज-शास्त्री पाल ब्यूरो (Paul Bureau) ने बहुत सुन्दरता के साथ इस बात का प्रतिपादन किया है कि संयम और ब्रह्मचर्य से ही मनुष्य-समाज की रक्षा हो सकती है। डॉ० पैरियर (E Perier) लिखते हैं—"नौजवानों के शरीर, चरित्र और बुद्धि का रक्षक ब्रह्मचर्य ही है।" डॉ० ऐक्टन लिखते हैं—"विवाह से पहले पूर्ण ब्रह्मचारी रहा जा सकता है और नौजवानो को रहना चाहिए।" सर जेम्स पेजट (Sir James Paget) जो कि इंग्लिश सम्राट् के चिकित्सक थे, कहते हैं—"ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचती। अपने को नियंत्रण मे रखना सबसे अच्छी बात है।"[1]

(ख) गृहस्थ आश्रम

गृहस्थ-आश्रम संसार-सुख को भोगने का आश्रम है। वैदिक संस्कृति त्याग ही त्याग की रट नहीं लगाती। मनुष्य में भौतिक वस्तुओं के उपभोग की जो स्वाभाविक वासना है उसकी उपेक्षा वैदिक संस्कृति नहीं करती। वेद संसार की यथार्थता को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। 25 (युवक) और 16 (युवती) वर्ष के अखण्ड ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ व्यक्ति इस लोक के जीवन का पूरा रस लेने का अधिकारी बन जाता है, क्योंकि उसमें लालसा के साथ संसार के भोगों को भोगने की शक्ति होती है। वैदिक गृहस्थ जीवन का

---

1. "Virginity is a physical, moral and intellectual safeguard to youngmen."
   —Before marriage absolute continence can and ought to be observed by youngmen,
   —Chastity no more injures the body than the soul, discipline is better than any other line of conduct

   (प्रियव्रत मेरा धर्म पृ० 285 86 से उद्धृत)

आदर्श यह है कि मनुष्य विषयों को भोगकर उनसे ऊपर उठ जाए—नाना प्रकार के विषय उसे अपने जाल में फँसा न लें। मनुष्य को संसार के विषयों के बीच में से होकर गुजरना है, उनमें अपने को खो नहीं देना है। संसार के विषयों में भटकते-भटकते आज के व्यक्ति के मन में उन विषयों को भोगने की लालसा, प्यास और वासना तो वैसी ही बनी रहती है, किन्तु उन भोगों को भोगने की शारीरिक शक्ति नहीं रहती। किन्तु वैदिक गृहस्थ-आश्रम भोग का आश्रम होते हुए भी मात्र वासनाओं को आश्रम नहीं है। अपितु वेद का सन्देश है कि "हे गृहाश्रम की इच्छा करनेवाले मनुष्यो! तुम स्वयंवर करके गृहस्थ आश्रम को प्राप्त होओ और उससे डरो या काँपो नहीं बल्कि उससे बल, पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो तथा गृहाश्रमी पुरुषों से कह दो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहस्थ व्यवहार करूँ।"[1]

ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले व्यक्ति के मुख से वेद में कहलाया गया है कि मैं बल धारण करता हुआ, ऐश्वर्य का सेवन करनेवाला, अच्छी बुद्धिवाला, सौम्य, मित्रदृष्टि से सम्पन्न होता हुआ, उत्तम मन से वृद्ध पूज्य लोगों को नमस्कार करता हुआ घरों में आता हूँ—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता हूँ। तुम सब खुशी मनाओ। मुझसे न डरो।[2] जो लोग गृहस्थाश्रम को नरक-धाम अथवा दुःख का मूल समझते हैं, उन्हें उपर्युक्त वैदिक आशय पर ध्यान देना चाहिए। वहीं अन्य मन्त्र में कहा गया है—'**इमे गृहा मयोभुवः**' अर्थात् घर सुख देनेवाले हैं। किन्तु इसके साथ एक शर्त भी लगी है। जब मनुष्य बल, धन, मेधा, मित्र-दृष्टि, उत्तम मन, नम्रता—इन सब को धारण करते हुए ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करे, तभी गृहस्थाश्रम स्वर्ग है, अन्यथा उसके नरक-धाम होने में तनिक सन्देह नहीं।

---

1. **गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि।**
   ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥ —(यजु० 3.41)
2. **ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।**
   गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥ —(अथर्व० 7.60.1)

भगवान् मनु का कहना है कि जिस प्रकार सभी प्राणी वायु के सहारे जीवन ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार शेष सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही अवलम्बित हैं। गृहस्थ–आश्रम से ही शेष तीन आश्रमों का निर्वाह होता है। क्योंकि गृहस्थ से अतिरिक्त तीनो आश्रम गृहस्थी द्वारा नित्यप्रति ज्ञान और अन्नदान से उपकृत किये जाते हैं, अतः गृहस्थ–आश्रम ही ज्येष्ठ व श्रेष्ठ आश्रम है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपने कर्त्तव्यों को करने में मनुष्य को त्याग, तपस्या, श्रम आदि के अत्यन्त कठिन व्रतों का पालन करना पड़ता है। अनेक प्रकार से राष्ट्र और समाज की उन्नति और रक्षा में सहयोग देना पड़ता है। महान् से महान् नैतिक आदर्शों के अनुसरण का अवसर मिलता है। अथर्ववेद के सम्पूर्ण चौदहवें काण्ड में गृहस्थाश्रम की चर्चा की गई है तथा वहाँ पति–पत्नी सम्बन्ध और कर्त्तव्य के विषय में बहुत उत्तम उपदेश पाए जाते हैं। दो–तीन मन्त्रों को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। एक मन्त्र में पत्नी को सम्बोधित करके कहा गया है—''हे देवी! उत्तम मन, उत्तम सन्तान, उत्तम भाग्य और ऐश्वर्य—इन सब की कामना करती हुई तू पति के अनुकूल शुभ कर्म करनेवाली होकर अमृतत्व की प्राप्ति के लिए सुख का सम्पादन कर।[2] भाव यह है कि पत्नी को पति के प्रत्येक धार्मिक कार्य में सहयोग देना चाहिए।

वेद पति, सास–ससुर आदि की सेवा के साथ ही साथ सारी प्रजा का कल्याण करना भी पत्नी का परम कर्त्तव्य मानता है—''हे देवी! श्वसुर आदि वृद्ध पुरुषों के लिए सुख देनेवाली हो। पति के लिए एवं घरवालों के लिए सुख देनेवाली हो। इन सब पुरुषों की पुष्टि अथवा उन्नति के लिए तू सुख देनेवाली हो।''[3] पति का भी

---

1. यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ —(मनु० 3.77, 78)
2. आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सन्नह्यस्वामृताय कम्॥ —(अथर्व० 14.1.42)
3. स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव (अथर्व० 14 2 27)

कर्त्तव्य है कि प्रत्येक शुभ कर्म को करते हुए पत्नी की अनुमति ले। वेद में कहा है—"जिसकी अनुमति आवश्यक है, यह देवी इस विवाह-यज्ञ को करने आई है। उत्तम सन्तान के लिए क्षेत्र तैयार करने और उत्तम वीर पुत्रों की उत्पत्ति के लिए सुप्रसिद्ध बनाई गई इस देवी की उत्तम बुद्धि निश्चय से कल्याणकारक है। शुभ गुणों की रक्षा करनेवाली यह देवी इस यज्ञ की रक्षा करे।"[1]

वैदिक समाज-विज्ञान की प्रारम्भिक इकाई गृहस्थ व परिवार है, जो व्यक्ति और समाज के मध्यस्थ कड़ी का काम करता है। वेद में परिवार के सदस्यों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट और सुन्दर निर्देश हैं। वेद का आदेश है कि हे परिवार के सदस्यो! "मैं तुमको समान हृदयवाला बनाता हूँ। मैं तुम्हें विद्वेष से मुक्त करता हूँ। तुम एक-दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार गाय अपने नवजात बच्चे से प्रेम करती है। पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता के साथ प्रीतियुक्त मनवाला हो। पत्नी अपने पति के साथ मधुर भाषण करनेवाली हो। भाई भाई के साथ और बहिन बहिन के साथ द्वेष न करे। भाई-बहिन भी परस्पर में द्वेष न करें। वे सब मंगलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ सुखदायक प्रेमपूर्वक सम्भाषण करें। जिस प्रकार के व्यवहार से विद्वान् लोग परस्पर पृथक् भाववाले नहीं होते और परस्पर में कभी द्वेष नहीं करते, मैं उसी व्यवहार को तुम्हारे घर के लिए निश्चित करता हूँ। तुम लोग परस्पर प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते हुए धनैश्वर्य को प्राप्त होओ। आपस में वैर-विरोध मत होने दो। अपने सम्मान की रक्षा करो। अपने व्यवहार में सावधान रहो। एक-दूसरे के ऐश्वर्य में वृद्धि करो और पहिये के अरों के समान मिलकर घूमो। एक-दूसरे से मीठे वचन बोलते हुए अपना योग-क्षेम करो। तुम मिलकर और एक मनवाले होकर काम करो। एक-साथ मिलकर पियो और एक-साथ मिलकर खाओ। मैं तुमको एक-साथ प्रेम-सूत्र में बाँधता हूँ। जिस तरह पहिये के अरे एक केन्द्र के चहुँ ओर घूमते हैं, उसी तरह तुम गृहस्थरूपी केन्द्र के चारों ओर प्रेममय व्यवहार करते हुए

1. **एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्।**
भद्रा ह्यस्या प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा॥ (अथर्व० 7 20 5)

वरतो। तुम एक मनवाले होकर एक-साथ काम करो। तुम्हारे आदर्श समान हों। तुम मिलकर यत्न करनेवाले बनो। बुद्धिमान् व्यक्तियों की तरह अपने उत्तम समाज और राष्ट्र के हितों की रक्षा करो। प्रातः और सायं तुम्हारे मन में शुभ भाव रहें तथा प्रसन्नता का सदा निवास हो।''[1]

(ग) वानप्रस्थ आश्रम

वैदिक संस्कृति में ब्रह्मचर्य-आश्रम के समान ही गृहस्थ-आश्रम भी जीवन-यात्रा का एक पड़ाव या एक मंजिल की तरह था और समय आने पर गृहस्थी व्यक्ति गृहस्थ को छोड़कर आगे चल देता था। व्यक्ति के बाल जब धौले होने लगते थे और वह अपने पुत्र के भी पुत्र के दर्शन कर लेता था तो सब प्रकार के मोहों को छोड़कर अपने पुत्र पर कुटुम्ब का भार सौंपकर अकेला या पत्नी-सहित वन की ओर चल देता था। वहाँ शाक, मूल, फल आदि खाकर मुनिवृत्ति को धारण कर विधिपूर्वक महायज्ञों को करता हुआ, नित्य स्वाध्याय में लगा हुआ, संयमी जीवन बिताता हुआ, सब प्राणियों के प्रति अनुकम्पा का भाव रखता था। वानप्रस्थ में वह मदिरा-मांस एवं अन्य तामसिक पदार्थों के सेवन को सर्वथा त्याग देता था।

वानप्रस्थ केवल जंगल में भाग जाने का नाम नहीं है। वानप्रस्थ निवृत्ति, त्याग, अपरिग्रह का नाम है। वानप्रस्थ-आश्रम मजबूर होकर संसार का त्याग करना नहीं, अपितु स्वेच्छा से संसार को छोड़ देना है। इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रम की स्थापना द्वारा वैदिक संस्कृति में कोरे भोगवाद की जड़ हिला दी थी। वानप्रस्थ-आश्रम एक और समस्या का हल था। यदि किसी समाज में काम करनेवालों की संख्या बढ़ती जाए और इतनी बढ़ जाए कि पुराने काम करनेवाले कम न हों और नयों की बाढ़ आती जाए, तो उसका

---

1. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु संमना ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शान्तिवाम् (अथर्व० 3 30 1 2)

नतीजा इसके सिवा क्या होगा कि किसी समय सभी भूखे मरने लगें? आज बेकारी इतनी क्यों बढ़ रही है? बेकारी इसलिए बढ़ रही है क्योंकि जिन लोगों की आयु पेन्शन पाने योग्य हो गई है, वे पेन्शन पाने के बाद नये सिरे से नौकरी शुरू कर देते हैं या कोई न कोई धन्धा किये चलते हैं। वैदिक संस्कृति में ऐसा नहीं था। आश्रम-व्यवस्था द्वारा ऋषियों ने वैदिक काल की बेकारी के प्रश्न को हल कर लिया था। उन्होंने मनुष्य-जीवन को चार हिस्सों मे बाँट दिया था, उनमें से केवल एक आश्रम में अर्थ-उपार्जन होता था। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी धन-उपार्जन नहीं करते थे। इसका यह मतलब नहीं कि धन-उपार्जन से बचने के लिए वे लोग वानप्रस्थी या संन्यासी हो जाते थे। गृहस्थ में धन उपार्जन किये बगैर किसी को वानप्रस्थ में आने का अधिकार नहीं था। गृहस्थियों में सब नहीं कमाते थे, उनमें भी ब्राह्मण और क्षत्रिय का समय कमाने में नहीं अपितु समाज की सेवा में व्यतीत होता था। केवल वैश्य व्यापार द्वारा कमाते थे और वे इतना अधिक कमा लेते थे कि सारे समाज को खाने-पीने को पर्याप्त दे देते थे। समाज के लिए धन कमाना ही उनकी समाज के प्रति सेवा थी। आज सब कमा रहे हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तो कमा ही रहे हैं, इधर विद्यार्थी, गृहस्थी, वानप्रस्थ और संन्यासी भी कमा रहे हैं। धन कमाने के लिए जो यह संग्राम मचा हुआ है, उसका परिणाम है कि कुछ लोगों को जरूरत से ज्यादा मिल जाता है तो कुछ लोग भूखे मरते हैं; वैदिक काल में वानप्रस्थ-आश्रम के कारण यह अव्यवस्था नहीं थी, और यह बात भी नहीं कि समाज अनुभवी व्यक्तियों की सेवाओं से सर्वथा वंचित हो जाता हो। शहरों से कुछ ही दूर वानप्रस्थ-आश्रमों में रहनेवाले बड़े-बड़े वैद्यों, अध्यापकों व शिल्पियों के अनुभव का लाभ कोई भी नवयुवक आवश्यकता पड़ने पर उठा सकता था।

भोगवाद और बेकारी के प्रश्न को हल करने के साथ-साथ वानप्रस्थ एक और समस्या को भी हल करता था। जो लोग घरबार छोड़कर जंगल में जा बसे होते थे, वानप्रस्थ लेने से पूर्व वे दुनिया के सब प्रकार के धन्धे कर चुके होते थे। अब उनके वानप्रस्थ में आने के बाद गाँव के छोटे-छोटे बालक इनके पास आकर पढ़ने

लगते थे। ये बालक अमीर होते थे और गरीब भी, राजाओं के भी होते थे और रंकों के भी, परन्तु वानप्रस्थों के आश्रमों में रहकर इनका ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं रहता था। उन आश्रमों में ये सब भाई-भाई थे। ऐसे ही किसी आश्रम में कृष्ण और सुदामा पढ़े थे। बालक गाँव से भिक्षा ले आते थे और आश्रम में आकर सब मिलकर बाँट लेते थे। गुरु भी खाते थे, शिष्य भी खाते थे। वानप्रस्थियों के इन आश्रमों को गुरुकुल कहा जाता था। इन आश्रमों में न खाने-पीने को कुछ दिया जाता था, न पढ़ाने-लिखाने के लिए। इन आश्रमों में पढ़ानेवालों को कोई वेतन नहीं मिलता था।

(घ) संन्यास आश्रम

वानप्रस्थ के बाद एक ऐसा आश्रम आता था जिसमें यदि कोई मोह की गाँठ रह भी गई हो तो वह खोल दी जाती थी और वानप्रस्थी सच्चे अर्थों में संन्यासी हो जाता था। संन्यासी मोह की, ममता की, तेरे-मेरे की सब गाँठों को काट डालता था, निर्द्वन्द्व होकर स्वतन्त्र विचरण करता था। संन्यास केवल घर-बार छोड़ने का नाम नहीं, राग-द्वेष, मोह-ममता छोड़ने का नाम है।

परन्तु मोह-ममता को त्यागने का यह अर्थ कभी नहीं था कि संन्यासी समाज के लिए निकम्मा हो जाए। वैदिक संस्कृति में त्याग का ही दूसरा नाम सेवा था। बाल्यकाल में व्यक्ति अपनी सेवा करता है, गृहस्थ-जीवन में व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा तथा ऐश्वर्य का, भोग का, त्याग करता है ताकि सन्तान को सुख मिल सके। गृहस्थ में सेवा का पाठ पढ़कर जब स्त्री-पुरुष वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करते हैं, तब समाज-सेवा का भाव और अधिक उग्र हो जाता है। कुछ देर बाद उसे इस परिमित क्षेत्र को त्यागकर और अधिक विस्तृत क्षेत्र में आना होता था और अपने देश की ही नहीं, अपनी जाति की ही नहीं, अपितु संसार की सेवा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता था। फिर वह किसी एक देश का नागरिक न होकर विश्व का नागरिक हो जाता था। उसका काम किसी देश या जाति की भलाई सोचना न होकर सम्पूर्ण संसार की भलाई सोचना होता था जो लोग आश्रम को खाली बैठना समझते हैं वे ऋषियो के

विचार की थाह को नहीं पहुँच पाते। वैदिक संस्कृति की मर्यादा के अनुसार संन्यासी और सब-कुछ कर सकता है, परन्तु खाली या निकम्मा नहीं रह सकता। वह तो विश्व का नागरिक है।

ऋषियों ने आश्रम-व्यवस्था को ऐसा बनाया था कि एक आश्रम के बाद दूसरे आश्रम में प्रवेश करता हुआ व्यक्ति स्वार्थ की एक-एक तह को उतारता जाता था, यहाँ तक कि अन्तिम आश्रम में पहुँचते-पहुँचते उस पर स्वार्थ की एक तह भी बाकी नहीं रह जाती थी, भीतर से शुद्ध निःस्वार्थ भाव से सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश की तरह चमक उठता था।

वर्ण-व्यवस्था

ऋग्वेद में समस्त समाज को 'पुरुष' का रूपक देकर उसके विभिन्न अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों की उत्पत्ति बतलाई गई है। वहाँ व्यंजना यह है कि जिस प्रकार शरीर के सब अंग एक-दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं और यदि एक अंग में भी पीड़ा हो जाए तो उसका अनुभव समस्त शरीर में होता है, उसी प्रकार समाज में भी संगठन व जीवन-शक्ति रहनी चाहिए। पुरुष के विभिन्न अंगों का विवरण इस प्रकार है—उस पुरुष का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजाएँ क्षत्रिय बनाई गईं, उसकी जंघाएँ ही वैश्य बनीं तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

(क) ब्राह्मण

समाजरूपी पुरुष के मुख से केवल भोजन करनेवाले मुँह का तात्पर्य नहीं है, किन्तु उसमें मस्तिष्क का विशेष रूप से समावेश होता है। मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क ही सबसे ऊँचा व अत्यन्त आवश्यक अंग है। वह उसकी समस्त क्रियाओं का संचालन करता है और उसे सन्मार्ग पर प्रेरित करता है। इसी प्रकार समाज का मस्तिष्क वे व्यक्ति बनते हैं जो अपने मस्तिष्क और आत्मा का सम्यक् विकास कर समाज को सन्मार्ग की ओर ले-जाकर उन्नति के शिखर पर पहुँचाते हैं। ऋग्वेद में ऐसे ही व्यक्तियों को ब्राह्मण कहा गया है क्योंकि इनका जीवन स्वाध्याय, तपस्या, त्याग, ब्रह्म-प्राप्ति और सत्य की खोज में ही व्यतीत होता था। इन ब्राह्मणों को

समाज का मस्तिष्क या मुख कहा गया है। समाज जो कुछ करता था उन्हीं के द्वारा करता था, जो कुछ बोलता था उन्हीं के द्वारा बोलता था। ये ब्राह्मण धन-वैभव की तनिक भी परवाह किये बिना कठोर व्रतों को धारण कर ज्ञानार्जन करते थे और उससे सम्पूर्ण समाज को लाभान्वित करते थे।

ऋक्संहिता में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों का नाम-निर्देश केवल पुरुष-सूक्त में हुआ है तथापि अग्नि, इन्द्र, मरुत् और पूषा आदि देव-नामों से इन चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का वेद में वर्णन किया गया है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता। अग्नि को तत्त्वदर्शी (**ऋषिः**), पंजजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद इन सब प्रकार के मनुष्यों का हित करनेवाला (**पांचजन्यः**), महान् (विद्यादि) ऐश्वर्यों से सम्पन्न (**महागयम्**), मृदु स्वभाव (**मन्द्रः**), सम्पूर्ण काव्यों को जाननेवाला (**विश्वानि काव्यानि विद्वान्**), विस्तृत सत्य का प्रकाश करनेवाला (**बृहतः ऋतस्य विचर्षणिः**), महान् व्रतोंवाला (**व्रता ते अग्ने महतो महन्ति**) आदि विशेषणों से वर्णित किया गया है। ये विशेषण भौतिक अग्नि एवं ईश्वर की अपेक्षा ज्ञानी ब्राह्मण के अर्थ में अधिक संगत हैं।[1] इसी प्रकार—

अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्त्तो यो अस्मै सुतुको ददाश॥ (ऋग्० 1.149.5)

अर्थात्—"यह ब्राह्मण (अग्निः) है, वही हवनादि करनेवाला, सब कीर्तियुक्त श्रेष्ठ ऐश्वर्यों को धारण करता है। जो मनुष्य इसे देता है, उसको विद्यादि उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता है।" तथा—

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः।
शुची रोचत आहुतः॥ (ऋग्० 8.44.21)

आदि मन्त्रों की संगति ब्राह्मण के अर्थ में ठीक-ठीक बैठ जाती है। इस प्रकार के मन्त्रों में—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
(मनु० 1.88)

इस श्लोक में मनु द्वारा प्रतिपादित ब्राह्मण के छः कर्त्तव्यों का

1 पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति - 'वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र' पृ० 139 142

मूल आधार स्पष्ट प्रतीत होता है। उल्लिखित मन्त्रों में ये सब-के-सब धर्म आ गए हैं। इस प्रकार के सच्चे ब्राह्मणों की पूजा करना सारे समाज का कर्त्तव्य है। ब्राह्मण स्वभाव से ही मृदु अथवा कोमल-प्रकृति होते हैं, पर उनको ऐसा जानकर भी जो उनका अपमान करता है उस मानव, समाज और राष्ट्र का शीघ्र ही नाश हो जाता है। इस तथ्य को अथर्ववेद में बहुत सशक्त शब्दों में कहा गया है—

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य॥

(अथर्व० 5.18.4)

अर्थात्—ब्राह्मण को जो तुच्छ मानता है वह मानो एक घोर विष का प्याला पीता है। अपमानित सच्चा ब्रह्मज्ञानी-पुरुष दुष्ट क्षत्रियों को अग्नि-समान अपने तेज से जला देता है। वहीं एक अन्य मन्त्र में स्पष्ट रीति से मृदु-स्वभाव परन्तु तेजस्वी ब्राह्मण व ब्रह्मज्ञानी की अवमानना का भयंकर परिणाम बताते हुए कहा गया है—

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभ एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्॥

(अथर्व० 5.18.5)

अर्थात्—जो पुरुष ब्राह्मण को कोमल स्वभाव समझकर स्वयं हिंसक नीच होता हुआ धन के मद में अज्ञान से मारता वा अपमानित करता है, परमेश्वर उस पुरुष के हृदय में मानो शोक-सन्तापरूपी अग्नि को जला देता है।

(ख) क्षत्रिय

क्षत्रिय को समाजरूपी पुरुष की भुजा कहने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार भुजाएँ शरीर की रक्षा के लिए हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय समाज के रक्षक हैं। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे व्यक्तियों की उपस्थिति भी आवश्यक है, जो शत्रुओं या दुष्ट अत्याचारी लोगों से समाज की रक्षा करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझें। प्रजा की रक्षा करना, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, इन्द्रिय-दमन आदि क्षत्रिय के कर्त्तव्य समझे जाते थे।

जिस प्रकार ऋग्वेद के अग्नि-सूक्तों में अनेक स्थानों पर ब्राह्मण के कर्त्तव्यों का वर्णन हुआ है, उसी प्रकार इन्द्र-सूक्तों में

प्रायः क्षत्रियों के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ, नीच कपटी लोगों के साथ युद्ध करके प्रजा की रक्षा करने और उनकी स्वतन्त्रता का संरक्षण करने के कारण ही इन्द्र की महिमा का गान किया गया है। दिङ्मात्र यथा—

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥

(ऋग् 1.80.7)

अर्थात्—"हे बलशाली, वज्र धारण करनेवाले, आदरणीय वीर! तुझमें बड़ा भारी वीर्य निहित है कि तूने उस कपटी और सज्जनों का पीछा करनेवाले वृत्र अर्थात् पापी पुरुष का बड़ी चतुरता से स्वराज्य अर्थात् स्वतन्त्रता के भाव की पूजा करते हुए वध कर दिया।" भाव यह है कि कपटी पुरुषों को मारकर स्वतन्त्रता-संरक्षण करना क्षत्रियों का मुख्य धर्म है। यजुर्वेद में इन्द्र को रक्षक, ज्ञान प्राप्त करनेवाला, अच्छा दान देनेवाला, शूर, शक्ति-युक्त, बहुत-से पुरुषों द्वारा आहूत तथा धनयुक्त कहा है—

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ हवे हवे सुहवꣳ शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥

(यजु० 20.50)

ये सब लक्षण एक वीर राजा व क्षत्रिय पर ही घटने लगते हैं।

अथर्ववेद में इन्द्र देवता के मन्त्रों में क्षत्रिय के कर्त्तव्यों का बहुत उत्तम वर्णन है। यथा—

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः॥

(अथर्व० 20.11.6)

अर्थात्—"इन्द्र के श्रेष्ठ उत्तम कर्मों की सब प्रशंसा करते हैं क्योंकि इन्द्र अपनी शक्ति से पापियों को चूर-चूर कर डालता है और चतुरता से नीच स्वार्थपरायण लोगों को हरा डालता है।" तात्पर्य यह है कि नीच लोगों का नाश करके प्रजा का रक्षण करना ही प्रत्येक सच्चे क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। एक अन्य मन्त्र में इन्द्र को दुष्टों के प्रति उग्र, सत्य व यज्ञ का धारक, कीर्ति का धारण करनेवाला, उत्तम वाणीवाला, यज्ञादि शुभ कर्मों को करनेवाला तथा वज्री कहकर क्षत्रियों के लिए उत्तम वाक्शक्ति, कीर्ति इत्यादि को

धारण करना भी आवश्यक बताया गया है—

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं
सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्
राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री॥

(अथर्व० 20.55.1)

(ग) वैश्य

वैश्य को विश्व-पुरुष की जंघा कहा गया है। जंघाओं पर शरीर का भार रहता है और वे शरीर का वाहन बनती हैं। उसी प्रकार समाज के भरण-पोषण आदि का भार वैश्यों को वहन करना होता था। आज जैसी आर्थिक विकास की सब जिम्मेवारियाँ इन्हीं के ऊपर थीं। वैश्य ही समाज का भरण-पोषण, पशु-पालन, कृषि, वाणिज्य, व्यापार करता था और उसे सम्पूर्ण समाज की पुष्टि में लगा देता था।

वेद में वैश्यों के कर्त्तव्यों का निर्देश अनेक स्थानों पर हुआ है। यथा—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥

(अथर्व० 3.15.2)

अर्थात्—"द्युलोक और पृथिवीलोक के अन्दर जो देवयान अनेक मार्ग हैं उन सब से मुझे घृत और पय अथवा दीप्ति और रस की प्राप्ति हो, ताकि मैं दूर-दूर देशों में यानों द्वारा भ्रमण करके धन एकत्रित करूँ।" देवयानों द्वारा धन सम्पादन करने से तात्पर्य उत्तम धर्मयुक्त साधनों द्वारा धन-संचय करना है। साथ ही यहाँ पृथिवी पर विचरण करनेवाले यानों तथा अन्तरिक्ष में चलनेवाले विमानादि की कल्पना भी होती है—इस प्रकार के उत्तम साधनों से धनाहरण का उपदेश भी इस मन्त्र से प्राप्त होता है। वहीं चौथे मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि विक्रय आदि में मुझे घाटा न हो बल्कि मुनाफा व लाभ हो—

....शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।

(अथर्व० 3.15.4)

आगे के मन्त्रों में फिर कहा गया है कि जिस धन को लेकर मैं व्यापार प्रारम्भ करता हूँ, उसमें मुझे लाभ ही होता जाए और राजादि के द्वारा मुझे व्यापार के लिए प्रोत्साहन मिलता रहे—

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध॥

(अथर्व० 3.15.5)

धन का अर्जन अपने लिए नहीं, प्रत्युत ब्राह्मण आदि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए होना चाहिए—

विश्वाहा ते सदमिद् भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥

(अथर्व० 3.15.8)

अर्थात्—"हे ज्ञानी ब्राह्मण नेता! जिस प्रकार अश्व को खाने के लिए घास-चारा दिया जाता है उसी प्रकार हम प्रतिदिन नित्य ही तेरा पालन करते रहें। प्रतिकूल होकर हम कभी दुःखी न हों।" तात्पर्य यह है कि धन के मद से मस्त होकर जो पूज्य ब्राह्मणों का तिरस्कार करते हैं, उन्हें अन्त में अवश्य दुःख उठाना पड़ता है।

भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में वैश्यों के कर्मों का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

कृषि गोरक्षा वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

वेद में भी '**शुनः सु फाला वि कृषन्तु भूमिः शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः**' (यजु० 12.69) तथा '**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व**' (ऋग्० 10.34.13) आदि मन्त्रों में हल चलाने, कृषि करने आदि का उपदेश किया गया है।

(घ) शूद्र

पुरुष-सूक्त में शूद्रों को विश्व-पुरुष के पैरों से उत्पन्न कहा गया है। पैर सेवा के प्रतीक हैं। समाज की सेवा का सम्पूर्ण भार वेद में शूद्रों पर रखा था। सेवा-कर्म के कारण शूद्र को नीचा नहीं समझा जाता था, अपितु जो लोग पहले तीन वर्णों के काम करने के अयोग्य सिद्ध होते थे, उन्हें सेवा का काम सौंपा जाता था। पुरुष-सूक्त के रूपक से यह बात बहुत स्पष्ट है कि उपर्युक्त चारों वर्णों का समाज में अपना अपना महत्त्व था और उनमें कोई नीच ऊँच

का भाव नहीं था।

यजुर्वेद में **'तपसे शूद्रम्'** (30.5) कहकर श्रम के कार्य के लिए शूद्र को नियुक्त करो, यह आदेश किया गया हैं। इसी अध्याय में कर्मार नाम से कारीगर, मणिकार नाम से जौहरी, हिरण्यकार नाम से सुनार, रंजयिता नाम से रंगरेज, तक्षा के नाम से शिल्पी, वप नाम से नाई, अयस्ताप नाम से लोहार, अजिनसन्ध नाम से चमार, परिवेष्टा नाम से परोसनेवाले रसोइये का वर्णन है। ज्ञान, शम, दम इत्यादि उच्च गुणों की इनके अन्दर कमी होती है, अतः ये शिल्प या नौकरी द्वारा पहले तीन वर्णों की सेवा कर अपना पेट भरते हैं।[1] इन चारों वर्णों के लोगों को एक-दूसरे के साथ अत्यन्त प्रेम से व्यवहार करना चाहिए—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

(अथर्व० 19.62.1)

वैदिक वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः वैदिक संस्कृति का प्राण थी। आज की जाति-व्यवस्था से उसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। यह व्यवस्था पूर्ण रूप से गुण-कर्म पर आधारित थी। वैदिक 'वर्ण' 'वर्ग' नहीं है। वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात बहुत गहन सिद्धान्तों पर हुआ था। वर्ण-व्यवस्था मानव-समाज के उन महान् आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण तथा नियमन था जिनके बिना कोई समाज एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। वर्ण-व्यवस्था केवल भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए 'श्रम-विभाग' मात्र ही नहीं थी। समाज-विषयक उनकी दृष्टि एकांगी या अधूरी नहीं थी। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करना, श्रम द्वारा पूँजी का विभाग करना भी एक आवश्यक उद्देश्य था, परन्तु उनके लिए जीवन का अभिप्राय भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने मात्र से बहुत अधिक था। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं के पहलू को, आर्थिक पहलू को ही नहीं, सम्पूर्ण मनुष्य को देखा गया है। प्रत्येक मनुष्य में स्वाभाविक तौर पर जो चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें से अपने स्वभाव को

---

1 पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड · 'वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र' पृ० 152-153

देखकर वह किसी एक को चुन लेता है। वर्ण-विभाग चार पेशे या चार व्यवसाय नहीं हैं। ये चार प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ हैं। व्यक्ति-रूप से प्रत्येक मनुष्य को आत्मा की तरफ जाना है। वर्ण-व्यवस्था मनुष्य को सामूहिक रूप से शरीर से आत्मा की तरफ ले जाने का सिद्धान्त है। वर्ण-व्यवस्था में श्रम-विभाग आ जाता है, श्रम-विभाग में वर्ण-व्यवस्था नहीं आती। श्रम-विभाग का आधार मनुष्य का शारीरिक अर्थात् आर्थिक आवश्यकताएँ हैं : वर्ण-व्यवस्था का आधार मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक आवश्यकताएँ हैं।

वर्ण-व्यवस्था द्वारा वैदिक संस्कृति ने यह प्रयत्न किया था कि पैसेवाला खाने-पीने, भौतिक ऐश्वर्य-उपभोग को तो खरीद सके, परन्तु हुकूमत और इज्जत को न खरीद सके। वैदिक संस्कृति का कहना था कि चारों प्रवृत्तियों के लोगों के लिए आवश्यक है कि वे अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार समाज की सेवा करें—ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय क्रिया से, वैश्य इच्छा से, शूद्र शारीरिक सेवा से। यह उनका 'कर्त्तव्य' है। जब किसी का कोई 'कर्त्तव्य' निश्चित किया जाता है तो उसके साथ उसे कोई 'अधिकार' भी दिया जाता है। यह अधिकार उसे कर्त्तव्य के पारितोषिक के रूप में दिया जाता था। संसार में अधिकार चार प्रकार के हैं—इज्जत, हुकूमत, दौलत, खेल-कूद। वैदिक संस्कृति में इन चारों का विभाग कर दिया गया था। ब्राह्मण को 'इज्जत' दी जाती थी, परन्तु इज्जत से दिमाग न बिगड़ जाए, इसलिए इज्जत देते हुए साथ ही कह दिया जाता था—'**सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत् विषादिव**' अर्थात् सम्मान से ब्राह्मण ऐसे डरता रहे जैसे विष से। क्षत्रिय को 'हुकूमत' दी गई थी, परन्तु हुकूमत से भी दिमाग न बिगड़ जाए, इसलिए दण्ड देने की शक्ति को देते हुए उसे साथ ही कह दिया जाता था : '**दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्**'—सचाई से डिगनेवाले क्षत्रिय राजा को दण्ड-शक्ति ही उसके बन्धु-बान्धवों के साथ नष्ट कर डालती है।[1] वैश्य को 'दौलत' मिलती थी। वह दौलत से खाने-पीने, पहनने, रहने के

1 मनु॰ 7 28

साधनों के सिवा और कुछ नहीं खरीद सकता था। साथ ही, जैसे भोजन के पेट में ही पड़े रहने से बीमारी हो जाती है, सम्पूर्ण सम्पत्ति के वैश्य के पास जमा हो जाने से समाज का शरीर रुग्ण न हो जाए, इसलिए वैश्य को दौलत-सम्पत्ति देते हुए कहा जाता था—'**दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः**'—(मनु० 9.333) वैश्य लेता जाए परन्तु साथ ही देता जाए। शूद्र, क्योंकि समाज की अपनी किसी मानसिक शक्ति द्वारा सेवा नहीं कर सकता, इसलिए उसे अपने कर्त्तव्यों के पुरस्कार में 'छुट्टी, खेल-कूद-तमाशा'—ये चीजें मिलती थीं; परन्तु शूद्र अपनी निचली स्थिति में ही पड़ा न रहे, अपने आत्म-तत्त्व का विकास करे, इसलिए उसे कहा जाता है—''**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्**'' (मनु० 10.65)—शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है। जब तक वह उन्नत नहीं होता, तभी तक वह शूद्र है, उसके उन्नति के मार्ग पर चलने में कोई समाज उसके सामने बाधा बनकर नहीं खड़ा हो सकता।[1]

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में त्याग और दान पर बहुत बल दिया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि—'हे मनुष्य! तू सौ हाथों से धन कमा और हजार हाथों से उसका दान कर।'[2] वेद के इस आलंकारिक वचन का आशय यह है कि मनुष्य को पूर्ण पुरुषार्थ से धन कमाना चाहिए और अत्यन्त उदारता के साथ उसका अधिकांश भाग लोकोपकार में लगा देना चाहिए। तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य अपने दीक्षान्त-भाषण में दान पर बल देते हुए शिष्यों से कहता है—'श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो, शोभा से दो, लज्जा से दो, भय से दो, प्रतिज्ञा से दो।'[3] वर्णाश्रम-व्यवस्था में इस बात पर भी बल दिया गया है कि व्यक्ति को अर्जित सम्पत्ति का उपभोग दूसरों के साथ मिलकर करना चाहिए। वेद में एक स्थान पर कहा है—'जो व्यक्ति अकेला खाता है वह भोजन नहीं खाता,

---

1. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार : 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व', पृ० 236-238
2. **शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।** —(अथर्व० 3.24 5)
3. **श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्।**
   ह्रिया देयम् भिया देयम् संविदा देयम् (तै० उ० 11 3)

वह पाप खाता है।'[1] वेद में यह भी उपदेश दिया गया है कि 'हे मनुष्यो! तुम्हारे पीने के स्थान समान हों, तुम्हारे अन्न का सेवन मिलकर हो, मैं तुम्हें प्रेम के बन्धन में बाँधता हूँ, तुम मिलकर प्रभु की उपासना करो और इस प्रकार मिलकर रहो, जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे मिलकर रहते हैं।'[2] इसी प्रकार वेद में अन्य अनेक स्थानों पर मिलकर उपभोग करने का उदात्त सन्देश दिया गया है। वेद-प्रतिपादित वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में वेद के इन सिद्धान्तों का अन्तर्भाव आवश्यक है। वर्णाश्रम-व्यवस्था मे पाँच यमों और पाँच नियमों पर भी बहुत बल दिया गया है। पाँच नियम जहाँ व्यक्ति की आन्तरिक वृत्तियों का नियमन कर उसे उदात्तता प्रदान करते हैं, वहाँ पाँच यम एक प्रकार का सामाजिक नियमन हैं। इनका पालन केवल योगी-महात्माओं के लिए आवश्यक नहीं था, अपितु चारों वर्णों अर्थात् राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक था।[3] यम-नियमों पर आधारित इस वर्ण-व्यवस्था में निःसन्देह पूँजीवाद में पलनेवाले व्यक्तियों में पनपनेवाले भोग और विलास उत्पन्न नहीं हो सकते। इस वर्णाश्रम-व्यवस्था में कर्त्तव्य-च्युत लोगों को दण्डित करने की भी व्यवस्था है। वेद में कहा है—'जो व्यक्ति नहीं देता है सम्राट् उससे दिलवाता है।'[4] जो ब्राह्मण विद्या-दान करने में हिचकिचाएगा, जो क्षत्रिय प्रजा-रक्षण से मुँह मोड़ेगा और जो वैश्य अपनी सम्पत्ति को समाज के कल्याण में नहीं लगाएगा, राजा उसकी सम्पत्ति को छीनकर राष्ट्र के कल्याण के लिए लगा दे। इस भय के कारण कोई वैश्य अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा। वेद में कहा है कि 'हम पिता से उत्तराधिकार में मिलनेवाली सम्पत्ति के स्वामी बनें।'[5] इससे सम्पत्ति के उत्तराधिकार

---

1. **केवलाघो भवति केवलादी।** —(ऋग्० 10.117 6)
2. **समानी प्रपा सह वोऽअन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।**
   सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ —(अथर्व० 3.30 6)
3. **अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
   एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ —(मनु० 10.63)
4. **सम्राट् अदित्सन्तं दापयति""।** —(यजु० 9.24)
5 (क) **ईशानास पितृवित्तस्य राय।** (ऋग्० 1 73 9)
   (ख) **रयिर्न य पितृवित्त** ऋग्० 1 73 1)

की बात स्पष्ट हो जाती है, किन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्था में सम्पत्ति का यह व्यक्तिगत स्वामित्व सर्वथा निष्प्रतिबन्ध नहीं है। यह पद्धति व्यक्ति से उसकी सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में तो लेती है, परन्तु इस पद्धति में व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को स्वेच्छा से देता है और इसमें बहुत गौरवान्वित अनुभव करता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था व्यक्ति के अहंकार और ममत्वरूपी मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व से तो व्यक्ति को वंचित नहीं करती, किन्तु उसकी इसी अहंकार और ममत्व की वृत्ति को समाजहित और राष्ट्रहित की ओर मोड़ देती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति यह व्रत लेता है कि मैं कुछ कमा रहा हूँ, उससे मैं समाज और राष्ट्र का हित-सम्पादन करूँगा। उसे इस लोकोपकार से ही आत्मतुष्टि प्रतीत होती है। इस प्रकार जहाँ साम्यवाद धन-संचय पर जोर-जबरदस्ती से प्रतिबन्ध लगाता है, वहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था का आधार पूर्णतः आध्यात्मिक है। साम्यवाद का भौतिकतावादी दर्शन ऊँचे चारित्रिक गुणों का विरोधी है। उसके तो मूल में ही हिंसा का लहू विद्यमान है। वर्णाश्रम की आध्यात्मिक पद्धति जहाँ हमारी संसार की सामाजिक व्यवस्था को ठीक बनाती है, वहाँ हमें वह ब्रह्म-साक्षात्कार और मोक्ष का आनन्द प्राप्त करने के योग्य भी बनाती है। साम्यवाद की अपेक्षा वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति की यह एक और बड़ी विशेषता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति की यह विशेषता पूँजीवाद की पद्धति में भी नहीं है। पूँजीवाद भी व्यवहार में भौतिकवादी ही है। उसका ध्यान भी केवल शरीर के भौतिक सुखों की ओर ही रहता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में शूद्रों की स्थिति—वेद की मानवतावादी संस्कृति ने जाति, रंग आदि के भेदों से ऊपर उठकर बौद्धिक दृष्टि से हीन व्यक्तियों को भी संस्कृति का पाठ पढ़ाकर अपने समाज में स्थान दिया। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि वेद ने शूद्रों को समाज में नागरिकता के अधिकार देकर उन्हें आत्मविकास का पूरा अवसर प्रदान किया। शूद्रों मे बौद्धिक विकास या शिक्षा की कमी के कारण उन्हें साधारणतया समाज की सेवा तथा निम्न कोटि के कार्य करने पड़ते थे, किन्तु उन्नति का द्वार उनके लिए पूरे रूप से खुला था। इस मन्तव्य

की पुष्टि में यजुर्वेद के वे मन्त्र दिये जा सकते हैं जिनमें कहा गया है कि 'वेद की कल्याणकारी वाणी मनुष्यमात्र के लिए कही गई है। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्त्यज आदि कोई भी हों।'[1] इससे स्पष्ट है कि शूद्रों को भी वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। यही कारण है कि दासीपुत्र कवष ऐलून, कक्षीवत् आदि शूद्र होते हुए भी ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के द्रष्टा बन सके। यजुर्वेद के एक और मन्त्र से शूद्र के आत्मोन्नति के प्रयासों का पता लगता है। उस मन्त्र में ब्राह्मण को ब्रह्म से, राजन्य या क्षत्रिय को क्षत्र से, वैश्यों को मरुतों से और शूद्र को तप से सम्बन्धित किया गया है।[2] शूद्र को आत्मविकास के लिए विशेष तप की आवश्यकता होती है।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि ब्राह्मण '**ओ३म्**' से, क्षत्रिय '**भूः**' से, वैश्य '**भुवः**' से, और शूद्र '**स्वः**' से उत्पन्न हुए हैं। स्पष्ट है कि वैश्य के समान शूद्र भी समाज का एक अभिन्न अंग था। उसे हेय या अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। राजा के राज्याभिषेक के समय जिन नौ रानियों की आवश्यकता होती थी उनमें शूद्रों का भी स्थान था।[3] इससे शूद्रों के धार्मिक तथा राजनीतिक अधिकार पर प्रकाश पड़ता है।

वेद में 'दस्यु' या 'दास' जातिवाचक नहीं

आधुनिक विद्वानों की प्रायः यह मान्यता बन गई है कि आर्य लोग बाहर से आए थे और उन्होंने भारत के मूल निवासी काले रंग के लोगों पर, जो द्राविड़ थे और जिन्हें आर्यों ने दास और दस्यु नाम दिये थे, अनेक प्रकार के अत्याचार किये थे। '**वैदिक एज**' के अधिकतर भाग में द्रविड़ संस्कृति और सभ्यता को आर्य संस्कृति और सभ्यता की अपेक्षा उन्नत तथा परिष्कृत दिखाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। आर्यों और दस्युओं अथवा द्राविड़ों को आर्यों से पृथक् एक जाति मानने का भाव भी बहुत स्थानों पर पाया जाता

---

1. **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**
   ब्रह्मराजन्याभ्याः शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥ —(यजु० 26 2)
2. **ब्रह्मणे ब्राह्मण क्षत्राय राजन्य मरुद्भ्यो वैश्य तपसे शूद्रम्** (यजु० 30 5
3. ब्राह्मण ग्रन्थ

है।[1]

आर्य शब्द '**ऋ गतिप्रापणयोः**' धातु से बना है। इस धात्वर्थ के अनुसार आर्य वे हैं जो ज्ञान-सम्पन्न हैं, जो सन्मार्ग की ओर सद्यःगति करनेवाले हैं और जो ईश्वर तथा परमानन्द को प्राप्त करते या तदर्थ प्रयत्नशील होते हैं। संस्कृत के कोषों में आर्य शब्द के निम्नलिखित अर्थ पाए जाते हैं—**पूज्यः, श्रेष्ठः, धार्मिकः, धर्मशीलः, मान्यः, उदारचरितः, शान्तचित्तः, न्यायपथावलम्बी, सततं कर्त्तव्यकर्मानुष्ठाता**। स्मृति में कहा गया है—'जो कर्त्तव्य कर्म का सदा आचरण करता और अकर्त्तव्य कर्म अर्थात् पापादि से दूर रहता हो और जो पूर्ण सदाचारी हो वह आर्य कहलाता है।'[2] महर्षि वेदव्यास ने आर्य शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है—'जो ज्ञानी हो, सदा सन्तुष्ट रहनेवाला हो, मन को वश में रखनेवाला, जितेन्द्रिय, दानी, दयालु और नम्र हो वह आर्य कहलाता है।'[3] आर्य शब्द का अर्थ आचार्य यास्क ने '**आर्यः ईश्वरपुत्रः**' इन शब्दों में लिया है। ऋग्वेद में आर्यों के विषय में कहा गया है कि आर्य वे कहलाते हैं जो (सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि) व्रतों को विशेष रूप से धारण करते हैं। रामायण[4], महाभारत, गीता आदि प्राचीन ग्रन्थों में सब जगह सज्जनों के लिए आर्य और दुर्जनों के लिए अनार्य शब्द का प्रयोग पाया जाता है।[5]

आर्य शब्द की भाँति ही वेद में '**दस्यु**' शब्द भी यौगिक अर्थ का ही वाचक है। आचार्य यास्क कहते हैं कि '**दस्यु**' वह है जिसमें रस अथवा उत्तम गुणों के सार-भाग कम होते हैं और जो यज्ञादि

---

1. Vedic Age, p. 156
2. **कर्त्तव्यमाचरन् कार्यम्, अकर्त्तव्यमनाचरन्।**
   तिष्ठति प्रकृताचारे, स तु आर्य इति स्मृतः॥
3. **ज्ञानी तुष्टश्च दान्तश्च, सत्यवादी जितेन्द्रियः।**
   दाता दयालुर्नम्रश्च स्यादार्यो ह्यष्टभिर्गुणैः॥ —(वेदव्यास)
4. **आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि।** —(ऋग्० 10.65.11)
5. (क) **आर्यः सर्वसमश्चायं सोमवत् प्रियदर्शनः।** —(बालकाण्ड 1.16)
   (ख) **तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोपमम्।**
   श्रुत्वा गतव्यथो रामः, कैकेयीं वाक्यमब्रवीत्॥
   —(अयोध्याकाण्ड 19.19)

उत्तम कर्मों का नाश करता अथवा उनमें बाधा डालता है।[1]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'दस्यु वह है जो अच्छे कर्म न करनेवाला (**अकर्मा**) है, जो विचारशील नहीं (**अमन्तुः**), जो सत्य आदि अच्छे व्रतों को न ग्रहण कर हिंसा आदि दुष्ट संकल्पों को करता रहता है (**अन्यव्रतः**), और जो मनुष्यता की पवित्र भावना न रखता हुआ क्रूर और स्वार्थ होने के कारण मानवता से दूर है (**अमानुष**)। ऐसे दस्यु का ही हे इन्द्र, तुम नाश करो।'[2] एक अन्य प्रसिद्ध मन्त्र में आर्यों और दस्युओं का भेद बताते हुए कहा गया है कि—'हे ईश्वर! आप विद्या-धर्मादि उत्कृष्ट आचरणयुक्त आर्यों को जानो और जो नस्तिक, डाकू, चोर, विश्वासघाती, मूर्ख, विषय-लम्पट, हिंसादि दोषयुक्त, उत्तम कर्म में विघ्न करनेवाले स्वार्थी, वेद-विद्या-विरोधी, अनार्य मनुष्य सर्वोपकारक यज्ञ के विध्वंसक हैं, इन सब दुष्टों को आप समूल नष्ट कर दीजिये और धर्मानुष्ठानरहित अनाचारियों का यथायोग्य शासन कीजिये जिससे वे भी शिक्षायुक्त होकर शिष्ट हों। आप हमारे दुष्ट कामों के निरोधक हो। मैं उत्कृष्ट स्थानों में निवास करता हुआ आपके आज्ञानुकूल सब उत्तम कर्मों की कामना करता हूँ, सो आप पूरी करें।'[3]

(ग) न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं, न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं, स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥
—(महाभारत)

(घ) कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरमर्जुन॥ —(गीता 2 2)

---

1. दस्युः दस्यते क्षयार्थात् उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः, उपदासयति कर्माणि।
—(निरुक्त 7-23)
2. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय॥ (ऋग्० 10.22 8)
3. विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया [illegible]।
शाकी भव चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु
(1 1[illegible])

इसी प्रकार ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों पर विशेषणवाची पदों द्वारा दस्यु का अर्थ अशान्तिकारक व अमंगल, छल-कपट करनेवाला, वेद को न माननेवाला कहा गया है। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी यही विचार प्रस्तुत किया है कि आर्यों और दस्युओं या द्रविड़ों के कोई जातीय युद्ध हुए ही नहीं थे। आर्य कहीं बाहर से नहीं आए थे, किन्तु वही इस देश के मूल निवासी थे। स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि "आर्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है''''जब वेद ऐसा कहता है तो दूसरे विदेशियों के कपोल-कल्पित को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते।"[1] श्री अरविन्द जी ने अनेक वेदमन्त्रों की हृदयंगम आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए लिखा है—'एक बार नहीं, बल्कि कई बार हम यह देख चुके हैं कि यह संभव ही नहीं है कि अंगिरसों, इन्द्र और सरमा की कहानी में हम पणियों की गुफा से उषा, सूर्य व गौओं की विजय करने का यह अर्थ लगावें कि यह आर्य आक्रान्ताओं तथा गुफानिवासी द्राविड़ियों के बीच होनेवाले राजनीतिक व सैनिक संघर्ष का वर्णन है। यह तो वह संघर्ष है जो प्रकाश के अन्वेष्टाओं और अन्धकार की शक्तियों के बीच होता है।''''इसके अनुरूप ही पणियों को इस रूप में लेना चाहिए कि वे अन्धकार-गुहा की शक्तियाँ हैं। दस्यु हैं पवित्र वाणी से घृणा करनेवाले। ये वे हैं जो हवि को या सोमरस को देवों के लिए अर्पित नहीं करते, जो गौओं व घोड़ों को, दौलत को तथा अन्य खजानों को अपने ही लिए रख लेते हैं और उन चीजों को द्रष्टाओं (ऋषियों) के लिए नहीं देते; ये वे हैं जो यज्ञ नहीं करते।''''इतना तो पूर्णतया निश्चित है कि ऋग्वेद में कम से कम जिस युद्ध और विजय का वर्णन हुआ है वह कोई भौतिक युद्ध और लूटमार नहीं है; बल्कि एक आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय है।'[2] प्रिंसिपल पी० टी० श्रीनिवास अय्यंगार अपनी 'द्रविडियन स्टडीज' नामक पुस्तक में आर्यों और दस्युओं के भेद को जातीय भेद न

---

1. सत्यार्थप्रकाश, समु० 8
2. वेद-रहस्य, पृ० 308-309

मानकर गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित भेद मानते हैं।[1] इसी प्रकार एक अन्य दाक्षिणात्य विद्वान् श्री रामचन्द्र दीक्षितार ने भी आर्यों, दस्युओं वा द्राविड़ों के जातीय भेद का प्रबल खण्डन किया है।[2] पाश्चात्य विद्वान् म्यूर महोदय का कथन है—मैंने ऋग्वेद में आए हुए दस्युओं और असुरों के नाम पर इस दृष्टि से विचार किया था कि उनमें से किसी को अनार्यों या मूल निवासियों की उत्पत्ति का समझा जा सकता है। किन्तु मुझे कोई नाम ऐसा नहीं मिला।[3] प्रो० मैक्समूलर के अनुसार दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है।[4] प्रो० रौथ का कथन है कि यदि ऐसे स्थल हैं तो वे बहुत ही कम होंगे जहाँ दस्यु का अर्थ अनार्य—बर्बर किया जा सके।[5] नैसफील्ड भी कहता है—'भारतीयों में आर्य विजेता और मूल निवासी जैसा कोई विभाग नही है। ये विभाग बिलकुल आधुनिक हैं। यहाँ तो समस्त भारतीय जातियों में एकता है। ब्राह्मणों की बहुत संख्या रंग-रूप में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक अच्छी अथवा सुन्दर हो अथवा सड़कों पर झाड़ू देनेवाले मेहतरों से जाति और रुधिर की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।'[6]

---

1. "....The Aryas and Dasyus or Dasas are referred to not as indicating different races....The Dasyus are without rites, fearless, non-sacrificers and haters of prayers."

   (P.T Sriniwas : 'Dravidian Studies')
2. The fact is that the Dasyus were not non-Aryans...If the Aryan race theory is a myth, the theory of the Dravidian race is a greater myth." **(Origin and Spread of Tamils, p. 12 & 14)**
3. "I have gone over the name of Dasyus or Asuras mentioned in the Rigveda with the view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryan or indigenous origin but I have not observed that appears to be of this character.

   (Original Sanskrit Texts, Vol. II, p. 387)
4. **Max Muller : Biographies of Words and House of the Aryans', London, p. 120**
5. It is but seldom if at all, that the explanation of Dasyus as reffering to the non-Aryans, the barbarians is advisable.
6. **Nesfield : "Brief view of the Caste System of the North-West Provinces & Oudh" p 27**

वैदिक नारी मानवीय आदर्शों की खान

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' और 'एक नहीं दो-दो मात्राएँ नर से बढ़कर नारी' जैसी प्रशंसात्मक उक्तियों के द्वारा आधुनिक साहित्यकारों ने नारी-पुनरुद्धार का जो प्रयास किया, उसे आधुनिक समाज की विशेष उपलब्धि माना गया। यह सम्भवतः इसलिए हुआ क्योंकि मध्यकालीन नारी की स्थिति अत्यन्त दारुण एवं शोचनीय थी। यद्यपि हिन्दू धर्म में दार्शनिक दृष्टि से यह कभी नहीं माना गया कि स्त्रियों में आत्मा का निवास नहीं होता या उनमें सोचने-समझने व अनुभव करने की शक्ति नहीं होती, परन्तु अपने व्यावहारिक जीवन में वे सर्वदा स्त्री के प्रति ऐसा ही व्यवहार करते रहे जो प्रकारान्तर से स्त्रियों के प्रति उनकी हृदयस्थ उपेक्षा को ही प्रकट करता था। '**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**'[1] कहकर उन्होंने जो वाचिक सम्मान नारी जाति के प्रति प्रकट किया था, उसका प्रत्यक्ष अनुभव मध्यकालीन नारी कभी नहीं कर सकी। इसलिए आधुनिक सुधारवादियों ने नये सिरे से नारी के महत्त्व और सम्मान का प्रतिपादन करने की तीव्र आवश्यकता अनुभव की। नारी के जिन अन्तर्हित गुणों के आधार पर वह कार्य सम्पन्न किया गया, उसकी प्रतिष्ठा वर्षों पहले वैदिक साहित्य बड़े जोर-शोर के साथ कर चुका था। वैदिक नारी जीवन का एक अभिन्न, अनिवार्य तथा आनन्दमय अंग समझी जाती थी।

वैदिक मान्यताओं के अनुसार नारी के बिना यह सम्पूर्ण विश्व सारशून्य है। सृष्टि-विस्तार की दृष्टि से भी निस्सन्देह पुरुष की अपेक्षा नारी की महत्ता अधिक है। वह पुरुष-जननी है। नारी की इस महत्ता तथा आवश्यकता के कारण ही वैदिक साहित्य में इसकी कामना और समुचित पालना प्रत्येक गृहस्थ से किये जाने का विधान है। इसी कारण इसका नाम **कन्या अर्थात् सबके द्वारा वांछनीय** रखा है। ऐतरेय उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि 'नारी हमारी पालना करती है, अतः उसकी पालना करना हमारा कर्त्तव्य है।'[2]

---

1. मनु० 3.56
2. ऐतरेय उपनिषद् 2.3

अथर्ववेद में 'सत्येनोत्तभिता भूमिः' कहकर मातृशक्ति को सत्याचरण की अर्थात् धर्म की प्रतीक कहा है।[1] वह जल के तेज से (अर्थात् शीतलता व शान्ति से) युक्त है।[2] 'शम्या' अर्थात् शान्तिदायिनी है।[3] ऋग्वेद में श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, सेवा, समानता की प्रतीक नारी को पवित्र, निष्कलंक, आचार के प्रकाश से सुशोभित, प्रातःकाल के समान हृदय को पवित्र करनेवाली, लौकिक कुटिलताओं से अनभिज्ञ, निष्पाप, उत्तम यश-युक्त, नित्य उत्तम कर्म करने की इच्छावाली, सकर्मण्य और सत्य व्यवहार करनेवाली बतलाकर प्रशंसित किया है।[4] वैदिक साहित्य नारी में उपर्युक्त गुणों का निर्देश करके उसमें इन गुणों का विशेष रूप से विकास चाहता है। इन्हीं के द्वारा वह संसार को स्वर्ग बनाती है और इन्हीं के हित वह पुरुषों द्वारा सर्वत्र एवं सर्वदा रक्षणीया, आश्रयणीया एवं पूजनीया है।

अन्य अनेक भौतिक उपकरणों की तरह नारी पुरुष की सम्पत्ति नहीं, अपितु सत्यांश में उसकी सहयोगिनी, सहभागिनी, सहधर्मिणी एवं अर्धांगिनी है। नर-नारी ईश्वर की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं और वे दोनों परस्पर संयुक्त होकर प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करते हैं। नर-नारी की इस अर्धांग कल्पना से अधिक उच्च एवं पावन कल्पना न कोई है और न कोई होनी सम्भव है। वे दोनों परस्पर पूरक हैं। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है—'जब तक स्त्री की प्राप्ति नहीं होनी, तब तक पुरुष आधा ही है।''[5] ऋग्वेद के अनुसार वे दोनों सूर्य और चन्द्र अथवा दिन और रात की भाँति एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।[6] दोनों का ही विश्व की रचना के लिए आह्वान होता है। अतः वैदिक ऋषि कामना करता है कि दोनों समान रूप से अपने बल, साहस और सुख की वृद्धि करें।[7] इस प्रकार अर्धांग-भाव की यह महान् कल्पना स्त्री-पुरुष के समान

---

1. अथर्व० 14.1.1
2. अथर्व० 14.1.39
3. अथर्व० 14.2.16
4. **शुचिभ्राजा उषसो नवेदा यशस्वतीरपस्युवो न सत्याः।** —(ऋग्० 1.79.1)
5. **अर्धो वा एष आत्मनो यज्जाया तस्मात् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते, असर्वो हि तावत् भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति।** —(शत० ब्रा० 5.2.1.10)
6. ऋग्० 1 13 7
7. ऋग्० 1 153 4

स्तर एवं महत्त्व की उद्घोषणा करती है। इसी मूल धारणा के कारण वैदिक समाज नारी को भी पुरुषवत् अधिकार प्रदान करता है।

उत्तम शिक्षा-प्राप्ति जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि है। वैदिक भाषा में शिक्षा-प्राप्ति का यह काल ब्रह्मचर्य कहलाता है, जो संयमित एवं मर्यादित सुखमय जीवन का प्रथम सोपान है। वेद में युवक के समान ही युवती को भी ब्रह्मचर्य का कठोर व्रत पालन करने का निर्देश दिया है। ऋग्वेद के अनुसार कन्या को अपने आचरण पर नियन्त्रण और व्यवस्था रखकर अपने को सफल भावी जीवन के लिए तैयार करना चाहिए।[1] मनु के मन, वाणी, देह का संयम करने वाली कन्या को ही पतिलोक की अधिकारिणी कहा है।[2] ऐसी सदाचारिणी कन्या ही शक्ति और ज्ञान उपलब्ध करने में समर्थ होती है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य-काल भावी जीवन की तैयारी का ही काल है।

मध्यकाल में इस मिथ्या धारणा का बोलबाला रहा कि वेद में स्त्री को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया गया, जबकि वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत है। नारी पूर्णतया शिक्षा-प्राप्ति की अधिकारिणी है, बल्कि समाज का यह दायित्व है कि वह नारी-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दे क्योंकि सामाजिक अवस्था को श्रेष्ठता बहुत-कुछ नारी की मानसिक, वैचारिक स्थिति पर ही निर्भर करती है। शरीर के विचार में 'नारी की शिक्षा-दीक्षा पुरुष से भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि उसके गर्भ से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य गुण-सम्पन्न सभी प्रकार के बालक-बालिकाओं का जन्म होता है। शूद्र योनि में इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति जन्म नहीं ले सकते। अतः नारी को तो सभी संस्कार कराने ही चाहिएँ।'[3] वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में स्त्री से इस प्रकार की बातें कही गई हैं कि 'हे पत्नी! तू हमें ज्ञान का उपदेश कर'[4], 'तू सब प्रकार के कर्मों का ज्ञान रखती है।[5] तू हमारे घर की प्रत्येक दिशा में ब्रह्म अर्थात् वैदिक

---

1. ऋग्० 1.48.3 2. मनु० 5.166
3. न हि शूद्रयोनां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या जायन्ते तस्माच्छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः। —(हारीत घ० सू० भूमिका)
4. त्वं विदथमा वदासि। —(अथर्व० 14.1.20)
5. कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसम्। —(अथर्व० 7.47.1)

ज्ञान का प्रयोग कर'[1] इत्यादि। इन सब वचनों से सिद्ध होता है कि वेद की सम्मति में प्रत्येक स्त्री को विवाह से पूर्व सब प्रकार का उत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ताकि वह गृहस्थ-संचालन में यथावसर उनका प्रयोग कर सके।

ब्रह्मचारिणी कन्या को भी उन सभी विषयों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जो ब्रह्मचारी बालक के लिए कहे गए हैं। वह वेद-वेदांगों, आख्यान, संगीत-नृत्य आदि चौंसठ कलाओं को यथाशक्ति सीखने की चेष्टा करे। मनु ने कन्या को वेद (जो कि सभी ज्ञान-विज्ञानों का भण्डार माने जाते हैं) पढ़ने का उपदेश दिया है।[2] इसमें अर्थ निकलता है कि उसे वेद की भाषा एवं साहित्य का मर्म समझने मे सक्षम होना चाहिए। भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए उसे भाषा के मर्म को भली प्रकार सीख लेना चाहिए। उदाहरण व दृष्टान्तों की अर्थमयी शैली में वेद दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। वह छन्दोबद्ध है। उन्हें भली प्रकार समझने के लिए दर्शन, इतिहास और छन्दों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वेद में अनेक बातों को नाटकीय संवादों द्वारा समझाया है, अतः नाटक आदि तत्त्वों का परिज्ञान होना भी आवश्यक है।

ऋग्वेद में उत्सवों में नारियों के गाने का विधान है। उन्हें सामवेद पढ़ने की आज्ञा भी दी गई है, अतः संगीत की सम्यक् शिक्षा भी आवश्यक है। संगीत व नृत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद में अनेक स्थलों पर सूर्य के सामने उषा का नृत्य करते हुए वर्णन मिलता है। इससे नारी द्वारा नृत्य करने की ध्वनि निकलती है। इस प्रकार कन्या को नृत्यकला में भी प्रवीण होना चाहिए।

नारियों का धार्मिक शिक्षा प्राप्त करना भी अनिवार्य है। उसे धार्मिक अग्निहोत्र, संध्या व यज्ञादि की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। ऋग्वेद ने इसी तथ्य को 'नारी सभी प्रकार के यज्ञों को—ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञादि को—धारण करे' कहकर स्पष्ट किया है।[3] नारियों को

1. **ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।**
—(अथर्व० 14.1.64)
2. **वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।** —(मनु० 3.2)
3. **यज्ञं दधे सरस्वती** (ऋग्० 1.3.11)—सरस्वती का अर्थ विदुषी नारी ही है।

युद्ध में जाने की और राजनीति में भाग लेने की भी छूट है। इससे उनका तत्सम्बन्धी दोनों विषयों की शिक्षा पाना सूचित होता है। अथर्ववेद में दो युवतियों की बुनाई की शिक्षा की उपमा के माध्यम से सृष्टिक्रम को समझाया गया है।[1] वे पतियों को धनादि कमाने के उपाय बताती हैं, जिससे उनका अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना स्पष्ट होता है। और कन्या के पर्यायवाची शब्द 'दुहिता' से पता चलता है कि उसे इसी काल में 'गौ दुहना' आदि गार्हस्थिक कर्म भी सीखने चाहिएँ। इस प्रकार कन्या के अध्ययन के विषय पुरुषों की शिक्षा के विषयों से भी अधिक हैं।

नारी--शिक्षा का समर्थन करने के बावजूद वेद महान् साधना एवं कठिन नियमों के पालन पर बल देता हुआ सह-शिक्षा का विरोध करता है। दुर्बल प्रकृतिवाले नर-नारी किसी भी क्षण परस्पर आकर्षण के कारण ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य को भूल सकते हैं। मनु ने स्त्रियों की ओर आँख उठाकर भी देखने का निषेध किया है।[2] उनके अनुसार गुरु-पत्नी के प्रति शिष्य का व्यवहार आचार्यवत् ही होना चाहिए, पर यदि गुरु-पत्नी युवती है तो उसके समीप जाने की चेष्टा न करे। इस प्रकार के कथन प्रकारान्तर से सहशिक्षा के ही विरोधी हैं।

मानव-समाज की उन्नति का दूसरा सोपान गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर उसके कर्त्तव्यों का यथावत् पालन करना है। वैदिक साहित्य में गृहस्थ के महत्त्व का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया गया है। वेदों और स्मृति-ग्रन्थों के अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि यह गृहस्थाश्रम शेष तीन आश्रमों का धारण और पालन करनेवाला है, अतः यही सबसे श्रेष्ठ है। जिस प्रकार सभी छोटी-बड़ी नदियाँ सागर में मिल जाती हैं, उसी प्रकार अवशिष्ट सम्पूर्ण आश्रम इसी गृहस्थाश्रम में मिलते हैं।[3] महर्षि गौतम के अनुसार गृहस्थाश्रम ही अन्य आश्रमों का जनक है, क्योंकि यह आश्रम ही सन्तान उत्पन्न

---

1. **तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षणमयूखम्।**—(अथर्व० 10.7.42)
2. **स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।** —(मनु० 2.179)
3. **यदा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।**
   तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् (मनु० 6.90)

करता है। अतः प्रत्येक ब्रह्मचारी को विद्यार्जन करने के बाद प्रबुद्ध-बुद्धि होने पर तथा मन में पति या पत्नी अथवा सन्तान की कामना उत्पन्न होने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। यजुर्वेद में स्पष्ट कहा है कि कन्या ब्रह्मचर्य-व्रत का पूर्ण पालन करके तथा अनेक विद्याओं को सीखकर ही पति को चुने।[1]

वैदिक मान्यतानुसार विवाह अटूट बन्धन है। किसी को वर लेने के बाद उसे त्यागना पाप है, अतः वर-वधू का चुनाव विवेकपूर्वक होना चाहिए। कन्या पिता का गृह त्यागकर सदा के लिए पतिगृह में जाती है, अतः कन्या को स्वयं यह अधिकार है कि वह अपने जीवन-साथी का चुनाव स्वयं अपनी पसन्द से करे और अनेकविध उसे परख भी ले। अथर्ववेद में कहा है कि वह तभी होना चाहिए जब 'वर वधू को चाहनेवाला हो और वधू पति को पसन्द कर रही हो।'[2] ऐसी स्थिति में ही वे सस्नेह मंगलमय विवाहित जीवन-यापन करने में समर्थ हो सकते हैं। सामाजिक उत्सवों, पर्वों एवं विशेष आयोजनों में वर-चयन की स्वयंवर-प्रथा का वर्णन है, उसमें ऐसे अनेक उल्लेख हैं कि इन उत्सवों में कन्याएँ विशेष रूप से शृंगार-सज्जित होकर योग्य वर की कामना से सोत्साह जाती थीं। इतना ही नहीं, अपितु अनेक बार तो माताएँ विवाह व सन्तान की कामना करनेवाली अपनी कन्या को सजाकर सामाजिक जलसों में भेजा करती थीं ताकि वे स्वरुचि से वर का चुनाव कर सकें।[3]

इस प्रकार यद्यपि वर-वधू की पारस्परिक सहमति का रहना आवश्यक है, परन्तु उन्हें गुरुजनों एवं माता-पिता के परामर्श पर पूर्ण ध्यान का निर्देश भी वेदों में मिलता है। अनुभवशून्यता के कारण एकांगी निर्णय कष्टकर हो सकता है। अथर्ववेद में कहा है—"पिता द्वारा स्वीकृत किये जाने पर ही कन्या का वाग्दान हो।"[4]

---

1. यजु० 34.10
2. **सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।**
   सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताऽददात्॥ —(अथर्व० 14.1 9)
3. **सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषा विस्तन्वं कृणेषु दृशे कम्।** —(ऋग्० 1.123.11)
4. अथर्व० 14 1 13

वर का कथन है कि—"हे कन्या! मैं तुझे तेरी माता और पिता से प्राप्त करता हूँ।"[1] पिता सम्यक् रूप से सोचकर कन्या को पति के हाथों में सौंपता है। वर और कन्या के माता-पिता कन्या और वर के चुननेवाले बनते हैं।[2]

वैदिक नारी की गार्हस्थिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ है। वैदिक साहित्य में पत्नी को पति के घर में सर्वोपरि स्थान प्रदान किया है। 'रथ की धुरी' कहकर उसे गृहस्थ का आधार बताया है।[3] जिस प्रकार प्रकृति जगत् की कर्त्री है, उसी प्रकार पत्नी घर की निर्मात्री है। वेद का कथन है, "हे पत्नी! तू दृढ़ रूप से स्थिर रह। तू विराट् है। हे सरस्वती! तू इस पतिगृह में विष्णु की तरह है।"[4] ऋग्वेद की स्थापना है : 'जिस गृह में पत्नी नहीं, मानो उस घर में दिन का (अर्थात् प्रकाश या नवीन उमंगों का) निवास नहीं।' वह ज्ञानवती है।[5] अथर्ववेद में वधू की उपमा समुद्र से दी गई है। जैसे वर्षा करके समुद्र ने नदियों पर साम्राज्य प्राप्त किया है, इसी प्रकार हे मित्र! तू पति के घर जाकर वहाँ की सम्राज्ञी बन।[6] इस प्रकार स्त्री घर की स्वामिनी है। सर्वस्व उसके अर्पण होना चाहिए।

गृह-व्यवस्था को सुचारु गति से संचालित करने के लिए यह अत्यावश्यक है कि घर की अर्थ-व्यवस्था पर भी नारी का पूर्ण अंकुश अथवा नियन्त्रण हो। जिस प्रकार धनार्जन कठिन कर्म है, उसी प्रकार संगृहीत धन का यथोचित व्यय करना भी सरल कार्य नहीं है। स्पष्टतः नारी को ही पति द्वारा लाए हुए धन का संग्रह एवं उस संगृहीत धन के व्यय करने का अधिकार प्रदान किया है।[7] केवल अधिकार ही नहीं, वरन् पति को यह आदेश दिया है कि वह अपनी पत्नी को इस कार्य में लगा दे। पत्नी को धन का व्यय इस प्रकार करना चाहिए कि घर धन-धान्य से सर्वदा आपूरित रहे।

---

1. अथर्व० 3.25.5 2. अथर्व० 14.1.8
3. अथर्व० 14.1.61
4. **प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।** —(अथर्व० 14.2.15)
5. ऋग्० 10.159.1.2
6. **यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।**
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥ —(अथर्व० 14.1.43)
7. **अर्थस्य संग्रहे चैना व्यये चैव नियोजयेत्।** (मनु० 9 11

घर की सुव्यवस्था करना ही वैदिक दृष्टि में स्त्री का वास्तविक कर्मक्षेत्र है। आधुनिक दृष्टि में स्त्री को केवल घर तक सीमित रखना उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य पर अविश्वास करना है अथवा उसे बलात् चारदीवारी में रखने का उपक्रम-मात्र है। ऐसी भ्रामक धारणा वस्तुतः स्वस्थ मनोवृत्ति के अभाव का ही परिणाम कही जा सकती है। यदि इस कार्य-विभाजन का कारण स्त्री की अक्षमता मान भी लें तो यह भी मानना होगा कि पुरुष भी घर की सुव्यवस्था करने में असमर्थ है। अर्थशास्त्र की भाषा में इसे योग्यतानुसार श्रम का विभाजन कहना चाहिए। इसके पीछे एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण भी है। बाहर के कार्यों में कुछ इस प्रकार की जटिलताएँ हैं कि मनुष्य न चाहते हुए भी धर्मभ्रष्ट होने लगता है। यदि सरल-हृदया स्त्री भी उनमें उलझकर धर्मच्युत हो जाएगी तो समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था डगमगाने लगेगी। सन्तान का उचित पोषण एवं शिक्षण उसी पर निर्भर है। एक प्रकार से विश्व का शासन-सूत्र उसी के हाथ में है। प्रत्येक नारी अपने परिवार को स्वर्ग बनाकर विश्व को स्वर्ग बनाने में समर्थ है। अतः गृह-व्यवस्था का कार्य नारी को सौंपना उसकी दुर्बलता का नहीं, वरन् महत्ता का सूचक है। आधुनिकता के अन्ध मोह में डूबे हुए लोगों के लिए वेद की इस भावना को समझना अनिवार्य है।

घर की सीमाओं में बँधकर नारी सन्तानोत्पत्ति और सन्तानपोषण के जिस महान् कर्त्तव्य का सम्पादन करती है, वह अद्वितीय है। इसके लिए उसे जितना त्याग करना पड़ता है, जो कष्ट उठाना पड़ता है, वह पुरुष की कल्पना से बाहर की वस्तु है। यदि वह इस कर्त्तव्य को पूर्ण करने से इन्कार कर दे तो विश्व में त्राहि-त्राहि मच जाए। पश्चिमी रंग में रँगा हुआ आधुनिक तथाकथित सभ्य समाज वासनापूर्ति और सन्तानोत्पत्ति में कोई विशेष भेद नहीं मानता। वेद की दृष्टि अपेक्षाकृत बहुत परिष्कृत है। इसके अनुसार जीवनी शक्ति का प्रयोग केवल सन्तानोत्पत्ति के निमित्त ही करना चाहिए। आधुनिक व्यक्ति इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता। वस्तुतः पति-पत्नी का प्रेम सन्तानोत्पत्ति के उपरान्त अटूट बन जाता है। सन्तान के प्रति वात्सल्य, ममता एवं आत्म बलिदान की भावना से ओतप्रोत होने के ये दोनों अपने मतभेदों को भूलकर के हित की मे लग जाते हैं

इन सब मान्यताओं से यह ध्वनि कहीं नहीं निकलती कि नारी का सामाजिक कार्यों में हस्तक्षेप निषिद्ध है। वेद उसे सामाजिक कार्यों, धार्मिक अनुष्ठानों एवं राजनीतिक क्षेत्र में भी आवश्यकतानुसार सम्मिलित होने का, भाग लेने का पूर्ण अधिकार देते हैं। वेदानुसार प्रत्येक शुभ कर्म अग्निहोत्र द्वारा प्रारम्भ होता है। उपनीत एवं विदुषी नारी यज्ञों में भाग ले सकती है। शतपथ ब्राह्मण में '**योषा वै सरस्वती**' कहकर विदुषी स्त्री को यज्ञ में निमन्त्रित करने का विधान है।[1] ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पति-पत्नी द्वारा मिलकर यज्ञ करने का वर्णन है।[2] यज्ञों में नारी के उपयुक्त अनेक क्रियाकलाप हैं जो उसकी अनुपस्थिति में सम्पन्न नहीं हो सकते। शतपथ ब्राह्मण मे एक स्थल पर कहा है कि यज्ञ के अनुष्ठान से उत्तम सन्तान होती है। अतः पत्नी द्वारा यज्ञ करवाया जाना चाहिए।[3] विदुषी नारी को यज्ञ के 'पुरोहित', 'ब्रह्मा' अथवा 'होता' होने का अधिकार है। इन सब से नारी का माहात्म्य ही प्रकट होता है।

पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध, व्यवहार, कर्त्तव्य आदि पर भी वेद में अभीष्ट विचार किया गया है। उसकी दृष्टि में विवाह किसी समझौते का नाम नहीं है, जो सरलतापूर्वक तोड़ा जा सके, बल्कि यह एक अटूट धार्मिक बन्धन है। विवाह-वेदी पर की गई प्रतिज्ञाओं को तोड़नेवाले पति-पत्नी नरक के भागी होते हैं। ऋग्वेद में वर-वधू अपने-आपको पूर्णरूपेण एक-दूसरे में मिला देने का संकल्प करते हुए कहते हैं—"सब देवों ने हम दोनों के हृदयों को मिलाकर इस प्रकार एक कर दिया है जिस प्रकार से दो पात्रों के जल परस्पर मिला दिये जाने पर एक हो जाते हैं।"[4] ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—तुम आयु-पर्यन्त विवाहित जीवन के बन्धनों में बँधे रहो जैसे चकवा-चकवी रहते हैं।[5] विवाह वास्तव में वह दिव्य बन्धन है जिसमें दो व्यक्ति परस्पर

---

1. शत० ब्रा० 1.5.1.9
2. **पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।** —(ऋग्० 1.72 5)
3. शतपथ ब्राह्मण 1.9.2.1-35
4. **समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।** —(ऋग्० 10.85.47)
5. **चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायर्व्यश्नताम॥** अथर्व० 14 2 64)

हृदय का दान देते हैं। हृदय-दान जीवन में एक ही बार किया जा सकता है तथा दिया हुआ दान लौटाया नहीं जा सकता, इसीलिए वेद में विवाह मोक्ष का निर्णय तथा एकपतिव्रत एवं एकपत्नीव्रत का विधान है। पति-पत्नी को जीवनपर्यन्त स्नेह के अटूट बन्धन मे बँधने की प्रेरणा देने के उपरान्त वैदिक साहित्य किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में इस नियम को शिथिल भी करता है, ताकि संसार के प्रपंचक इस विधान का अनुचित लाभ न उठा सकें। यदि स्त्री दुश्चरित्र, पतित, प्रपंचक, रोगिणी, वन्ध्या, अप्रियवादिनी है अथवा उसके गुणों का मिथ्या कीर्तन करके छलपूर्वक विवाह कराया गया हो तो पति उसे त्याग सकता है। इसी प्रकार यदि उक्त दोष पुरुष में हैं, वह प्रजननशक्ति-हीन है, स्त्री को मारता है, कर्त्तव्यच्युत है तो स्त्री को भी उसे त्याग देने का अधिकार है। वैदिक भाषा में पत्नीत्व के अधिकारों से वंचित करने का नाम ही 'त्याग' या 'तलाक' है। परन्तु वहाँ ऐसा भी संकेत है कि इस तरह से धर्म-स्खलित पत्नी के सुधार की प्रतीक्षा एक वर्ष तक करनी चाहिए।[1] वैसे इस बन्धन की पवित्रता को बनाए रखने की चेष्टा करना ही व्यक्ति का परम धर्म है।

वैदिक मान्यता पुनर्विवाह का निषेध करती है। वेद की शिक्षाओं का यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य मे विवाह केवल एक बार ही होना चाहिए। पुनर्विवाह केवल शूद्रों मे हो सकता है। यदि पुरुष अक्षत-वीर्य हो और स्त्री अक्षत-योनि हो तो पति या पत्नी की अकाल मृत्यु हो जाने पर द्विजों में भी पुनर्विवाह हो सकता है अन्यथा वैधव्य-प्राप्ति पर या विधुर हो जाने पर संयम का जीवन ही व्यतीत करना चाहिए। आपत्काल में सन्तानेच्छा की पूर्ति 'नियोग' द्वारा करने की प्रथा थी। आज के संयमहीन युग में 'नियोग' प्रथा भी असम्भव है और वैधव्य के संयम को निभाना भी। अतः वर्तमान युग में वैदिक धर्मियों ने भी पुनर्विवाह, विधवा-विवाह व विधुर-विवाह को स्वीकार कर लिया है। पुनर्विवाह अधर्म या पाप नहीं है। वह शूद्रों का धर्म है—कम संयमवाले लोगों का धर्म है। विधवा-विवाह के सम्बन्ध में स्वामी

---

1 मनु० 9 77

दयानन्द लिखते हैं—"विधवा-विवाह का जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा-विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है। पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं, क्योंकि वह न्यायकारी है. उसमें पक्षपात का लेश भी नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जाए तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जाए?"[1]

वासिष्ठ धर्मसूत्र के आधार पर पुनर्विवाह के सम्बन्ध में डॉ॰ प्रशान्तकुमार लिखते हैं—"पुनर्विवाह के सम्बन्ध में वसिष्ठ ने अत्यन्त उदारता का परिचय दिया था। उनका कथन है कि यदि किसी कन्या का बलपूर्वक हरण किया गया हो और उसका धार्मिक विधि से विवाह हुआ हो तो उसका विवाह वैध रूप से दूसरे व्यक्ति से किया जा सकता है। वह ठीक कुमारी कन्या की तरह है। यदि किसी कन्या का अपने मृत पति के साथ केवल मन्त्र-पाठ द्वारा विवाह हुआ हो और यौन सम्भोग द्वारा विवाह निष्पन्न न हुआ हो तो उसका दुबारा विवाह किया जा सकता है।"[2]

मध्य-काल में सती-प्रथा का अत्यधिक प्रचलन रहा, परन्तु उसका समर्थन करता हुआ कोई भी वैदिक प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है—"नारी, उठ। जीव-लोक में आ। इस मृत पति के पास तू क्यों पड़ी हुई है? हाथ ग्रहण करनेवाले, भरण-पोषण करनेवाले, नियुक्त वीर्यदाता पति के साथ सन्तान जनने के लिए मिलकर रह।"[3] कुछ विद्वानों की ऐसी भ्रामक धारणा है कि सतीप्रथा वेदानुमोदित है। प्रसिद्ध इतिहासकार मैकडॉनल की मान्यता भी बहुत-कुछ ऐसी ही है। इस विचारधारा का निराकरण करते हुए डॉ॰ प्रशान्तकुमार अपनी पुस्तक में लिखते हैं—"सतीप्रथा वेदानुमोदित है—इस प्रकार की कल्पना अथर्ववेद के 18.3.1 के आधार पर की गई है। उसमें धर्म पुराण का 'अनुपालयन्ती' यह वाक्य-खण्ड प्राप्त होता है। उक्त सज्जन

---

1. उपदेश मंजरी : महर्षि दयानन्द के व्याख्यानों का संग्रह, 12वाँ व्याख्यान, पृ॰ 175
2. डॉ॰ प्रशान्तकुमार : 'वैदिक साहित्य में नारी', पृ॰ 119
3. उदीर्ष्व नार्यभि ... शेष एहि (ऋग्॰ 10 18 8)

(मैकडॉनल) ने पुराना धर्म सतीप्रथा का ही कल्पित कर लिया, जबकि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में कहीं भी इस बात का निर्देश नहीं है कि प्राचीन नारियाँ इस प्रकार किया करती थीं। वस्तुतः उनका पुरातन धर्म अपनी घर-गृहस्थी सँभालना एवं कुल की रक्षा करना है। वही इसे अब पति की मृत्यु के बाद भी करना चाहिए।''[1] अथर्ववेद की उक्त ऋचा का यही अर्थ सर्वाधिक तर्कसम्मत एवं सम्पूर्ण वैदिक मान्यता के अनुकूल प्रतीत होता है।

पुनर्विवाह तथा सती-प्रथा का विरोध करते हुए भी वैदिक नारी की सामाजिक स्थिति किसी भी प्रकार असुरक्षित नहीं है। परिवार व समाज में विधवा उसी अधिकार और सम्मान की अधिकारिणी है जो उसे पति के जीवन-काल में प्राप्त थे। उसे आर्थिक दृष्टि से भी परतन्त्र नहीं होना पड़ता। '**तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि**' कहकर उसे मृत पुरुष की सन्तान और धन की स्वामिनी कहा है।[2] ऋग्वेद में 'जिस प्रकार पतिविहीना नारी पति के धन को प्राप्त करती है' यह उपमा प्राप्त होती है।[3] इससे विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व स्पष्ट लक्षित होते हैं।

केवल वैधव्य की स्थिति में ही नहीं, वरन् सामान्य स्थिति में भी वेद नारी के साम्पत्तिक स्वत्व का समर्थन करता है। विवाह से पूर्व पितृगृह में और तदुपरान्त पतिगृह में वह पर्याप्त धन और सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्तियों का उपभोग करने में समर्थ है। वैदिक साहित्य में उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर कुछ विद्वान् स्त्री को दाय-भाग प्राप्त करने का अधिकारी नहीं मानते। ऋग्वेद में ऐसा कथन है कि 'भाई अपनी बहिन को धन प्रदान न करे।'[4] इस सम्बन्ध में भी डॉ० प्रशान्तकुमार का अभिमत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। वे लिखते हैं, ''इस प्रकार के वचनों का अर्थ केवल इतना ही है कि कन्या को पिता के धन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वह अपने पति के घर में जाकर सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी

---

1. डॉ० प्रशान्तकुमार : 'वैदिक साहित्य में नारी', पृ० 121
2. अथर्व० 18.3.1
3. **परिवृक्तेव** पति विद्यमानद् (ऋग्० 10 102 11)
4. ऋग्० 3.31 2

बनती है।'' ऋग्वेद के जिस मन्त्र के आधार पर कन्या को दाय-भाग का अधिकारी नहीं कहा, उसी मन्त्र में कन्या को विवाह के लिए सब प्रकार से योग्य बनाने का संकेत प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अविवाहित तथा अभ्रातृमती कन्या को दाय प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है।[1] वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं जिनसे उक्त स्थापना की पुष्टि होती है। 'घर में ही बूढ़ी हो जानेवाली स्त्री घर से ही अपना सम्पूर्ण भाग प्राप्त करती है।'[2] इससे स्पष्ट है कि अविवाहित कन्या दायाधिकारिणी है। मनु ने अविवाहित कन्याओं के लिए यह व्यवस्था की है कि माता का कौतुक (स्त्रीदाय) उन्हें ही मिले।[3] वास्तव में **'केवलाघो भवति केवलादी'** (अकेला खानेवाला अकेला ही पाप का भागी बनता है) के सिद्धान्त को माननेवाला वैदिक साहित्य नारी के साम्पत्तिक स्वत्वों की उपेक्षा कैसे कर सकता था?

नारी कन्या एवं पत्नी के रूप में आर्थिक दृष्टि से सर्वदा निश्चिन्त है। जननी-रूप में, मनु ने **'रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः'** (9.3) कहकर उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व पुत्र पर डाल दिया है। धनादि से उसकी सहायता न करनेवाले पुत्र को निन्दनीय एवं अपयश का भागी बताया है। अतः माता सर्वदा एवं सर्वत्र रक्षणीया है।

अब देखना यह है कि धर्म, अर्थ, परिवार—सब दृष्टियों से नारी के सम्मान की रक्षा करनेवाले वैदिक समाज में उसकी व्यावहारिक स्थिति क्या थी? स्वतन्त्रता निश्चय ही प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है और नारी भी इस अधिकार की सहभोगिनी है। आधुनिक समाज के दूषित वातावरण में स्वतन्त्रता उच्छृंखलता का पर्याय हो गई है। इसी कारण नारी-स्वातन्त्र्य के अनेक दुष्परिणाम लक्षित होने लगे हैं। परन्तु वेदानुसार तो नारी को नारीत्व के महान् गुणों की रक्षा करते हुए स्वतन्त्रता का उपभोग करना चाहिए। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वाभाविक गुणों का हनन कदापि नहीं है। नारी यदि पुरुष के गुणों को अपना लेती है तो वह

1. डॉ० प्रशान्तकुमार : 'वैदिक साहित्य में नारी', पृ० 15
2. ऋग्० 2.17.7
3. मनु० 9.193 198

कुलटा हो जाती है। वास्तव में स्वतन्त्रता का अर्थ है कि नारी को भी पुरुष के ही समान शिक्षा पाने, आत्मोन्नति करने, राजनीतिक एवं सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने का पूर्णाधिकार है।' अपने जीवन-साथी का चुनाव वह इच्छानुसार स्वयं कर सकती है। स्त्री का घर में रहना एक आदर्श स्थिति है, परन्तु उसे गृह-व्यवस्था का भार सौंपना उसकी अक्षमता का सूचक या स्वतन्त्रता छीनने का उपक्रम नहीं माना जाना चाहिए। वस्तुतः नारी के प्रति वैदिक दृष्टि अत्यन्त न्यायपूर्ण तथा सद्भावना से ओतप्रोत है।

स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके नारी नारीत्व के उच्च सिंहासन से च्युत हो गई है और अपने गौरव को वह स्वयं लांछित कर रही है। यदि वह स्वोद्धार के लिए प्रयत्नरत हो जाए तो कोई भी कवि इस प्रकार के अपमानजनक शब्द नहीं कह सकेगा कि—

आवर्तः संशयानामविनयवनं पत्तनं साहसानां,
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवृषभैः सर्वमायाकरण्डम्
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषामृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम्।

अर्थात् स्त्रियाँ सब सन्देहों का जाल, सब उच्छृंखलताओं का घर, सब प्रकार के टेढ़े-सीधे कामों की खान, सब बुराइयों की जड़, सब तरह के छल-कपट और प्रपंचों का भंडार तथा सब प्रकार के अविश्वासों के फलने-फूलने की भूमि होती हैं। इनके हृदय की थाह बड़े-बड़े भी नहीं पा सकते। न जाने सब पर अपना मायावी जाल फेंकनेवाली स्त्रीरूपी मशीन, जिसमें विष और अमृत भरा हुआ है, किसने धर्म का नाश करने के लिए बना डाली है। अस्तु।

वैदिक सन्देश एवं शिक्षाओं को जीवन में कार्यान्वित करने पर ही नारी उपर्युक्त प्रकार के आरोपों से मुक्त हो सकती है। पुरुषों की अति आसक्ति और लम्पट वृत्ति के कारण मध्यकाल में नारी की स्थिति किंचित् असुरक्षित हो गई थी, अतः परदा-प्रथा का प्रचलन हुआ। परन्तु संयम, तपस्या और नैतिकता को जीवन की [illegible] माननेवाले वैदिक समाज में इस तरह की प्रथा का [illegible] नहीं था [illegible] विवाह के [illegible] वर वधू के लिए कहता है

'यह मंगल बढ़ानेवाली वधू हमारे घर आई है, आओ इसे देखो।'[1] इससे स्पष्ट है कि वधू ने परदा नहीं कर रखा। अथर्ववेद के अनुसार उसे देखने के लिए अनेक युवतियाँ और वृद्धा माताएँ एकत्रित हैं।[2]

वैदिक समाज नारी को अबला नहीं मानता। वह वीर स्वामी की स्त्री और वीर पुत्रों की माता है। उसमें विरोधी गुणों का अपूर्व समन्वय दृष्टिगत होता है। विनय, शालीनता, लज्जा, स्नेह जैसे कोमल मधुर गुणों के साथ ही वह रणकुशल एवं शक्तिरूपिणी भी है। उसमें दृढ़ विश्वास है। वीर-भावना से ओतप्रोत होकर वह कहती है—'यह पुरुष मुझे अबला ही कहता है, किन्तु मैं अपने को प्रेरणा देनेवाले वीर को वरनेवाली स्त्री के तुल्य हूँ। मैं भी उसी ऐश्वर्यवान् परमात्मा को धारण करती हूँ और मैं विश्व का संचालन करनेवाले शक्तिशाली वायु के समान अनेक बलों से युक्त एवं शक्ति-सम्पन्न हूँ।'[3] डॉ० प्रशान्तकुमार ने ठीक ही कहा है कि इस प्रकार की ओजपूर्ण घोषणा करनेवाली दृढ़ संकल्प नारी को अबला कहने का दुस्साहस कौन कर सकता है? वैदिक नारी का विचार और उसका दृढ़ संकल्प उसे दुष्टों से सदा सुरक्षित रखता है।[4]

वैदिक साहित्य के अनुसार पत्नी पति की प्रेरणा-शक्ति है। उससे प्रेरित होकर ही पति किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करने में सक्षम होता है। विश्व का इतिहास वेद के इस सत्य का ज्वलन्त प्रमाण है। महाकवि कालिदास एवं भक्त-शिरोमणि तुलसीदास की अमर रचनाओं का प्रेरणा-स्रोत उनकी अपनी पत्नियाँ ही रही हैं।

नारी की अलंकारप्रियता एवं शृंगारप्रियता सर्वविदित एवं सर्वप्रसिद्ध है। अपने रूपाकर्षण को बढ़ाने के लिए समय-समय पर नारी अलंकृत होती है। वेद में भी इस नारी-वृत्ति का वर्णन अनेक

---

1. सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। —(अथर्व० 14.2.28)
2. अथर्व० 14.2 29
3. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
   उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥
   —(ऋग्० 10.86 9)
4. डॉ० प्रशान्तकुमार · 'वैदिक साहित्य में नारी'. पृ० 153

स्थलों पर मिलता है। ऋग्वेद में विवाह के अवसर पर कन्या को माता द्वारा अलंकृत किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त पति का भी कर्त्तव्य है कि वह पत्नी को अलंकारादि से सजाकर रखे।[1]

ऋग्वेद का '**पेशांसि अधिवपते**' यह वाक्य स्पष्टतः उसे आभूषण धारण करने की आज्ञा दे रहा है।[2] बहुवचन का प्रयोग आभूषणों की विभिन्नता को प्रकट करता है। '**कृशनावतः**' शब्द से उनके सुवर्ण आदि धातुओं से सजकर रहने का उल्लेख है।[3] अथर्ववेद में कामना की गई है कि सुवर्ण वधू का कल्याण करनेवाला होवे।[4] परन्तु साथ ही यह भी कहा है कि स्त्री ऐसे अलंकार धारण करे जिनमें प्रदर्शन न हो और किसी की कुदृष्टि उस पर न पड़े। स्वर्ण में रमकर वह अपने कर्त्तव्य-पथ से विमुख न हो जाए। अन्यथा गृह-राज्य का अकल्याण होने की सम्भावना है।

वस्त्रों की विविधता, आकर्षण और केश-विन्यास के बारे मे भी वेद मौन नहीं है। ऋग्वेद में नारी को सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाली तथा अथर्ववेद में कल्याणकारी वस्त्रोंवाली कहा है।[5] एक स्थल पर स्त्री को आदेश दिया है कि अपने टखने किसी को न दिखाए अर्थात् वह ऐसा वस्त्र धारण करे जिससे टखने भी ढके रहें।[6] वेद में स्त्रियों के जिन विभिन्न वस्त्रों का वर्णन है, उनमें से कतिपय इस प्रकार हैं—

अधिवास (आधुनिक शाल), वासः तथा उत्तरीय (दुपट्टा), शामुल्य (आधुनिक साड़ी), द्रापि (खुली कमीज), पेश (आधुनिक पेटीकोट) इत्यादि। इसी प्रकार वैदिक नारी विविध प्रकार के केश-प्रसाधन करती थी। उसे विशाल केशोंवाली कहा गया है। स्त्रियों के

---

1. ऋग्० 1.35.4
2. ऋग्० 1.92.4
3. ऋग्० 1.126.4
4. **शं ते हिरण्यम्।** —(अथर्व० 14.1.40)
5. (क) '**जायेव पत्य उशती सुवासाः।**' —(ऋग्० 1.124.7)
   (ख) '**स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमंगलम्।**' —(अथर्व० 14.1.30)
6. **मा ते कशप्लकौ दृशन्।** —(ऋग्० 8.33.19)

लिए 'उत्तम केशोंवाली' यह विशेषण अनेक स्थलों पर आया है। इस प्रकार वैदिक समाज नारी-शृंगार और अलंकार के विषय मे पर्याप्त सजग प्रतीत होता है। शृंगार करना मनुष्यमात्र की स्वाभाविक वृत्ति है। यह वृत्ति आत्मरति का ही एक रूप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद का नारी-विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है। उसकी दृष्टि में नारी ईश्वर की महान् संरचना है। एक गुरुतर दायित्व को लेकर वह अवतरित हुई है। नारी घर में रहकर बाहर की समस्त कल्मषताओं से बची रहकर अपने पति अथवा पुत्र को ऐसे निर्देश देती है कि वे भी किसी पापपूर्ण कर्म में प्रवृत्त न हों। सन्तान के पूर्ण योग्य बनाने की क्षमता माँ में है, पिता में नहीं। वैदिक साहित्य व्यक्तिगत उन्नति से समष्टिगत उन्नति के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। नारी घर को स्वर्ग बनाने में समर्थ है। वस्तुतः मानव-जाति का उत्कर्ष नारी-जाति की समुचित उन्नति में निहित है। किसी भ्रामक धारणा में उलझे बिना वैदिक साहित्य के सन्देश का अनुकरण करने में ही उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा—'**नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।**'

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक समाज-व्यवस्था में जातिगत भेदभाव एवं लिंग-भेद का कहीं स्थान नहीं है। आर्य-दस्यु-संघर्ष वस्तुतः सत्-असत् का शाश्वत संघर्ष है। वैदिक नारी मानवीय आदर्शों की खान है। यह नारी वीर है, अनवद्य 'हस्रा' है, 'मंजुल' 'हसना' है और पहुँची हुई तत्त्वद्रष्ट्री है।[1]

वेद में मानवीय प्रवृत्तियों के आधार पर समस्त मानव-जाति को चार वर्णों में बाँटा गया है। यह वर्ण-विभाग पूर्णतः गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर ही हुआ है। वैदिक संस्कृति शूद्र को भी आत्मिक विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करती है। वैदिक आश्रम-व्यवस्था मनुष्य का सर्वांगपूर्ण सुचारु विकास कर उसे अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति कराती है। यह वर्णाश्रम-व्यवस्था ही वैदिक समाज-व्यवस्था का प्राण है। इसमें मानव-मात्र को समान रूप से शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। त्याग, तपस्या, ज्ञान-साधना तथा लोकसेवा से यहाँ

---

1 डॉ० प्रशान्तकुमार - 'वैदिक साहित्य में नारी'

कोई भी मनुष्य ब्राह्मण-पद को प्राप्त करने का अधिकारी बन सकता है। इस वर्णाश्रम-व्यवस्था का सम्बन्ध किसी समाज-विशेष, राष्ट्र-विशेष अथवा समय-विशेष से नहीं है। यह तो सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक समाज-व्यवस्था है जिसका अवलम्बन करके कोई भी मानव-समुदाय उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच सकता है।

छठवाँ अध्याय

वेद की मानववादी शासन-व्यवस्था

राष्ट्र-पुरुष

वैदिक दृष्टि में समस्त मानव-समाज व सम्पूर्ण राष्ट्र पुरुषरूप है। राष्ट्र के सब मानवों का सम्मिलित रूप एक ही पुरुष है। प्रत्येक राष्ट्र में ज्ञानी, शूर, कृषक, व्यापारी और कर्मचारी लोग रहते हैं। ये सब 'राष्ट्र-पुरुष-शरीर' के विभिन्न अंग हैं। सब मिलकर ही राष्ट्र होते हैं। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अवयव को कष्ट व पीड़ा हो तो सम्पूर्ण शरीर को क्लेश होता है, उसी तरह राष्ट्र में भी इतनी एकता की भावना रहनी चाहिए—यह वैदिक आदर्श है। राष्ट्र के अवयवरूप किसी भी वर्ग को कोई कष्ट हो तो सब राष्ट्र का राष्ट्र दुःखी होना चाहिए और उसकी सहायतार्थ खड़ा होना चाहिए। जैसे एक शरीर में अनेक अवयव पृथक्-पृथक् होने पर भी समस्त शरीर की मिलकर एक संवेदना होती है, एकात्मा होती है—किसी अवयव को दुःख होने पर सब अवयवों को अथवा सम्पूर्ण शरीर को ज्वर होता है, वैसे ही राष्ट्र में एकात्मता होनी चाहिए। इस आधार पर वेद की राष्ट्रीय शासन-व्यवस्था टिकी हुई है। ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' में—जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी को 'विराट्-पुरुष' के विभिन्न अंग बताया गया है—यही एकात्मता की कल्पना प्रकट होती है।

'राष्ट्र का जीवन यदि सुखपूर्ण करने की इच्छा है तो उस राष्ट्र में उत्तम सहकार्य होता रहे ऐसा करना चाहिए। राष्ट्र में जो ज्ञानी हों वे ज्ञान दूसरो को देकर ज्ञानी बनावें जो शूरवीर हैं वे अपने

धान्य को देश-देशान्तर में ले-जाकर व्यापार करें और धन कमाएँ तथा उस धन से नाना प्रकार के कारखाने खड़े करके उपयोगी वस्तुओं को उत्पन्न करें और जनता का सुख बढ़ावें। जो कारीगर हैं वे अपनी कारीगरी से सुख देनेवाले पदार्थ निर्माण करके लोगों का सुख बढ़ाएँ। उनमें दूसरों को लूटकर स्वयं धनी बनने का आसुरी भाव न रहे, परन्तु जनता की सेवा करने का सहकारिता का भाव हो। दूसरों की सहायता करके अपने लिए लाभ प्राप्त करने का भाव हो। जो व्यवहार करे वह लाभ भी लेवे, परन्तु उस लाभ को लेने के लिए विश्वसेवा की मर्यादा हो। राष्ट्र की सुख-सम्पत्तियों की वृद्धि इस तरह के परस्पर सहकार्य पर अवलम्बित है।[1]

'जिन लोगों को राज्य-शासन करना है उनकी संख्या छोटी हो अथवा बड़ी हो, उनमें ज्ञानी, शूर, कृषक और कर्मचारी रहेंगे ही। यह भेद स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं है क्योंकि ये स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं, ये कृत्रिम या बनावटी भेद नहीं हैं। मानव की जन्मतः ज्ञान-प्रवृत्ति या वीरवृत्ति रहती है। यह बदलती भी नहीं। इसीलिए इस प्रवृत्ति को स्वाभाविक तथा नैसर्गिक कहते हैं।

ग्रामाधिकारी ग्राम की जनता के साथ एकात्मता का अनुभव करके अपना कार्य करे। राष्ट्र का शासक राष्ट्र में रहनेवाले सब मानवों की एकता देखे और उसका शासन करे। शासन का क्षेत्र छोटा हो या बड़ा हो, सर्वत्र सब मानवों का मिलकर एक शरीर है—ऐसा भाव मन में रखकर उनका शासन करना चाहिए। ऋषियों के राज्य-शासन में यह मुख्य बात है। राज्य--शासन का अर्थ बाह्य शत्रु से संरक्षण करनेवाली संस्था-मात्र न होकर सब प्रान्तों, सब जातियों और सब वर्गों में उत्तम सहकार्य की स्थायी सुव्यवस्था करना भी है।[2]

और एक सिद्धान्त वेदमन्त्रों ने राष्ट्र के शासन के विषय में कहा है, जो कि सबसे महत्त्व का है। वह सिद्धान्त यह है—'राजा और प्रजा, शासक और शासित, इनमें मुख्यतः किसका किसको आधार है ?' इस विषय में वेद का कहना यह है—

1. सातवलेकर : 'वेद में विविध प्रकार के राज्य-शासन', पृ० 8
2. वही पृ० 7

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽअंगानि सर्वतः॥
....जंघाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि।
विशि राजा प्रतिष्ठितः॥ (यजु० 20.8,9)

राजा कहता है कि—'मेरी पीठ राष्ट्र है, मेरा पेट, कंधे, श्रोणी, जाँघें, घुटने, हाथ आदि सब अवयव मेरे प्रजाजन ही हैं। जंघा और पाँव के रूप से मैं धर्म ही हूँ, अर्थात् धर्म के आधार पर मैं रहा हूँ। इस रीति से प्रजाजनों में राजा प्रतिष्ठित हुआ है अर्थात् प्रजा के आधार से राजा रहता है।'

'**विशः मे अंगानि सर्वतः**'—प्रजाजन ही मेरे शरीर के सब प्रकार के अंग हैं अर्थात् मैं प्रजाजनों से पृथक् नहीं हूँ। प्रजाजन ही मेरा शरीर हैं। प्रजाजन ही मेरे शरीर के अंग और अवयव हैं।

'**विशि राजा प्रतिष्ठितः**'—प्रजाजनों के आधार से राजा रहता है। प्रजाजन ही राजा का सत्ता-आश्रय हैं। प्रजा ही राजा का प्रतिष्ठान अर्थात् आश्रय-स्थान है। राजा न हो तो प्रजा रहती है, पर प्रजा न हो तो राजा का अस्तित्व भी नहीं हो सकता। प्रजा का आश्रय राजा को न मिला तो राजा राजगद्दी पर टिक नहीं सकता—

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे....
प्रति तिष्ठामि यज्ञे। (यजु० 20.10)

'प्रत्येक शौर्य के कार्य में रहता हूँ। प्रत्येक राष्ट्र-रक्षण के कार्य में रहता हूँ। राष्ट्रहित करने के प्रत्येक कार्य में मैं रहता हूँ। प्रत्येक यज्ञ में मैं भाग लेता हूँ।'

राष्ट्र का राजा राष्ट्र-रक्षण के कार्य में, राष्ट्र का हित करने के कार्य में, यज्ञकार्य में अपना जो कर्त्तव्य है वह करता रहे। कभी इसमें प्रमाद न करे, आलस्य से पीछे भी न रहे। जो-जो कार्य राष्ट्र के अभ्युदय के लिए करना आवश्यक है, वह सब कार्य राजा करता रहे। तथा—

लोमानि प्रयतिर्मम त्वङ् मऽ आनतिरागतिः।
माꣳसं मऽ उपनतिर्वस्वस्थि मज्जा मऽआनतिः॥
(यजु० 20.13)

राष्ट्रोद्धार के सब प्रयत्न करना ये मेरे बाल हैं। मेरी नम्रता मेरी त्वचा, मांस, अस्थि और भुजा है। जैसे बाल शरीर से सहज ही

बाहर आकर बढ़ते हैं, वैसे राष्ट्रोद्धार के लिए प्रयत्न सहज ही होते रहने चाहिएँ। इसी तरह राजा तथा राज्य–शासन के अधिकारीजनों में नम्रता रहनी चाहिए। लापरवाही, क्रोध, उद्धतभाव नहीं रहना चाहिए। प्रजा के विषय में विनम्र–भाव धारण करना राजा एवं प्रजा–अधिकारियों को आवश्यक है।

विशो मे अंगानि सर्वतः '—प्रजाजन ही राजा के शरीर के अवयव हैं। यह वैदिक सिद्धान्त स्वीकार करने से राजा और प्रजा की एकता मन में सुस्थिर हो जाती है। जहाँ इस पद्धति का साम्राज्य होगा, वहाँ साम्राज्यवाद से होनेवाले अनर्थ नहीं होंगे—यह तो निःसन्देह हम कह सकते हैं। प्रजाजनों को दुःख हुआ तो वह दुःख राजा को ही हुआ—ऐसा राजा और राज्य–शासक जहाँ समझेंगे, वहाँ राजा तथा राजपुरुषों से प्रजा को कष्ट देनेवाले नहीं होंगे। प्रजा को कष्ट देने का कार्य कदापि नहीं होगा। इस विचार के वायुमण्डल में पला हुआ राजा तथा राजपुरुष, भले ही वे साम्राज्य के हों अथवा दूसरे किसी राज्य के हों, प्रजा को कष्ट देनेवाले नहीं होंगे। प्रजा को कष्ट देने का पाप अपने द्वारा हो, इस विषय में वे सचेत रहेंगे, इसलिए वैदिक समय के राजा के प्रजा का शोषक होने की संभावना नहीं थी।

ऊपर यजुर्वेद के '**पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्**' इत्यादि मन्त्र में—जहाँ कि राष्ट्रभूमि को विराट् पुरुष अपनी पीठ तथा सभी प्रजा को अपने उदर, ग्रीवा, कटि, जंघा, गट्टे आदि अवयव प्रतिपादित करता है—राज्य के आवयविक स्वरूप (Organic Nature of State) के लक्षण प्रकट होते हैं। किन्तु वैदिक आवयविक सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से भी नितान्त भिन्न है। कतिपय पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों—कार्ल ज़करिया (Karl Zacharia); कार्ल वॉल्ग्रफ (Karl Volgraff), कांस्टेंटिन् फ्रैंज (Constantin Franz), जे. के. बलंशली (J.K. Balantschli), हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) आदि—द्वारा राज्य के आवयविक स्वरूप की जो रूपरेखा खींची गई है और जिसमें उसके क्रमिक विकास का वर्णन किया गया है, उसमें और तत्सम्बन्धी वैदिक सिद्धान्त के स्वरूप एवं उसके विकास में समता नहीं की जा सकती। इन दोनों में मूलतः अन्तर है। वैदिक आवयविक सिद्धान्त में एक का अनेक रूप में प्रकट होना (**एकोऽहं बहु स्याम्**) और पुन अनेक का एक

में लय हो जाना, इस सिद्धान्त को अपनाया गया है। परन्तु पाश्चात्य राजनीति के इन चिन्तकों ने राज्य को जीवधारी रचना (Living Organism) माना है। राज्य के विभिन्न विभाग (Departments) इस जीवधारी रचना की कोषिकाएँ (Cells) हैं। ये विभाग राज्य के विकास के साथ-साथ विकसित होते रहते हैं। वेदों में राज्य की उत्पत्ति विराट् पुरुष के कतिपय अंगों अथवा अवयवों में बतलाई गई है। उसके अविशिष्ट अंगों से राज्य के अतिरिक्त जगत् के अन्य प्राणियों एवं पदार्थों की भी उत्पत्ति मानी गई है। इसलिए विराट् पुरुष का विकास राज्यमात्र तक सीमित नहीं है। राज्य उसका आंशिक विकास-मात्र है। विराट् पुरुष सम्पूर्ण जगत् का समष्टिरूप है और महाप्रलय के समाप्त होने पर उसी विराट् पुरुष से विविध प्रकार की सृष्टि का पुनः सर्जन होता है। इस प्रकार यह सृष्टि-रचना का एक सिद्धान्त है जिसमें भारतीय आर्य जनता अनन्त काल से विश्वास करती चली आ रही है। सृष्टि के इसी सर्जन के अन्तर्गत राज्य का भी सर्जन इसी विराट् पुरुष के कतिपय अंगों अथवा अवयवों से हुआ है—वैदिक साहित्य में ऐसा वर्णित है।

'इस प्रकार वैदिक आवयविक सिद्धान्त एक विशेष कल्पना है जिसकी समता, इस रूप में, पाश्चात्य राजशास्त्र के अन्तर्गत वर्णित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से नहीं की जा सकती। वैदिक आवयविक सिद्धान्त अपनी निजी विशेषता के कारण राजनीति के इतिहास में अद्वितीय स्थान ग्रहण किये हुए है और इसी प्रकार अपना निजी अस्तित्व रखे हुए है।'[1]

वेद में वर्णित विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियाँ

ऐतरेय ब्राह्मण में अनेक प्रकार के राज्य-शासन के तन्त्रों का वर्णन है—

> **स्वस्ति। साम्राज्य, भोज्यं, स्वराज्यं, वैराज्यं,**
> **पारमेष्ठ्यं, राज्यं, महाराज्यं, आधिपत्यमयम्।**
> **सामन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष**
> **आन्तादापरार्धात्, पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्॥**

1 डॉ० [illegible] पाण्डेय · 'वेदकालीन राज्य-व्यवस्था'. पृ० 51

अर्थात् (स्वस्ति) सब जनता का कल्याण हो। साम्राज्य, भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, सामन्तपर्यायी पृथक्-पृथक् राज्यशासन के विविध प्रकार हैं। सार्वभौम सम्राट् पूर्ण आयु तक जीवित रहे। समुद्रपर्यन्त पृथिवी का एक राजा हो।

इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में आठ प्रकार के संविधानों का वर्णन आता है। उसमें यह भी बताया गया है कि वे संविधान किन देशों में थे तथा उनके शासकों की पदवियाँ क्या थीं। वहाँ वर्णन आता है कि पूर्व दिशा में प्राच्य जनों के शासक साम्राज्य के लिए अभिषिक्त होते हैं तथा सम्राट् कहलाते हैं। दक्षिण दिशा में सत्वतो के शासक 'भोज्य' के लिए अभिषिक्त होते हैं और 'भोज्य' ही कहलाते हैं। पश्चिम दिशा में नीच्यों और अपाच्यों के शासक 'स्वराज्य' के लिए अभिषिक्त होते हैं और उन्हें 'विराट्' कहा जाता है। उत्तर दिशा में हिमालय के निकट जो उत्तर-पूर्व और उत्तर-भद्र आदि देश हैं उनके शासक 'वैराज्य' के लिए अभिषिक्त होते हैं एवं 'विराट्' कहलाते हैं। मध्य देश में कुरु, पांचाल, सवश, उशीनर आदि के राजा 'राज्य' के लिए अभिषिक्त होते हैं तथा 'राजा' कहलाते हैं। ऊर्ध्व दिशा में जो मरुत् अंगीरस देवता हैं वे पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य, पावश्य आदि के लिए प्रयुक्त होते हैं। इसी संदर्भ में आगे चलकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर शासन करनेवाले सार्वभौम एकराट् शासक का भी वर्णन आता है।

इन आठ प्रकार के शासन-संविधानों की शासन-सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. साम्राज्य

अनेक छोटे-छोटे राज्य एक सम्राट् के शासन में आते हैं और वह उन सब का एक शासक है—ऐसा जहाँ सब मानते हैं वह 'साम्राज्य' कहलाता है। प्राचीन समय में अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए एक सामर्थ्यवान् राजा अपनी सेना के साथ एक घोड़ा छोड़ता था। घोड़े के मस्तक पर एक आदेश-पत्र रहता था। उसमें यह लिखा रहता था कि 'हमारा साम्राज्य-शासन मानो और हमारे हमें कर दे दो अथवा युद्ध करने के लिए तैयार

होकर आ जाओ।' जो छोटे-छोटे राजा उसका साम्राज्य मानते थे, वे उसके माण्डलिक बन जाते थे और जो उसको नहीं मानते थे, वे युद्ध के लिए तैयार हो जाते थे। पराभूत होने पर वे माण्डलिक बन जाते अथवा विजय प्राप्त होने पर वह सम्राट् बनता था। इस तरह यह अश्वमेध करनेवाला यशस्वी होने पर सम्राट् बनता था और अन्य राजा उसके माण्डलिक बन जाते थे। इसलिए कहा है—**राष्ट्रं वा अश्वमेधः।**

अश्वमेध करके सब राजाओं का पराभव करने से साम्राज्य होता है। ये अश्वमेध ऋषि लोग राजाओं से करवाते थे और इस तरह युद्ध होते थे। इन युद्धों में किस तरह नरसंहार और धननाश होता है, यह ऋषियों की आँखों के सामने होनेवाली बात थी। इसीलिए सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक राज्य-शासन स्थापन करने की इच्छा वे करते थे।

2. भोज्य

प्रजाजनों के भोजनादि आवश्यक उपभोगों की सुव्यवस्था जहाँ राज्य-प्रबन्ध द्वारा की जाती है, उस राज्य-शासन का यह नाम है। प्रजाजनों को काम मिले और काम करने पर योग्य दाम मिले तथा उससे उनका योगक्षेम अच्छी तरह चले—ऐसा हो रहा है या नहीं, यह देखना राज्य-शासन का कर्त्तव्य है। मनुष्य को रहने के लिए घर, पहनने के लिए वस्त्र, भोजन के लिए अन्न, पीने के लिए शुद्ध जल, खुली हवा, बीमार होने पर योग्य औषध, अन्दर और बाहर की सुरक्षा, वृद्धावस्था में काम करने की शक्ति न होने पर भी योग्य प्रबन्ध से उसका रहन-सहन सुख से होने का सरकारी उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। यह जिस राज्यशासन-पद्धति से होता है उस पद्धति का नाम 'भोज्य' है।

3. स्वराज्य

बहुपाय्ये स्वराज्ये (ऋग्० 5.66.6) जनपद के अनेक नेताओं अथवा प्रतिनिधियों की अनुमति से जो राज्य-शासन चलाया जाता है, उसे 'स्वराज्य' कहते हैं। यह राज्य-शासन स्वयं प्रजा करती है, अपने प्रतिनिधि वह प्रजा चुनती है। उनकी सभा होती है। वह समिति राज्य के नियम निश्चित करती है और उस तरह जो

राज्य-शासन होता है वह स्वराज्य शासन कहलाता है। यह राज्य-शासन 'बहुपाय्य' ही होना चाहिए। बहु-सम्मति से यहाँ का शासन होना चाहिए।

4. वैराज्य

(वि-राज्यं, वि-राज्, विगत-राजकं) (1) जहाँ एक शासक नहीं होता, कोई शासक अथवा शासक-सभा जहाँ नहीं होती। सब लोग इकट्ठे बैठकर सबकी संगति से जो निर्णय करेंगे उसे उस जाति के लोग मानते हैं। वहाँ कोई शासनकर्ता नहीं होता, सब अपनी जाति का निर्णय मानते हैं। राजा की कल्पना उत्पन्न होने के पूर्वकाल में सब लोग ऐसा ही करते थे। जहाँ राजा उत्पन्न नही हुआ, ग्राम नहीं, शासन-पद्धति नहीं, ऐसी अवस्था का यह वर्णन है, (2) 'विशेष प्रकार का राजा'—ऐसा भी इसका दूसरा अर्थ है।

5. पारमेष्ठ्य

(**परमेष्ठी प्रजापतिः**। अथर्व० 4.11.7; 8.5.10; 9.3.11) परमेष्ठी का अर्थ परमेष्ठ स्थान में रहनेवाला, प्रजा-पालन के श्रेष्ठ कार्य में नियुक्त शासक। प्रजाजनों से नियुक्त होकर यह शासक बनता है और योग्य रीति से कार्य न कर सकने पर शासन के स्थान से निकाला भी जाता है।

6. राज्य

(1) जहाँ राज्य राजा की अपनी निजी सम्पत्ति है—ऐसा माना जाता है। राष्ट्र का यह स्वामी समझा जाता है। यह स्वयं शासक होता है। इसकी आज्ञा प्रजाजनों को माननी पड़ती है। (2) दूसरा भी इसका एक अर्थ है—**राजा प्रकृतिरंजनात् तस्य इदं**—जिसके शासन से प्रजा सन्तुष्ट रहती है—'राम-राज्य' जैसा जिसका राज्य है। यह आदर्श राज्य-शासन है। प्रजा के हित करने के लिए यहाँ का राजा अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार रहता है।

7. महाराज्य

बड़ा राज्य। छोटे-छोटे अनेक प्रदेश पूर्णता से विलीन होकर जो एक राज्य बनता है वह महाराज्य कहलाता है। महाराज्य बनने पर उसमें किसी भी विलीन हुए छोटे राज्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं

रहती। जिस तरह भारत में छः सौ रियासतें विलीन हो गई हैं, जो पहले पृथक्-पृथक् थीं। इनके विलीन होने से अब भारत 'महाराज्य' बन गया है। महाराज्य में विलीन हुए इन राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही है।

8. आधिपत्यमय

अधिपति का अर्थ अधिकारी है। अधिकारी के तन्त्र से जहाँ का राज्य-शासन चलता है। इस राज्य-शासन में अधिकारियों की सम्मति जानी जाती है। प्रजा की सम्मति का कोई मूल्य यहाँ नहीं रहता।

पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के वचन में इतने राज्य-शासनों का वर्णन है।[1] इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के राज्य-शासनों का वर्णन वेदों में है, उनका स्वरूप ऐसा है—

सामन्तपर्यायी—सामन्त का अर्थ है माण्डलिक राजा। इन माण्डलिक राजाओं के अधीन जहाँ का राज्य-शासन रहता है। सम्राट् और माण्डलिक राजा मिलकर जैसा चाहिए वैसा राज्य करते हैं। इस राज्य-शासन में भी सम्मति का कोई मूल्य नहीं रहता है।

जान-राज्य—लोगों का राज्य, प्रजाजनों का राज्य। जो राज्य-शासन प्रजाजनों की सम्मति से प्रजाजनों की भलाई के लिए प्रजाजनों के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है। यहाँ का सब शासनाधिकार प्रजाजनों के अधीन रहता है।

विप्र-राज्य—(1) विशेष ज्ञानी लोग ही जहाँ का राज्य-शासन चलाते हैं, (2) ब्राह्मणों अथवा धर्मगुरुओं के अधीन जहाँ का राज्य-शासन होता है, (3) इसी का अर्थ कुछ काल के पश्चात् 'यज्ञ' ऐसा हुआ था।

समर्य-राज्य—(1) अर्य का अर्थ 'धनपति वैश्य' है। धनपति, पूँजीपति, श्रेष्ठ वैश्यों के हाथों में जहाँ का राज्य-शासन होता है। (2) अथवा श्रेष्ठ समझे जानेवाले भूमि के स्वामी, सम्मान्य कुलों में जन्मे तथा इसी तरह जो जन्म से श्रेष्ठ समझे जाते हैं उनके अधीन जो राज्य-शासन होता है उस राज्य को इस नाम से पुकारते हैं।

---

1 वेद में विविध प्रकार के राज्य शासन (10 13) पृ० 42

अधिराज्य—दूसरे निर्बल छोटे-छोटे राज्य जहाँ रहते हैं और नाममात्र शासन करते हैं, परन्तु उन पर एक बलाढ्य शासक का अधिकार चलता है। यह निकृष्ट शासन है, क्योंकि इस राज्य के अन्तर्गत छोटे राज्यों के शासन में प्रजाजनों के क्लेशों की कोई मर्यादा नहीं होती। यहाँ छोटे शासकों को पूछनेवाला कोई नहीं रहता।

ऊपर अनेक प्रकार के राज्य-शासन बतलाए गए हैं। इन सब प्रकार के राज्य-शासनों से ऋषिगण सुपरिचित थे। इन राज्य-शासनों में कौन-से राज्य-शासन प्रजा का हित करनेवाले हैं और किनसे दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना है, इस विषय का ज्ञान उन ऋषियों को था। उन ऋषियों ने इन सब प्रकार के राज्य-शासनों की परीक्षा जनहित की कसौटी से की थी। उन्होंने 'ज्ञानराज्य' अथवा 'स्वराज्य' नामक राज्य-शासन की व्यवस्था को जनता का हित अधिक कर सकने के कारण निर्धारित किया था। इसलिए उन्होंने ऐसा कहा था—

····वयं च सूरयः। व्यचिष्ठे बहुपाय्ये
यतेमहि स्वराज्ये। (ऋग्० 5.66.6)

'हम सब विद्वान् मिलकर विस्तृत और बहुतों की सम्मति से जहाँ का राज्य-शासन चलाया जाता है, उस स्वराज्य में जनता की भलाई के लिए अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा करेंगे।'

वेद में प्रजा द्वारा प्रजापति के चुनाव का निर्देश बहुत स्थानों पर प्राप्त होता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा है "हे राजन्! सब प्रजाएँ राज्य करने के लिए तुम्हारा चुनाव करें। सारी प्रजाएँ मिलकर, हे राजन्! तुम्हारा चुनाव करें। सब प्रजाएँ राज्य के लिए तुम्हें पसन्द करें। हे अग्नि जैसे तेजस्वी राजन्! राष्ट्र के ये सब ब्राह्मण लोग तुम्हारा चुनाव कर रहे हैं।" वेद में इस प्रकार के और भी अनेक स्थल हैं जहाँ राजा के चुनाव का स्पष्ट निर्देश है। ऋग्वेद में एक स्थल पर तो यहाँ तक कह दिया कि तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः
सदांसि। अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वां
अपि (ऋग्० 3 38 6)

"तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम, राज्य-प्रबन्ध के लिए एक 'आर्य राजसभा' जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य ही सिद्ध किये जावें; दूसरी 'आर्य विद्यासभा' जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाए; तीसरी 'आर्य धर्मसभा' जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से अर्थात् युद्ध में **'पुरूणि परिविश्वानि भूषथः'**—सब शत्रुओं को जीतकर नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिए।[1]

वेद में राज्याभिषेक के प्रसंग में कहा गया है : "हे राष्ट्र के अध्यक्ष! मैं आपको इस राजगद्दी पर लाया हूँ। अब अन्दर जाओ, स्थिर रहो, चंचल मत होओ, सब दिशाओं में रहनेवाले प्रजाजन इस राजपद पर तुम्हें रखने की इच्छा करें, यह राष्ट्र तुझसे अध:पतित न हो। यह राष्ट्र तुझसे दूर या पृथक् न बने।"[2] "तुझे राज्य से पदच्युत होने का अवसर प्राप्त न हो। राजगद्दी पर स्थिर रहकर अर्थात् स्थान-भ्रष्ट न होते हुए तू शत्रुओं का पूर्ण नाश कर; शत्रु के समान आचरण करनेवाले सब व्यक्तियों को नीचे गिरा दे। सब दिशाओं मे रहनेवाले प्रजाजन एक मत से आगे होकर तुझे ही राज्य पर रखने की अनुमति दें। यह राष्ट्र-समिति तुझे ही राजगद्दी रखने के लिए अनुमति दे। इस तरह का उत्तम प्रजाहितकारी राज्य-शासन तू कर। इसमें प्रमाद न होने दे। यदि यह राष्ट्र-समिति तेरे अनुकूल रहेगी और तुझे ही राष्ट्र पर रखने की इच्छा करेगी तो तेरी स्थिति इस राजपद पर रहेगी, नहीं तो तेरे स्थान-भ्रष्ट होने में कोई देरी नहीं लगेगी।"[3] ये मन्त्र राज्याभिषेक समारम्भ में बोले जाते थे। इनसे ये बातें स्पष्ट होती हैं—

---

1 स्वामी दयानन्द : 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', पृ० 238

2. **आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।**
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥ —(ऋग्० 10.173 1)

3. **ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून्**
शत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः
ध्रुवाय ते समिति कल्पतामिह (अथर्व० 6 88.3)

सेनानी, पुरोहित, क्षत्र (राजसत्ता का प्रतिनिधि), महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत् (अन्तःपुराध्यक्ष), संगृहीत (कोषाध्यक्ष), भागदुह (कर आदि से सम्बन्धित विभाग का अध्यक्ष), अक्षावाप (आय-व्यय लेखाध्यक्ष) और गौविकर्तृ (वनाध्यक्ष)। ये रत्नी, जिनका वर्णन यजुर्वेद तथा पंचविंश आदि ब्राह्मण में भी आता है, वैदिककालीन शासन-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करते होंगे। वे मन्त्रिमण्डल के सदस्य अथवा राज्य के उच्च कर्मचारी होते थे। राज्याभिषेक के अवसर पर इनको जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था, उससे स्पष्ट होता है कि राज्य-व्यवस्था में उनका स्थान अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण था। नये राजा के मानस पर राज्याभिषेक के अवसर पर यही तथ्य अंकित किया जाता था। कदाचित् उनकी नियुक्ति तत्कालीन समिति के सदस्यों में से की जाती होगी।

समिति के परामर्शों की अवहेलना करने पर राजा को अविलम्ब पदच्युत किया जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] मे प्रजापति-वध की एक कथा आती है जिसमें कहा गया है कि प्रजापति की एक पुत्री थी। प्रजापति उस पुत्री से बलात्कार करने की इच्छा करने लगा। सब देवों ने तय किया कि प्रजापति का यह कार्य पापकर्म है, अतः प्रजापति का वध करना चाहिए। प्रश्न उठा कि कौन इस कार्य को करेगा? कोई भी अकेला देव प्रजापति का वध करने में समर्थ नहीं था। अन्ततः देवों ने अपने में जो शक्तिमान् थे उनको इकट्ठा किया और उनका एक संघ बनाया। उस संघ को देवों ने कहा : यह प्रजापति अकर्त्तव्य कर्म करने लगा है, अत· हे संघ! तू इसका वध कर। देवों की आज्ञा होते ही उस संघ ने

---

1. **प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैच्छन् य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविन्दंस्तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ताः संभूता एष देवोऽभवत् तदस्यैतद् भूतवन्नाम, इति**
तं देवा अब्रुवन्नयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्येति स तथेत्यब्रवीत्।
एतरेय ब्रा० 3 33)

प्रजापति का वध किया।

यह वृत्तान्त थोड़े अन्तर के साथ शतपथ ब्राह्मण[1] में भी आया है। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में यह कल्पना की गई है कि प्रजापति की पुत्री द्यु अथवा उषा है तथा सूर्य प्रजापति है, जो कि अपनी पुत्री उषा के पीछे सम्भोग की इच्छा से भागता है। किन्तु वस्तुतः प्रजापति-वध की इस कथा के प्रतीक के सम्बन्ध में ब्राह्मण को भ्रम हुआ है। एक वेदमन्त्र में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि प्रजापति की पुत्रियाँ **'सभा'** और **'समिति'** हैं।[2] ये दोनों सभाएँ राजा की आज्ञा से बनती हैं, इसलिए ये राजा की पुत्रियाँ हैं। किन्तु उन पर बलात्कार करना राजा के लिए उचित नहीं है। इन दोनों सभाओं को अपने मत-प्रदर्शन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि कोई राजा अपनी शक्ति का उपयोग करके सभा और समिति से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कराए तो ऐसे राजा की निन्दा ही सब प्रजाजन करेंगे। किसी राजा ने अपने अधिकार का दबाव ग्रामसभा पर या समिति पर डाला और इस प्रकार इन सभाओं पर बलात्कार किया। उस समय जन-नेताओं को प्रजापति का वह कार्य पसन्द नहीं आया। अतः उन नेताओं ने अपने में से जो वीर लोग थे उनको संगठित किया और प्रजापति का वध करवाया।

इस प्रजापति का वध करके उन लोक-नेताओं ने क्या किया? इसकी सूचना हमें ऋग्वेद में प्राप्त होती है। वहाँ बताया गया है कि 'प्रजापति ने जब अपनी सभा और समिति इन दो पुत्रियों पर बलात्कार किया अर्थात् अपने अधिकार का दबाव इन लोक-सभाओं पर डाला, तब राष्ट्र की जनता के साथ जो उसका संघर्ष हुआ उस संघर्ष में उसका वीर्य गिर गया अर्थात् उसका सब बल नष्ट हो गया। इसके पश्चात् स्वाध्यायशील ज्ञानी लोगों ने नया विचार प्रकट किया और नई घोषणा की और नियम पालन करनेवाले नये राजा का निर्णय किया अर्थात् राज-पद पर नये

---

1. शत० ब्रा० 1.7.4
2. **सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।**
   येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥
   (अथर्व० 7 12 1

व्यक्ति का चुनाव करके राजगद्दी पर अभिषिक्त किया।'[1]

यहाँ स्पष्ट कहा है—'**व्रतपां वास्तोष्पतिं निरतक्षन्**' अर्थात् व्रतों का पालन करनेवाले व्यक्ति को अध्यक्ष बनाया। इस नये अध्यक्ष का विशेष गुण यह है कि वह नियमों का पालन करनेवाला है। जो मारा गया वह व्रत का भंग करनेवाला था। व्रत-भंग करनेवाले का वध किया गया और उसके स्थान पर व्रतपालक को सर्वसम्मति से राजगद्दी पर बिठाया गया। अतः वेद में स्पष्ट कहा है '**विशि राजा प्रतिष्ठितः।**' (यजु० 20.9), अर्थात् प्रजा में ही राजा प्रतिष्ठित है। तथा—'**ते विशि क्षेमम् अदीधरन्**' (अथर्व० 3.3.5) अर्थात् राष्ट्र और राजा का क्षेम इसी विविधरूपा प्रजा में निहित है। प्रजा को भयमुक्त करना, कृषि-विकास एवं उसकी समृद्धि, भौतिक सुख-साधनों की अभिवृद्धि, सार्वजनिक कल्याण के कार्य, ज्ञान-प्रसार का कार्य आदि कर्त्तव्यों का उत्तरदायित्व राजा पर रहता था।[2]

अनेक वैदिक विद्वानों का विचार है कि वेदकालीन आर्य विभिन्न जातियों या कबीलों में बँटे हुए थे।[3] उनके विचार में संहिताओं में यत्र-तत्र अनेक जातिवाचक नाम निर्दिष्ट हैं, किन्तु वस्तुतः वेद में जातिगत भावना के लिए कोई स्थान ही नहीं है; वहाँ तो समाज एक जीवित मानव-समुदाय के रूप में माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र राष्ट्र-पुरुष के विभिन्न अंग हैं। वेद में आर्य शब्द जातिवाचक नहीं, अपितु गुणवाचक है। इसका विवेचन हम पीछे कर आए हैं। वेद का तो सन्देश है—'**कृण्वन्तो विश्वमार्यम् अपघ्नन्तो अराव्णः**'। (ऋग्० 9.63.5) इस प्रकार वेद तो समस्त विश्व को आर्य बनाने का सन्देश देता है।

---

1. **पिता यत्स्वा दुहितरमधिष्कन्,**
   क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
   स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा,
   वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥ —(ऋग्० 10.61 7)
2. डॉ० श्यामलाल पाण्डेय : 'वेदकालीन राज्य-व्यवस्था', पृ० 88-95
3. 'Vedic Age' (Bharatiya Vidya Bhawan), p. 245-250;
   A. C. Das : 'Rigvedic Culture', p. 45, 352-367;
   A.A. Macdonell : A History of Sanskrit Literature, p. 153-155

ऋग्वेद में **'पंचजना'**[1] **'पंचकृष्टयः'**[2] **'पंचचर्षणयः'**[3] **'पंचक्षितयः'**[4] आदि शब्द बार-बार आए हैं। इतिहास के विद्वान् इन शब्दों का अर्थ पाँच जातियाँ या कबीले करते हैं तथा यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु व पुरु को उनसे सम्बन्धित करते हैं। किन्तु पंचजनाः आदि का यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, उसका साधारण अर्थ ही लिया जाना चाहिए—पाँच व्यवसायों के लोग। वेद में तो हर व्यवसाय और हर वर्ग के व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त है। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा है—'हे राजन्! राष्ट्र के जो धीवर लोग हैं, जो रथकार लोग हैं, जो लोहे का काम करनेवाले है, जो बुद्धिजीवी लोग हैं, जो रथ और गाड़ियाँ चलानेवाले लोग हैं और जो गौओं को चरानेवाले किसान या उनके मुखिया लोग हैं, वे सब तुम्हारे चुनाव के लिए अपना मत दे रहे हैं।''[5]

इस प्रकार वेद में पूर्ण रूप से लोकतान्त्रिक शासन-पद्धति का समर्थन किया गया है। अनेक प्रसंगों में राजा और ईश्वर के संश्लिष्ट वर्णनों से राजा के ऐश्वर्य और प्रभुता आदि का परिचय प्राप्त होता है। किन्तु राजा का यह सर्वोपरि महत्त्व उसके ऊँचे चरित्र, असाधारण गुणों और व्रत-पालन आदि के कारण ही था। व्रत-भंग करने का अथवा अनुचित स्वेच्छाचारिता पर प्रजा अथवा प्रजा के प्रतिनिधि अर्थात् सभा व समिति के लोग राजा को सहसा पदच्युत करने का अधिकार रखते थे। वस्तुतः वैदिक शासन-व्यवस्था में राजा को यह नैतिक आधार प्रदान किया जाता था कि वह सब प्रजाओं को अपने विभिन्न अवयवों की भाँति ही अनुभव करे—**'विशो मे सर्वतोऽङ्गानि'**। ऐसी अनुभूति करनेवाले व्यक्ति के लिए राजपद भोगविलास की वस्तु नहीं, अपितु त्याग और तपस्या की वस्तु बन जाती है। राष्ट्र के प्रत्येक मानव के दुःख-दर्द

---

1. ऋग्० 3-59-8, 8-32-22, 9-65-23, 10-45-6
2. 2-2-10, 3-53-16, ४-३८-१०, १०-६०-४, १०-११९-६
3. 5-86-2, 7-15-2, 9-101-9
4. 1-7-9, 1-176-3, 5-35-2, 6-46-7, 7-75-4, 7-79-1
5. **ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।""सूता ग्रामण्यश्च ये॥**

(अथर्व० 3 5 6 7)

और चिन्ताएँ प्रजा के पितृभूत उस राजा की अपनी चिन्ताएँ बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में वह राजा किसी भय व आशंका से नहीं, प्रत्युत कर्त्तव्यनिष्ठा से राष्ट्र-सेवा में तत्पर हो जाता है। मानवमात्र की सेवा में ही वह जीवन की कृतकृत्यता अनुभव करता है।

वेदों के अनुसार राजा एवं अन्य राज्याधिकारियों को ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक स्नातक विद्वान् होना चाहिए।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

(अथर्व० 11.5.16, 17)

'आचार्य' अर्थात् शिक्षक और प्राध्यापक तथा शिक्षा-विभाग के अधिकारी वे ही हों जो ब्रह्मचर्य-पालन करके स्नातक बने हैं तथा 'प्रजापति' अर्थात् प्रजा के पालन के कार्य में नियुक्त किये शासनाधिकारी भी ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक स्नातक बने हुए ही हो। इस तरह के संयमी, ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक विद्याव्रत स्नातक बने हुए विद्वान् यदि प्रजापालन के कार्य के लिए नियुक्त किये गए, तो ही वे (विराजति) अपने अधिकार के क्षेत्र में अच्छी प्रकार से शोभते हैं। वे अपना नियत कर्त्तव्य उत्तम रीति से करेंगे और उनसे वह कार्य निर्दोष रीति से हो सकेगा।

इस तरह बने हुए प्राध्यापकों और अधिकारियों में जो (वशी) अपनी सब इन्द्रियों को अपने वश में रखकर अपना कार्य निर्दोष करनेवाला होगा वही (इन्द्रः **अभवत्**) राष्ट्र का अधिपति—राष्ट्राध्यक्ष होगा। ब्रह्मचर्यरूप तप से राजा राष्ट्र का उत्तम संरक्षण कर सकता है। आचार्य भी स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करता है और अपने पास अध्ययन करने के लिए आनेवाले ब्रह्मचारी भी वैसे ही ब्रह्मचर्य का पालन करें, ऐसी इच्छा वह करता है।

राष्ट्र की शिक्षा के विभाग में ब्रह्मचर्य का पालन करके विद्वान् बने हुए स्नातक ही नियुक्त किये जाएँ और राष्ट्र के शासन-कार्य के लिए भी ब्रह्मचर्य पालन करके विद्वान् तथा सुशील बने स्नातक ही नियुक्त किये जाएँ। इससे राज्य-शासन निर्दोष होगा और प्रजा का सुख बढेगा

राष्ट्र के शासनक्षेत्र में किसी भी स्थान पर असंयमी अविद्वान् कदापि नियुक्त न किया जावे। असंयमी मनुष्य की इन्द्रियाँ उसके अधीन नहीं होतीं, इस कारण वह लोभ-मोह में फँसता है और रिश्वतखोरी, कपट, ढोंग, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, काला बाजार करता है और इस कारण ऐसे अधिकारी से प्रजा को बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसलिए राष्ट्र-शासन के किसी भी पद पर कार्य करनेवाला जो अधिकारी नियत किया जावे, वह ब्रह्मचर्यपालन करके स्नातक बना संयमी ही अधिकारी हो। असंयमी, दुराचारी किसी भी परिस्थिति में नियुक्त न किया जावे। इन मन्त्रों का यह आदेश सब राज्य-शासनों के लिए हितकारी ही सिद्ध होगा—इसमें सन्देह नहीं है।

ब्रह्मचर्यरूपी तप से पवित्र तथा संयमी बने पुरुष यदि राज्य-शासन के अधिकारी बनें तो वे अपना कर्त्तव्य उत्तम रीति से करेंगे जिससे प्रजा को सुख प्राप्त हो सकेगा। यदि असंयमी, दुराचारी अधिकारी नियुक्त हुए तो वैसा सुख कदापि होना संभव नहीं है।

ग्रामसभा के सभासद चुनना हो, राष्ट्र समिति के सदस्य पसंद करना हो, राष्ट्र के शासनाधिकारी नियुक्त करना हो अथवा शिक्षाक्षेत्र में प्राध्यापक नियत करना हो, सर्वत्र संयमी, वशी, इन्द्रियनिग्रही विद्वानों की ही नियुक्ति होनी चाहिए। यह कसौटी कितनी उत्तम है, इसका अधिक स्पष्टीकरण करने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

स्वराज्य के अधिकारी तथा संसद् के सदस्य : 'बहुपाय्य स्वराज्य' की राष्ट्रीय संसद् के सदस्यों के गुण ब्रह्मचर्य-पालन के साथ-साथ और भी होने चाहियें—ऐसा बहुपाय्य स्वराज्य के मन्त्र में कहा है। (**ईयचक्षसः**) व्यापक दृष्टि जिनकी है, (**मित्रः**) जो मित्रवत् व्यवहार करनेवाले हैं और जो (**सूरयः**) ज्ञानी हैं, विद्वान् हैं, शास्त्र पर टीका लिखने का जिनका अधिकार है, ऐसे व्यक्ति राष्ट्रीय संसद् के सदस्य हों। ऐसा बहुपाय्य स्वराज्य के घोषणा मन्त्र में कहा है—

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥ (ऋग्० 5.66.6)

'(**ईयचक्षसा**) विस्तृत दृष्टिवाले मित्रवत् व्यवहार करनेवाले

तथा ज्ञानी ऐसे सदस्य राष्ट्र की संसद् में हों और वे मिलकर बहुतों द्वारा जिसका पालन होता है, ऐसे विस्तृत स्वराज्य-शासन में जनता की उन्नति के लिए शासन करने का (**आयतेमहि**) प्रयत्न करें।'

आयु की मर्यादा की ही योग्यता : आज के अपने राष्ट्र के संविधान के अनुसार जो मनुष्य 21 वर्षों की आयु का हुआ है, वह मताधिकारी तथा संसद् का सदस्य होने योग्य है, ऐसा माना गया है। यदि वह अपने अनुकूल बहुमति प्राप्त कर सकेगा तो वह मन्त्री-पद पर भी चढ़ सकता है। क्या आयु की यही कसौटी पर्याप्त है? विद्या, सदाचार और मनःसंयम की कसौटी होगी, तो कितना अच्छा होगा? यही सदाचार की कसौटी ऋषिकाल के स्वराज्य-शासन मे थी। वह उत्तम थी—ऐसा आज हम कह सकते हैं। आज भी वह अनुकरणीय है, इसमें सन्देह नहीं है। अपना आज का स्वराज्य-शासन निर्दोष और सुखदायक करने की इच्छा है तो अपने को आज संयमी तथा कार्यक्षम पुरुष स्वराज्य-शासन चलाने के लिए मिले, ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है।

ऐसे गुणी, त्यागी एवं तपस्वी व्यक्ति को अपनी प्रजा से उतना ही सम्मान, श्रद्धा और अधिकार भी प्राप्त होना अत्यन्त स्वाभाविक है। वाजसनेयी यजुर्वेद में '**राजा मे प्राणः**' (20.5) ऐसा कहा गया है। यह प्राणरूप राजा इतर गौण प्राणों को शरीर के विभागों का कार्य करने की आज्ञा करता है।

प्रश्नोपनिषद् में प्राणों के अधिकार बताने के लिए अधिकारियों को अधिकार-स्थान पर रखने का यही रूपक दिया है। वह ऐसा है—

यथा सम्राडेव अधिकृतान् विनियुङ्क्ते,
एतान् ग्रामान्, एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्वेति,
एवमेव एष प्राणः इतरान् प्राणान्
पृथक् पृथगेव संनिधत्ते। (प्रश्न उ० 3.4)

'जिस तरह सम्राट् अधिकारियों की नियुक्ति करने के समय कहता है कि तू इन ग्रामों पर और तू उन ग्रामों पर शासन का कार्य कर और तदनुरूप वे अधिकारी अपने-अपने नियत स्थान पर कार्य करने लगते हैं, उसी तरह मुख्य प्राणों की आज्ञा के अनुसार अन्य प्राण शरीर के विभिन्न भागो मे रहते और अपना अपना वहाँ

का कार्य करने लगते हैं।'

यहाँ मुख्य प्राण सम्राट् और अन्य प्राण प्रान्त के अधिकारी हैं। सम्राट् का आदेश जैसा राज्य में चलता है वैसा ही मुख्य प्राण का आदेश अन्य प्राणों पर चलता है।

शरीरस्थ प्राणों का वर्णन अध्यात्म वर्णन है, इसी के समान राष्ट्र के सम्राट् का वर्णन है। इस तरह अध्यात्म के वर्णन के साथ राष्ट्र-व्यवहार का अथवा मानवी व्यवहार का सादृश्य है।

यहाँ राजा और उसके शासनाधिकारी का वर्णन है। पर यहाँ राज्य-शासन में दूसरे भी स्वयंसेवक होते हैं। इनका वर्णन हम बृहदारण्यकोपनिषद् में देखते हैं—

प्रजापतिः ह कर्माणि ससृजे। तानि सृष्टानि
अन्योन्येनास्पर्धन्त।
....तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा उपयेमे।....श्राम्यत्येव वाक्,
श्राम्यति चक्षुः। अथ इमं एव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः
प्राणः....
अयं वै नः श्रेष्ठः यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथते अथो
न रिष्यति। (बृ० उ० 1.5.21)

"प्रजापति ने अपने पालन के कार्य के सम्बन्ध में अनेक कर्म उत्पन्न किये और उन पर अधिकारियों को नियुक्त किया। उनमें आपस में स्पर्धा होने लगी।....उनके पीछे मृत्यु श्रमरूप से लगा। ....इसलिए वाणी थक जाती है, चक्षु थकता है। पर मुख्य प्राण को उस श्रमरूपी मृत्यु से कुछ भी नहीं हुआ। इसलिए यह प्राण अन्दर और बाहर संचार करता हुआ भी थकता नहीं।"

आँख, नाक, कान, मुख, हाथ, पाँव आदि इन्द्रियाँ थोड़ा कार्य करने पर थकती हैं। विश्राम लिये बिना वे पुनः कार्य नहीं कर सकतीं। परन्तु प्राण कैसा है, देखिये। यह जन्म से मृत्यु तक विश्राम न लेता हुआ कार्य करता है, पर थकता नहीं और विश्राम भी नहीं लेता। इस प्रकार इन्द्रियों से प्राण श्रेष्ठ है।

इन्द्रियों को भोग चाहिए, विश्राम चाहिए, नहीं तो वे इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकतीं। ऐसा प्राण का नहीं है। प्राण शरीर के रक्षणार्थ अन्दर और बाहर संचार करने का कार्य सतत करता रहता है पर वह कभी थकता नहीं कभी विश्राम भी नहीं करता। यह

अपने शरीररूपी राष्ट्र के संरक्षण करने का कार्य सतत करता रहता है। इसलिए शरीररूपी राष्ट्र के लिए प्राण की सेवा की अत्यन्त आवश्यकता है।

शरीररूपी राष्ट्र में इन्द्रियाँ वैतनिक सेवक हैं और प्राण अवैतनिक स्वयंसेवक। शरीर-स्वास्थ्य की दृष्टि से इन्द्रियों की सेवा की अपेक्षा प्राण की सेवा का महत्त्व बहुत ही अधिक है। राष्ट्र-सेवा में भी इसी तरह वैतनिक सेवकों की अपेक्षा अवैतनिक स्वयंसेवक अधिक महत्त्व का कार्य करते हैं। अध्यात्म के सिद्धान्त इस तरह राष्ट्र के शासन में परिवर्तित होते हैं—यह बात यहाँ स्पष्ट हो गई। इन्द्रियों के भोग भोगनेवाले सेवक हैं और प्राण किसी प्रकार भोग न लेते हुए निष्काम सेवा करते रहते हैं। इस कारण इनकी योग्यता अधिक है।

वैतनिक सेवकों की अपेक्षा ये अवैतनिक स्वयंसेवक बड़ा ही महत्त्व का कार्य करते हैं। इनकी इस निष्काम राष्ट्र-सेवा से ही यह शरीररूपी राष्ट्र जीवित रहता है। शरीररूपी पिंड में जो व्यापार हैं उसे जानकर राष्ट्र में भी वैसा ही व्यवहार है, ऐसा जानना चाहिए।

राजा परमात्मा का अंश माना जाता था। इस सिद्धान्त की चर्चा शतपथ ब्राह्मण[1] में आती है जहाँ राजा को प्रजापति कहा गया है, क्योंकि उसके अधीन कितने ही व्यक्ति रहते हैं। उक्त ग्रन्थ में 'चक्रवर्तिन्' शब्द के चक्र को विष्णु के चक्र से सम्बन्धित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[2] में राज्याभिषेक के मन्त्रों में अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, बृहस्पति आदि देवताओं से राजा के शरीर में प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है।

मनु जी ने भी कहा है कि राजा नररूप में देवता ही है।[3] राजा को देवता का अंश मानने का यह अर्थ कदापि नहीं था कि वह जो चाहे, उसे कर सकता था। जो राजा प्रजा-पालन आदि कर्त्तव्यों को अच्छी तरह निबाहता था उसीको देवता कहलाने का अधिकार था,

1. 5.15.14
2. 8.2.6
3. '**महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।**' —(मनुस्मृति 7 8)

अन्य को नहीं। जो राजा प्रजा को सताता था, उसे तो महाभारत ने कुत्ते के समान मार डालने का आदेश दिया है।[1]

राजपद के विकास में राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, सर्वमेध आदि यज्ञ भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। राजाओं को इन सब यज्ञों के द्वारा अपनी वीरता, त्याग व तप का परिचय देना पड़ता था, तब कहीं उन्हें **'मूर्धाभिषिक्त'** या **'चक्रवर्ती'** की पदवी से विभूषित किया जाता था।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि राजसूय करने पर ही राजा यथार्थ में राजा बनता है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रकरण में दर्शाया गया है कि क्षत्रिय राजा अभिषिक्त होने पर तथा अपने पुरोहित को समुचित आदर प्रदान कर सुकृत, आयु, प्रजा, इष्टापूर्त आदि को सफलतापूर्वक प्राप्त होता है।

वैदिक शासन–व्यवस्था की इकाई ग्राम था। ग्राम बहुत–से परिवारों व कुलों से मिलकर बनता था। ग्राम का प्रमुख अधिकारी **'ग्रामणी'** था। उसका चुनाव होता था। नागरिक व सैनिक उत्तरदायित्व से सम्बन्धित कार्यों में वही ग्राम का मुखिया था।[3] ग्रामीण जनता की रक्षा करना, उनको संगठित रखना, ग्राम में शान्ति व व्यवस्था रखना आदि उसके महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य थे। ग्राम के भूमि–सम्बन्धी एवं अन्य झगड़ों का न्याय भी उसी का कार्य था। अपनी भूमि आदि की व्यवस्था तथा अन्य कार्यों में प्रत्येक ग्राम को पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त था। ग्रामणी की सहायता के लिए ग्रामसभा रहती थी, जिसमें कदाचिद् ग्रामणी का चुनाव भी होता था। केन्द्रीय शासन, जिसका नेतृत्व राजा किया करता था, ग्रामणी द्वारा ग्राम से अपना सम्पर्क स्थापित करता था। राजा के सामने ग्रामणी ही ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था। राजा साधारणतया ग्राम की व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। सत्ता का विकेन्द्रीकरण वैदिक शासन–व्यवस्था का मूल मन्त्र था। इस प्रकार ग्राम की शासन–व्यवस्था का उत्तरदायित्व ग्रामसभा व ग्रामणी पर ही रहता था।

---

1. महाभारत, अनुशासनपर्व 61.32, 33
2. **राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।** —(शत० 5-1-1-12)
3. Macdone & A B Keith Vedic Index, Vol I p 246

बहुत-से ग्रामों के समुदाय से **विश** बनता था।[1] विश शब्द जन-साधारण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। विश के सर्वोपरि अधिकारी को कदाचित् विशपति कहते थे। वैदिक युग के पश्चात् '**विशापति**' शब्द राजा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। विशपति के अधिकार भी ग्रामणियों के अधिकारों के समान ही थे। उसका मुख्य कर्त्तव्य विश के अन्तर्गत ग्रामों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित व सुरक्षित रखना था।

विभिन्न विशों के समुदाय को '**जन**' कहते थे। जन का प्रधान '**राजा**' था, जिसका प्रायः चुनाव होता था। वेद में वरुण को बार-बार राजा कहकर सम्बोधित किया गया है। वस्तुतः जिस प्रकार नैतिक जगत् में वरुण की सर्वोपरि सत्ता थी—वही नैतिक नियमो का नियामक था, उसके गुप्तचर सर्वत्र वर्तमान थे, जिनकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता था। उसके बन्धन (पाश) पापी व अत्याचारियों के लिए सर्वथा शक्तिशाली थे[2], ठीक उसी प्रकार भौतिक व राजनीतिक जगत् में राजा का हाल था। राजा के अधीन जन जिस देश-विदेश में रहते थे, वह **जनपद** कहलाता था। ऐतरेय[3] ब्राह्मण में जनपद शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

ब्रह्म और क्षत्र के सहयोग से राष्ट्र की उन्नति

उपर्युक्त विवेचन से वेदकालीन राज्य-व्यवस्था में राज्य के चार तत्त्वों का विश्लेषण सरलता से किया जा सकता है। वैदिक राज्य का **प्रथम तत्त्व है राष्ट्र**। संहिताओं में राष्ट्र शब्द का प्रयोग भूभाग के लिए किया गया है। उत्तम राष्ट्र के विशेष लक्षणों के संकेत भी वेद में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। वेद में राज्य का दूसरा तत्त्व है—'**विशः**' जोकि राष्ट्रवासियों का बोधक है। राष्ट्र के ये निवासी कृषि, पशुपालन, वाणिज्य-व्यापार, लेन-देन, शिक्षा आदि की व्यवस्था करते थे तथा राज्य की जनता (People) माने गए थे। इस

---

1 Macdonell & A.B Keith : Vedic Index, Vol. 1, p. 247
A.C. Das : Rigvedic Culture, p.111

2 ऋग्० 1.25.1-21

3 8.3.14

प्रकार राष्ट्र और विश वैदिक राज्य के तत्त्वों में परिगणित हैं। वैदिक साहित्य में राज्य का तीसरा तत्त्व '**क्षत्र**' व '**राजन्य**' नाम से वर्णित है। सम्पूर्ण राज्य की रक्षा के सामर्थ्य के गुण को '**क्षत्र**' कहा गया है। यह कार्य राजन्य-वर्ग पर था। वही वैध शासनाधिकारी था। अत: राजन्य व क्षत्र ही वैदिक साहित्य में राज्य की सरकार और उसकी राजनीतिक एकता का सूत्र था।

परन्तु वैदिक ऋषियों ने इस बात का भी ध्यान रखा था कि राजन्य वर्ग स्वच्छन्द रहकर मर्यादा का अतिक्रमण कर सकता है और ऐसा हो जाने पर राज्य-स्थापना का उद्देश्य ही नष्ट हो सकता है। इसलिए राजन्य को मर्यादित एवं नियन्त्रित करने के लिए एक विशेष शक्ति की आवश्यकता अनुभव की गई। यही शक्ति वैदिक भाषा में ब्रह्मबल के नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मण का प्रधान कर्त्तव्य तप और त्याग द्वारा ब्रह्मबल का अर्जन करना तथा उसके द्वारा प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त क्षत्र वा राजन्य का मार्गदर्शन करना एवं उसे नियन्त्रण में रखना था। वेद में सदाचारी, वीतराग, प्राणिमात्र का कल्याण चाहनेवाले, त्यागी, तपस्वी ब्राह्मण को ही ब्रह्मबल धारण करने का अधिकारी बतलाया गया है। ब्राह्मण प्राणिमात्र के कल्याण तथा उसके सुख और शान्ति के लिए जीवन-सम्बन्धी योजना का निर्माण कर उसको लोक के समक्ष प्रस्तुत करता है। ब्रह्मबल वस्तुत: वह सद्बुद्धि है जो मनुष्यमात्र के कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करती है और इस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा देती है।

इस प्रकार ब्रह्मबल मनुष्य को इस लोक में सुख और शान्तिमय जीवन की योजना प्रस्तुत करता हुआ उसे जीवन के परम ध्येय तक पहुँचाता है। किन्तु ब्रह्मबल की ओर से प्रस्तुत की जानेवाली लोक-कल्याणदायिनी योजनाओं को कार्यरूप देने के लिए, मनुष्य की आसुरी वृत्तियों को नियमित कर उसे कर्त्तव्य-पथ पर चलने को बाध्य करने के लिए क्षत्रबल की भी उतनी ही आवश्यकता वैदिक ऋषियों ने समझी। ब्रह्मबल की भाँति यह बल भी समाज के एक विशेष वर्ग में ही निहित माना गया। इसके अधिकारी केवल वही लोग माने गए जो शूर हों, त्यागी-तपस्वी हों, लोकरक्षा एवं में अपने जीवन की आहुति प्रदान करने

में सक्षम हों। इस प्रकार ब्रह्म मानव-समाज में सुख और शान्ति की स्थापना के लिए सम्यक् व्यवस्था का स्वरूप प्रस्तुत करता है और क्षत्र इस व्यवस्था को कार्य में परिणत करने के लिए भरसक प्रयत्न करता रहता है। दोनों पारस्परिक सहयोग द्वारा मनुष्य एवं मानव-समाज का कल्याण करने में सतत व्यस्त रहते हैं। अतएव यजुर्वेद में उस लोक को पुण्यवान् बतलाया गया है जहाँ ब्रह्म और क्षत्र में परस्पर सुमति रहती है और दोनों परस्पर सहयोग से रहते हैं, एक दूसरे के पूरक बनकर विचरण करते हैं—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेयं यत्र देवाः सहाग्निना॥

(यजु० 20.25)

भाव यही है कि जिस देश के ज्ञानी और शूर एक मत से अपनी मातृभूमि की सेवा करने के लिए तैयार हैं, आपस में झगड़ते नहीं, सब प्रजाजनों के सम्मिलित रूप को ही 'राष्ट्र-पुरुष' मानकर उसकी सेवा को अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वही पुण्य देश होता है और वही रहने के लिए योग्य देश समझा जाता है। 'ब्रह्म' की सहायता के बिना मनुष्य चक्षुहीन पुरुष के समान पथभ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है। दूसरी ओर 'क्षत्र' मनुष्य और उसके गन्तव्य स्थान के मार्ग में उपस्थित विघ्न-बाधाओं का शमन करता है और उसके मार्ग को प्रशस्त बना देता है। इस प्रकार ब्रह्म और क्षत्र दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव है।

वैदिक ऋषि एवं पुरोहित इस विश्व को प्रभु का रूप मानते थे, अतः वे इसका त्याग नहीं, अपितु सेवा करना अपना धर्म समझते थे। इस प्रकार वैदिक ऋषियों का धर्म 'विश्व-त्याग' नहीं, अपितु 'विश्व-सेवा' था। अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मज्ञानी ऋषियों ने जगत् के प्रारम्भ में समस्त जनता का कल्याण करने की इच्छा से ही तप किया और उसी से राष्ट्र का निर्माण हुआ—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः,
तपो दीक्षामुपनिषेदुग्रे।
....ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु॥ (अथर्व० 19.41 1)

वस्तुतः वैदिक ऋषि केवल पूजा-पाठ में निमग्न न रहकर सार्वजनिक हित की साधना करने के लिए राष्ट्रीय गतिविधियाँ करते थे। वैदिक प्रणाली के अनुसार पुरोहित के कर्त्तव्यों में सेना-निरीक्षण तथा शस्त्रास्त्र-संयोजन भी कार्य गिनाए हैं। अथर्ववेद में वसिष्ठ अपने कर्त्तव्यों का वर्णन करता हुआ कहता है कि "जिनका मैं विजय प्राप्त करा देनेवाला पुरोहित हूँ, उनके विजय के लिए मेरा यह ज्ञान-बल अत्यन्त प्रभावशाली है तथा इस ज्ञान से उनका वीर्य और बल भी अतितीक्ष्ण होकर कभी क्षीण न हो।"[1] "जो हमारे उदार-हृदय विद्वान् पर सेना से हमला करते हैं उन शत्रुओं को मैं अपने ज्ञान के बल से की हुई योजना से क्षीण करता हूँ और अपने पक्ष के लोगों को उठाता हूँ।"[2]

"जिनका मैं पुरोहित हूँ उनके शस्त्र-अस्त्र परशु से अधिक काटनेवाले और अग्नि से भी अधिक जलानेवाले तथा इन्द्र के वज्र से भी अधिक मारक बना देता हूँ।"[2] इस प्रकार राजपुरोहित होने पर ऋषिगण अपने ज्ञान से राजा की सेना तथा उसके सब संरक्षण दल तथा उसके संरक्षण के सब साधन अच्छी अवस्था में रखने का यत्न दक्षता से करते थे। वे अपने ज्ञान-बल से सुरक्षा का ऐसा सुप्रबन्ध करते थे कि जिससे शत्रु प्रतिदिन निर्बल होते जाएँ और राष्ट्र के नागरिक उत्कर्ष को प्राप्त करें। इसी प्रसंग में एक बहुत व्यंजनापूर्ण बात भी की गई है—

'**अनेन हविषा शत्रूणां बाहून् अहं वृश्चामि।**' इस हवि से शत्रुओं के बाहुओं को मैं तोड़ देता हूँ। पुरोहित हवन करके राष्ट्र की जनता को तथा राजा और संरक्षक सैनिकों को राष्ट्रहित करने के लिए आत्मसमर्पण करने की शिक्षा देता है। जिस तरह हवन में डाली हुई आहुति पूर्णतया समर्पित होती है, इसी तरह सब लोग

---

1. **संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।**
   संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥ —(अथर्व० 3.19 1)
2. **नीचः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।**
   क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥ —(अथर्व० 3.19 3)
3. **तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।**
   इन्द्रस्य वज्रातीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥ —(अथर्व० 3.19 4)

राष्ट्र के हित-सम्पादन के लिए अपना कर्त्तव्य पूर्णरूप से करने को तैयार होंगे, तो ही राष्ट्र का अभ्युदय होगा। यह भाव राष्ट्र के नागरिकों में संचारित कर पुरोहित राष्ट्र में नवजीवन का संचार कर राष्ट्र के ओज, वीर्य और बल को बढ़ाता है। इससे शत्रु का बल आदि मन्द पड़ जाता है—मानो शत्रु के बाहु ही कट गए। तभी तो मनु ने कहा है—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

(12.100)

अर्थात् 'सेनापति का कार्य, राज्य-शासन का कार्य, दण्ड देने का अर्थात् न्याय-व्यवस्था करने का कार्य तथा सब लोगों के अधिकारी होने का कार्य वेदशास्त्र जाननेवाला कर सकता है।'

वैदिक शासन-तन्त्र में राज्य का संचालन एवं सुरक्षा-पद्धति

राज्य के संगठन एवं सुचारु रूप से संचालन के लिए 'कोश' परमोपयोगी पदार्थ है। वैदिक ऋषियों ने इसकी महती आवश्यकता एवं उपयोगिता को भली-भाँति समझ लिया था। राजकोश के संचय के दो मुख्य साधन थे—प्रजा से प्राप्त कर तथा शत्रु-राज्यों पर विजय से हस्तगत हुआ धन-धान्य। संहिताओं और ब्राह्मणों में 'बलि' नामक कर इकट्ठा करने के स्पष्ट निर्देश प्राप्त होते हैं। संहिताओं में प्रयुक्त शुल्क शब्द भी एक विशेष प्रकार के कर का वाचक प्रतीत होता है।

इस प्रकार वैदिक राजा की आय का एक प्रधान साधन अपने अधीन प्रजा से करों के रूप में प्राप्त धन-धान्य व अन्य सामग्री थी, जिसे वह राज्य के संगठन, संचालन अथवा आवश्यकता पड़ने पर युद्ध आदि पर व्यय करने का अधिकार रखता था।[1] वेद में **'भागधुग्'**, **'संगृहीता'** तथा **'गणक'** शब्द राजकोश-संचय-अधिकारियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[2]

---

1. वेदकालीन राज्य-व्यवस्था : पृ० 128-131
2. (क) वही पृ० 133 134
(ख) Dr Kashi Prasad Jaiswal Hindu Polity (sec ed.) p 202

सभा और समिति

वैदिक शासन–तन्त्र में राजनीतिक सिद्धान्तों एवं उनके व्यावहारिक रूप का अध्ययन एवं नियमन करने के लिए 'सभा' और 'समिति' नामक संस्थाओं का विकास किया गया था। वैदिक राजनीतिक संस्थाओं में सभा का प्रमुख स्थान था। यह उनकी राष्ट्रीय संस्था था। सभा की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी। इसके लिए सभासद को यज्ञ अर्थात् लोकोपकारी कार्य सम्पन्न कर यशस्वी बनना, भद्रभाषी होना, वर्चस्वी तथा ज्ञानवान् होना परमावश्यक था।[1] सभा का सदस्य चाहे जिस वर्ण, रंग, आकृति आदि का पुरुष क्यों न हो, तुरन्त सभा का सदस्य होने के नाते सभा में बैठने के लिए उसे समान आसन ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था।[2] इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक सभा जनतान्त्रिक सभा थी।

सभा के सदस्यों को सभा में स्वतन्त्रतापूर्वक मत–प्रकाशन का विशेषाधिकार प्राप्त था।[3] सभापति का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित समझा जाता था।[4] सभा की बैठकें इसी सभापति की अध्यक्षता में होती थीं। सभा का प्रधान कार्य विवादग्रस्त विषयों पर विचार करना एवं तदनुसार निर्णय देना था। यजुर्वेद के एक मन्त्र से पता चलता है कि मनुष्य धर्म–निर्णय अर्थात् न्याय–प्राप्ति हेतु सभा में उपस्थित होता था।[5] सभा के सदस्य दूसरों के अधिकार पर आक्रमण करनेवालों के विरुद्ध निर्णय देते थे। इस प्रकार सभा एक प्रकार का न्यायालय थी। उसका प्रधान कार्य धर्म–निर्णय अथवा न्याय–वितरण करना था।

अथर्ववेद के एक प्रसंग में सभा की कार्य–प्रणाली का अनुमान किया जा सकता है।[6] वहाँ सभा के वर्णन से ऐसा अनुमान होता है कि वादी अपने वाद को सभा के समक्ष प्रस्तुत कर प्रार्थना करता था कि सभा के सदस्य पिता के समान पुत्रवत् उसकी रक्षा करें। इसी प्रसंग में सभा के सदस्यों के लिए सर्वसम्मति की प्राप्ति

---

1. ऋग्० 10.71.10; 6.28.6; 3.13.7 इत्यादि।
2. ऋग्० 3.13.7
3. अथर्व० 3.13.3
4. यजु० 24 16
5. यजु० 18 30
6. अथर्व० 7 12 3 4

के लिए भी प्रार्थना की गई है।[1] इस प्रार्थना से स्पष्ट है कि सभा मे इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि उसके द्वारा दिये गए निर्णय सर्वसम्मति से हों। सभा की कार्यवाही सभा के सभापति के नियन्त्रण में सम्पन्न होती थी। इस प्रकार सभा का संचालन निश्चित नियमों के अनुसार सभापति के अनुशासन में होता था।

समिति

अथर्ववेद में 'समिति' को सभा की यमज भगिनी और प्रजापति की दुहिता बतलाकर सम्बोधित किया गया है।[2] वैदिक ऋषियों ने समिति का महत्त्वपूर्ण और सक्रिय उपयोगी संस्था के रूप में वर्णन किया है।[3] समिति का अभाव अथवा उसका निष्क्रिय हो जाना लोक में महान् अनर्थ समझा जाता था। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा है कि राष्ट्र में जहाँ ब्रह्म-हत्या होती है····समिति वहाँ कार्य नहीं करती।[4] समिति आर्यों की सार्वजनिक संस्था थी जिसमें राज्य के लगभग सभी वयस्क निवासी एकत्र होकर सार्वजनिक जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान कर लेने के अधिकारी थे। इस प्रकार सभा और समिति के संगठन में सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह था कि सभा की सदस्यता का अधिकार केवल उन पुरुषों को प्राप्त था जो राज्य में विशिष्ट गुणयुक्त पुरुष थे। किन्तु समिति की सदस्यता के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। राष्ट्र के लगभग सभी निवासी समिति में बैठ सकते थे और उसकी कार्यवाही में भाग लेने के अधिकारी थे।

ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि उनकी समिति में ऐकमत्य हो, समिति के सदस्यों के चित्त, उनके मन और उनके मन्त्र (समिति द्वारा निर्णीत की गई नीति) एवं मन्त्र-निर्णय की उनकी प्रक्रिया मे ऐकमत्य रहे।[5] इस प्रकार सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित समस्याएँ समाधान के लिए समिति के समक्ष प्रस्तुत की जाती थीं। समिति में

---

1. अथर्व० 7.12.2
2. अथर्व० 7.12.1
3. ऋग्० 6.17.10; 6.75.9 इत्यादि।
4. अथर्व० 5.19.15
5. **समानो मन्त्र समिति समानी**···· (ऋग्० 10 91 3

इन समस्याओं पर गम्भीर विवेचना की जाती थी और उनके समाधान के लिए वाद-विवाद भी होते थे। इन वाद-विवादों एवं गहन विवेचनों के उपरान्त समिति द्वारा उन पर अन्तिम निर्णय दिया जाता था जो समयानुसार यथासंभव कार्यान्वित होता था।

ऊपर हम जनता द्वारा राजा के वरण की बात कह आए हैं। यह कार्य संभवतः समिति में ही सम्पादित किया जाता होगा। वेदों में निष्कासित राजा की पुनः स्थापना के प्रसंगों से प्रकट होता है कि समिति निष्कासित राजा की पुनः स्थापना करने की भी अधिकारिणी होती थी। इस प्रकार समिति प्रभुता-सम्पन्न (Sovereign) संस्था थी। इसके अतिरिक्त राज्य की नीति निर्धारित करना समिति का प्रधान कर्त्तव्य था। राष्ट्रवासियों के कल्याण के लिए प्रस्तुत की गई योजनाओं पर विवेचनात्मक प्रणाली से विचार कर उन्हें स्वीकार करना या अस्वीकार करना आदि कार्य समिति के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत समझे जाते थे।

विदथ

वैदिक साहित्य में वर्णित सार्वजनिक संस्थाओं में 'विदथ' भी महत्त्वपूर्ण संस्था थी। वह सभा और समिति से पृथक् थी। यह भी उक्त दो संस्थाओं की भाँति सार्वजनिक संस्था थी जो विद्या, ज्ञान और यज्ञों से विशेष सम्बन्ध रखती थी। इस दृष्टि से विदथ को विद्वत्परिषद् माना जा सकता है। वैदिक यज्ञों से इसका विशेष सम्बन्ध था। विद्वान् ब्राह्मण ही इसके सदस्य होते थे, किन्तु विदथ के सार्वजनिक उत्सवों में सार्वजनिक जनता भी उपस्थित हो सकती थी और उसमें होनेवाली धार्मिक चर्चाओं एवं धार्मिक कृत्यों से लाभ उठा सकती थी। विदथ वह संस्था थी जिसमें ब्रह्म, जीव, आत्मा, प्राण, मन, प्रकृति आदि से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान किया जाता था। विदथ में इन विषयों पर प्रवचन, वाद-विवाद एव परस्पर विचार-विनिमय आदि का आयोजन किया जाता था।

दूत और चर-व्यवस्था

ऋग्वेद में अश्विनों को दूत के समान यशस्वी कहा है—**दूतेव हि ष्ठो यशसा जनेषु** (ऋग्० 10.106.2)। इससे प्रकट होता है कि वैदिक साहित्य में दूत-पद एक प्रतिष्ठित पद माना जाता था। प्रायः

अग्नि को प्रजा द्वारा वरण किया हुआ दूत कहा गया है—**अग्ने दूतो विशामसि** (ऋग्० 1.36.5)। 'अग्नि'-पद अग्रणी मेधावी विप्रों का वाचक है। दूतकार्य के लिए विशेष प्रतिभा-सम्पन्न अगुआ व्यक्ति ही उपयुक्त समझा जाता था। इस प्रकार वैदिक शासन-व्यवस्था में दूत-व्यवस्था को भी आवश्यक और उपयोगी समझा गया था। ऋग्वेद का सरमा-पणि-संवाद बहुत प्रसिद्ध है। सरमा को इन्द्र की दूती कहा गया है। वेद में इन्द्र शब्द राजा-वाचक भी है। यहाँ एक बात और महत्त्व की है कि वैदिक शासन-व्यवस्था मे लिग-भेद का कोई स्थान नहीं। पुरुष के समान नारी भी दूत-पद पर नियुक्त की जा सकती है। दूत को मित्र, वरुण और अर्यमा के समान माना गया है। भाव यह है कि दूत मित्रदेव के समान प्राणिमात्र का हितैषी, वरुण के समान उदार और अर्यमा के समान न्यायकारी होना चाहिए। '**दूतो न गन्त्वश्विना हुवध्यै**' (ऋग्० 5.43.8) इस मन्त्र के अनुसार सन्देश वहन करने और उसके प्रस्तुत करने में विलम्ब न करना दूत का विशेष गुण है। इस प्रकार '**अतन्द्रो दूतो यजथाय देवान्**' (ऋग्० 7.10.5) से दूत के लिए तन्द्रारहित होने के गुण का बोध होता है। एक अन्य मन्त्र में दूत के श्रेष्ठ लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं—दूत श्रेष्ठ एवं बलवान् पुरुष होना चाहिए। उसे यथोक्तवादी तथा भ्रातातुल्य सहायक होना चाहिए। दूत निन्दारहित पुरुष तथा श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न व्यक्ति होना चाहिए—

किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आ जगन् किमीयते दूत्यं
कद् यदूचिम। न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने
भ्रातर्द्रुण इद् भूतिमूदिम॥ (ऋग्० 1.161.1)

इस प्रकार वेद में दूत को ऊँचे आचरणवान् कुलवाला, भव्य व्यक्तित्व-सम्पन्न तथा यथोक्तवादिता में कुशल, शीघ्र कार्य करने की क्षमतावाला और तन्द्रा व आलस्यरहित होना आदि गुणों से युक्त बताया गया है।

वेद में चर एवं स्पश का भी वर्णन हुआ है। वरुणदेव के चर लोक में सर्वत्र भ्रमण कर प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों को देखते हुए उनका पूर्ण ब्यौरा अपने स्वामी को देते थे। वरुण राजा है। इस प्रकार वैदिक राजा अपने अधीन प्रजा के सुख दु ख एव शुभाशुभ

कार्यों को जानने के लिए चर रखते थे। चर हर समय अपने कर्त्तव्य-पालन में व्यस्त रहते थे। यम-यमी सूक्त में यम यमी को कहता है—देवों के स्पश प्रत्येक स्थान पर हर समय भ्रमण करते रहते हैं। वे प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते रहते हैं और तदनुसार उनकी सूचना अपने स्वामी तक पहुँचाते हैं। अपने इस कर्त्तव्य-पालन में वे लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करते। इस प्रकार प्राप्त सूचना के अनुसार प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें फल मिला करते हैं—

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते
देवानां स्पश इह ये चरन्ति।

(ऋग्० 10.10.8)

वैदिक सैन्य-व्यवस्था

वेद असत् पर सत् की विजय के लिए युद्ध का सन्देश देता है। इन्द्र-वृत्र युद्ध इसी बात की प्रतीक है। इन्द्र-वृत्र के भयंकर युद्धों का वर्णन कर वेद ने उन्हें स्वयं माया कह दिया—"**माया इत् सा ते यानि युद्धान्याहुः।**" पाप की पराजय और पुण्य की विजय मानवता की महती पोषिका है। वैदिक सैन्य-व्यवस्था का चित्र हम मरुत सूक्तों में देख सकते हैं। यथा—

शूरा इवेद् युयुधयो न जग्मयः
श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः
राजान इव त्वेषसंदृशो नरः॥

(ऋग्० 1.85.8)

"शूरों के समान युद्ध करनेवाले, योद्धाओं के समान शत्रु पर आक्रमण करनेवाले, यशस्वी वीरों के समान सैन्यों में पुरुषार्थ का यत्न करते हैं। इन वीरों को देखकर सब भुवन—सब प्राणी भयभीत होते हैं, ये राजाओं के समान तेजस्वी दीखते हैं।" यहाँ वीर पुरुषों की सेना का स्पष्ट निर्देश किया गया है।

इसी प्रकार—

मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळहा।
मरुद्भिरित् सनिता (ऋग्० 7 56 23)

"वीरों के साथ रहनेवाला वीर सेनाओं में उग्र शूरवीर होता है और शत्रु का पराभव करनेवाला होता है।" सेना के साथ रहने से साधारण मनुष्य भी उग्र शूरवीर बनकर शत्रु का पराभव करनेवाला बन जाता है—यह सैन्य-अनुशासन का प्रभाव है। सेना में रहने से वीरों की संरक्षण-शक्ति कम नहीं होती, अपितु बढ़ती है—**न हि व ऊतिः पृतनासु मर्धति** (ऋग्० 7.59.4)। वीरों का बल सेनाओं में अथवा सेनाओं के संघर्षों में बड़ा उग्र दीखता है—

मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम्। (अथर्व० 4.27.7)

उपर्युक्त मन्त्रों से यह बात स्पष्ट होती है कि अकेला वीर जितना पराक्रम कर सकता है, उससे कहीं अधिक वीरता वह सेना में रहकर कर सकता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर मरुतों को सम्बोधित करके कहा गया है—"हे मरुतो! यह जो शत्रु की सेना बड़े जोर से स्पर्धा करती हुई हमारे ऊपर आक्रमण करने आ रही है, उस सेना को अपव्रत-तमसास्त्र से बींधो और उस शत्रु-सेना में से एक वीर दूसरे को पहचान न सके, ऐसा कर दो।"—

असौ या सेना मरुतः परेषाम्,
अस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन
यथैषामन्यो अन्यं न जानात्। (अथर्व० 3.2.6)

यहाँ तमसास्त्र से शत्रु-सेना में गड़बड़ी मचा देने की चर्चा है। इसी प्रकार—

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा। (अथर्व० 3.1.6)

शत्रु-सेना को मोहित करना आदि बातों का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। सैनिक सुन्दर वर्ण, विशाल बलशाली शरीर, सुरक्षा करने में कुशल, शत्रुनाश में समर्थ, उग्र तथा अपने आन्तरिक तेज से तेजस्वी विविध क्रीड़ाओं में प्रवीण होने चाहियें। यह बात निम्नलिखित मन्त्रों में कही गई है—

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः। (ऋग्० 1.19.5)
सत्वानो ... घोरवर्पसः। (ऋग्० 1.64.2)
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। (ऋग्० 10.180.2)
ये ... अजायन्त स्वभानवः। (ऋग्० 1.37.2)
शिशूला न क्रीळय सुमातर (ऋग्० 10 78 6)

ये सैनिक सदा गणवेष में रहनेवाले तथा स्त्रियों के समान सज-धजकर रहनेवाले, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहनेवाले हैं।

गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिः। (ऋग्० 1.85 3)

यहाँ 'अञ्जि' पद गणवेष का वाचक है।

प्र ये शुम्भन्ते जन्यो न सप्तयः। (ऋग्० 1.85 1)
स्वायुधास इष्मिणः सुनिष्काः। (ऋग्० 7.56.11)
स्वः क्षत्रेभिस्तन्वः शुम्भमानाः। (ऋग्० 1.165.5)

इन वीर सैनिकों के अस्त्र-शस्त्रों तथा गणवेष का वर्णन निम्नलिखित मन्त्रों में बहुत सुन्दरता से हुआ है—

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः
सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः
स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥
ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि
सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम्।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो
विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे॥

(ऋग्० 5.57.2, 6)

"बर्छियाँ धारण करनेवाले, भाले धारण करनेवाले, उत्तम धनुष धारण करनेवाले, बाण और तर्कश रखनेवाले, उत्तम रथ में बैठनेवाले, उत्तम घोड़े अपने पास रखनेवाले, मातृभूमि की उपासना करनेवाले आप वीर मन को अपने अधीन रखनेवाले हैं—ऐसे आप शुभ कर्म करने के लिए आगे बढ़ो।"

आपके कंधों पर भाले हैं, आपके बाहुओं में बल, सामर्थ्य और ओज है, आपके सिर पर साफे हैं (**नृम्णा हिरण्ययानि पदोष्णीषादीनि इति सायणः**), रथों में आयुध रखे हैं। सब शोभा इनके शरीरों में चमकती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वैदिक ऋषि-काल में सैन्य था, सेना में वीरों की भरती होती थी; उन सब का मिलकर एक गण-वेष था, सबके अस्त्र-शस्त्र समान थे। सैन्य की रचना के विषय में भी कुछ संकेत संहिताओं में प्राप्त किये जा सकते हैं यथा

शृणवत् सुदानवस् त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः।
(अथर्व० 13.1.3)
सप्त मे सप्त शाकिनः। (ऋग्० 5.52.17)
प्र ये शुंभन्ते जनयो न सप्तयः। (ऋग्० 1.85.1)

इन मन्त्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सैनिक सात-सात की कतार में रहते थे '**त्रिसप्तासः**' में सात की तीन कतारों का उल्लेख है। 'सप्त मे सप्त' में सात-सात सैनिकों की सात पंक्तियों अर्थात् उनचास सैनिकों का वर्णन है। ब्राह्मण-ग्रंथों में स्पष्ट कहा गया है कि ये मरुत् वीर गणशः रहते हैं और सात-सात के संघ में रहते हैं—

गणशो हि मरुतः। (ताण्ड्य ब्रा० 19.14.2)
सप्तगणा वै मरुतः। (तै० ब्रा० 1.6.2.3)
सप्त सप्त हि मारुतो गणाः।
(यजु० 17.80; शत० ब्रा० 9.3.1.25)

एक अन्य मन्त्र में सेना के विभागों की चर्चा प्रतीत होती है—

शर्धं शर्धं व एषां व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः।
अनु क्रामेम धीतिभिः॥ (ऋ० 5.53.11)

यहाँ शर्ध, व्रात और गण इन सेना-विभागों का उल्लेख है। ये सैन्य के छोटे-बड़े विभाग होंगे, पर वे सब सात की संख्या से विभाजित करने योग्य रहते होंगे।

इस प्रकार वेद में राष्ट्र की रक्षा तथा पीड़ितों के त्राण के लिए युद्ध और सैन्य की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गई है। सेनाध्यक्ष का युद्ध-कार्य जिस वृत्ति के द्वारा प्रवृत्त होता है उसे वेद ने 'मन्यु' संज्ञा दी है। राष्ट्र को संकटों से दूर करनेवाले वीरों के मन्यु के सम्मुख राष्ट्रवासी नतमस्तक हो जाते हैं—

नमस्ते रुद्र मन्यवऽउतोतऽइषवे नमः।
बाहुभ्यामुत ते नमः॥ (यजु० 16.1)

इन्द्र, रुद्र आदि शब्द वेद में युद्ध की प्रतीक शाश्वत शक्तियों के सूचक हैं तथा मानवक्षेत्र में भयंकर बली, योद्धा, वीर आदि के वाचक भी हैं। उपर्युक्त मन्त्र में मन्युस्वरूप, दुष्ट जनों को रुलानेवाले सेनापति, उसके युद्ध, साधनभूत अस्त्र-शस्त्रों तथा उसकी और उसकी सेना की वीर भुजाओं को नमस्कार किया गया

है। वेद में शत्रुओं के विनाशार्थ अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग का विधान तथा अस्त्र-शस्त्रों की विपुलता के लिए प्रार्थना की गई है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है—"हे ऐश्वर्यशाली सेनापते! तेरे हाथ में जो बाण हैं उनको धनुष के पूर्वापर किनारों की प्रत्यंचा मे जोड़कर शत्रुओं पर तू बल के साथ छोड़, और जो तेरे पर शत्रुओं के बाण छोड़े हुए हों, उनको दूर कर।"[1] वेद में बाण शब्द बाणवाची भी है तथा इससे विभिन्न प्रक्षेपणास्त्रों का भी बोध होता है एवं कोई भी प्रक्षेपण-साधन-यन्त्र 'धनुष' पद का वाच्य हो सकता है। क्योंकि सैकड़ों बाणों, गोलियों आदि को फेंकनेवाले—**शतधन्वा**—(यजु० 16.29) धनुषों का भी निर्देश वेद में मिलता है। स्वयंचालित—**स्वसिच**—(यजु० 10.19) प्रक्षेपास्त्रों का भी निर्देश बहुत हुआ है। इसी प्रकार उपरिलिखित मन्त्र में शत्रुओं द्वारा छोड़े गए बाणों को विफल कर देने का संकेत भी युद्ध-विद्या मे अति महत्त्वपूर्ण बात है।

यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि "धनुर्विद्या से हम उत्तरोत्तर पृथिवियों को जीतें, धनुर्विद्या से हम विविध मार्गों को जीतें और धनुर्विद्या से तीव्र वेगवाली शत्रु-सेना को जीतें। धनुर्विद्या से शत्रु की सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, अतः इसके आश्रय से समस्त दिशाओं को जीतें।"[2] एक अन्य मन्त्र में तूणीर की स्तुति की गई है तथा इसे बाणों का पितृवत् रक्षक कहा है।[3] यहाँ भी वस्तुत· **'इषुधिः'** शब्द से व्यंजना हुई है कि प्रक्षेपणीय अस्त्रों का उत्तम संग्रह करना चाहिए। **'इषु'** शब्द की व्युत्पत्ति है—**'इष्यते हिंस्यतेऽनेन'** इति। अथवा, इष् धातु गमनार्थक भी है। इस प्रकार समस्त प्रक्षेपणास्त्र इषु हैं।

---

1. **प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।**
   याश्च ते हस्तऽइषवः परा ता भगवो वप॥ —(यजु० 16 9)
2. **धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।**
   धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥
   —(यजु० 29.39)
3. **बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।**
   इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥
   (यजु० 29 42)

सेना के कतिपय विभागों का निर्देश वेद में इस प्रकार हुआ है—

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो
नमो रथिभ्योऽअरथेभ्यश्च
वो नमो नम क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो
नमो महद्भ्योऽ अर्भकेभ्यश्च वो नमः ॥

(यजु० 16.26)

यहाँ सेना, सेनापति, रथ-संरक्षक, रथ-अधिष्ठाता एवं संचालक-वर्ग के प्रति सत्कार प्रकट किया गया है। इसी प्रकार "**नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय च**" (यजु० 16.29) में '**गिरिशयाय**' पर्वतीय सेना का वाचक है। शिपिविष्ट सेना का वह अंग है जो सेना के पशुओं की रक्षा एवं देखभाल करता है, तथा मीढुष्टम सेना का वह अंग है जो सेना को साधन, सामग्री आदि पहुँचाने में सदा सचेत रहता है। इसी प्रकार वेद में स्थान-स्थान पर भू सेना[1], भूगर्भ सेना[2], मार्ग एवं अन्नादि रक्षक सेना[3], विविध स्थान स्थित सेना[4], वर्षण-शील द्युसेना[5], वात-विज्ञान युक्त सेना[6], आदि तरह-तरह की सेनाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

वेद में अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त युद्ध में ऐसी वस्तुओं के प्रयोग का भी विधान है जो शत्रु-सेना में मूर्छा फैला दें, उनके अंगों को जकड़ लें अथवा उन्हें भस्म ही कर डालें। ऐसी ही एक शक्ति या अस्त्र का नाम 'अप्वा' है। अप्वा को संबोधित करके कहा गया है—"हे अप्वे! तू शत्रु-सेना के चित्त को मोहग्रस्त करती हुई उनके अंगों को जकड़ ले तथा (जब तक उनके अंगों को जकड़कर

---

1. असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधिभूम्याम्।
   तेषाꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥ —(यजु० 16.54)
2. नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाऽअधः क्षमाचराः। —(यजु० 16.57)
3. येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। —(यजु० 16.62)
4. यऽएतावन्तश्च भूयाꣳसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे। —(यजु० 16.63)
5. नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः। —(यजु० 16.64)
6. नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः। —(यजु० 16.65)

निष्क्रिय न कर दे तब तक) वहीं दूर रह, पुनः वहाँ से अन्य सेना पर जाकर अपना प्रभाव दिखा और उन शत्रुओं को अच्छी तरह भस्म कर दे ताकि शत्रुजन अपने हृदयों में शोकों से गाढ़ अन्धकार-युक्त हो जावें।[1]

सेनाओं के पृथक्-पृथक् संगठनों के ध्वजों का भी वेद मे संकेत किया गया है।[2] इसी प्रकार सेनानायक एवं रक्षकों का एक प्रकार का क्रम भी वहाँ वर्णित है।[3] रक्षण-साधनों में कवच की महिमा भी वहाँ गाई गई है[4], तथा शरीर में रक्षण के लिए विभिन्न प्रकार के कवचों का वर्णन भी आया है—

नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च।
(यजु० 16.35)

इस मन्त्र में बिल्म, कवच, वर्म तथा वरूथ शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये सभी अंगों की रक्षा के साधन हैं। इनमें '**बिल्म**' एक प्रकार का शिरस्त्राण है। '**कवच**' से शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की रक्षा होती है। लौहमय शरीर-रक्षक आवरण '**वर्म**' कहलाता है तथा रथादि की रक्षा के लिए लोहमय कोष्ठ '**वरूथी**' के अन्तर्गत आता है।[5]

वेद में कितने ही अस्त्र-शस्त्रों के नाम आए हैं। अकेले वज्र के ही अनेक प्रकार वहाँ वर्णित हैं। वज्र वहाँ शस्त्ररूप भी है तथा अस्त्ररूप भी। वज्र के कुछ भेद इस प्रकार हैं—

---

1. **अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।**
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥
—(यजु० 17.44)
2. **अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं याऽइषवस्ता जयन्तु।**
अस्माकं वीराऽउत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवाऽ अवता हवेषु॥ —(यजु० 17.43)
3. **इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽएतु सोमः।**
देवसेनानामभि भञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ —(यजु० 17.40)
4. **जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।**
अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु॥ —(यजु० 29.38)
5. पं० वीरसेन वेदश्रमी : 'वैदिक सम्पदा', पृ० 305

वज्रहस्त (यजु० 10.22)—यह एक सामान्य वज्र है जो हाथ से ही प्रयोग किया जाता है।

शतपर्वा वज्र—वज्रेण शतपर्वणा (यजु० 33.96) यह चक्राकार सौ व शताधिक शरों से युक्त शस्त्र होगा अथवा ऐसा अस्त्र होगा जो फूटने पर सैकड़ों संहारक पदार्थों को प्रसारित कर दे।

तिग्मतेजा (यजु० 1.24)—तेजोमय वज्र जो अपनी रश्मियों से नष्ट करने की सामर्थ्यवाला हो। यह संभवतः गैसों का बना होता होगा।

हेति (यजु० 16.11)—यह भी हस्त-संचालित वज्र का एक प्रकार है—**या ते हेतिर्मीढुष्टम् हस्ते बभूव ते धनुः।**

प्रहेतिः (यजु० 15.16)—हेति तथा प्रहेति के प्रतीकारक तत्त्वों का भी वेद में निर्देश है—**अग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ता** (15.10), **वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता** (15.12) इत्यादि।

त्रिषंधि वज्र (अथर्व० 11.10.2)—तीन संधियोंवाला वज्र।

विकंकतीमुखा वज्र (अथर्व० 11.10.3)—लंबे, कँटीले मुखवाले वज्र।

धूमाक्षी वज्र (अथर्व० 11.10.7)—वे वज्र जिनके द्वारा अंधकार फैल जाता है अथवा जिनके धूम्र के प्रभाव से शत्रु की दर्शन-शक्ति जाती रहती है।

अग्निजिह्वा वज्र (अथर्व० 11.9.19)—इनके प्रयोग से भयानक अग्नि लगकर शत्रु-सेना व उनके सामान का विनाश हो जाता है।

कृधुकर्णी वज्र (अथर्व० 11.10.7)—सम्मोहन करनेवाला वज्र।

सके अतिरिक्त **अयोमुख वज्र** (अथर्व० 11.10.3) **सूचीमुखा** मथर्व० 11.10.3) आदि-आदि वज्र वेद में वर्णित हैं। इसी वेद में अनेक प्रकार के पाशों का भी वर्णन है, यथा— T (अथर्व० 11.10.22), **कवचपाश** (अथर्व० 11.10.22), **ाश** (यजु० 17.44) आदि। पार्थिव आयुधों का भी वेद ने न किया है—**क्षुर** (अथर्व० 8.2.17), **सृक** (यजु० 18.71), यजु० 18 71) **असि** (यजु० 16.22), **निषंग** (यजु० 16.61),

पिनाक (यजु० 3.61), **शल्य** (यजु० 16.13) इत्यादि।[1]

यजुर्वेद 15.8 में प्रतिपद, अनुपद, संपद शब्द क्रमशः एक-एक कदम, एक के पीछे एक कदम, सबके साथ-साथ कदम—इस प्रकार सैन्य-शिक्षण के द्योतक हैं। यजुर्वेद 15.9 में **त्रिवृत, प्रवृत, सवृत, विवृत** आदि पद अनेक प्रकार के चक्रव्यूह आदि के बोधक हैं।

वेद में **शकट, विमान, चित्ररथ, देवरथ, वायुरथ, विद्युद्रथ, प्रतिरथ, वरूथी, सुपर्ण, श्येन, गरुत्मान्** आदि अनेक प्रकार के वाहन, यान, विमान आदि का वर्णन है। उनका सैन्य एवं युद्ध में पर्याप्त उपयोग होता था।[3]

वेदों में वर्णित युद्ध-कला एवं सैन्य-व्यवस्था आदि के विषय में निश्चय ही बहुत-कुछ लिखा जा सकता है। वस्तुतः इस विषय पर गंभीर अनुसन्धान अपेक्षित है। यहाँ हमने वेदों में वर्णित सैन्य एवं युद्ध-विषयक कुछ संकेत प्रस्तुत कर केवल यही प्रकट करने का यत्न किया है कि विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति का मानववादी सन्देश प्रस्तुत करनेवाली वैदिक संस्कृति में भी मनुष्य की आसुरी वृत्ति का विचार रखते हुए दुष्ट आततायियों से मानव-समाज को त्राण देने के लिए युद्ध-कला, समर-नीति, सैन्य-रचना, सैन्य-शिक्षण एवं युद्ध-सामग्री-निर्माण आदि विषयों की उपेक्षा नहीं की गई। ब्रह्मबल के साथ क्षत्रबल का समुचित सामंजस्य हमें वेदों में दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार वेद मानव-मात्र के व्यक्तित्व-विकास के लिए, सामाजिक व्यवस्था के लिए, शोषण एवं आतंक से त्राण के लिए तथा आततायियों से राष्ट्र-रक्षा के लिए एक सुनियोजित मानववादी शासन-तन्त्र प्रस्तुत करता है। इसका मूल सिद्धान्त है समस्त मानव-समुदाय को तथा उसमें रहनेवाले मनुष्यों को उसके पृथक्-पृथक् अंग मानकर सबको समान नागरिक अधिकार एवं शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास के लिए समान सुविधाएँ प्रदान

---

1. पं० वीरसेन वेदश्रमी : 'वैदिक सम्पदा', पृ० 306-309
2. वही, पृ० 310
3. वही पृ० 310

करना। इस प्रकार वैदिक शासन–प्रणाली पूर्णत: जनतन्त्रीय प्रणाली है। किन्तु इसमें मनुष्य–मनुष्य के स्वाभाविक अन्तर एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अपनी–अपनी योग्यता, कार्यशक्ति आदि के आधार पर ही अलग–अलग अधिकार एवं स्थान रखे गए हैं। वेद में रूस और चीन का भौतिकतावादी हठधर्मी साम्यवाद नहीं, अपितु मानवमात्र को ईश्वर की सन्तान मानकर सबके प्रति दया और सहानुभूति सिखानेवाला, सबमें एक आत्मा के दर्शन करानेवाला आध्यात्मिक समाजवाद है। इसका अपना गणतन्त्रीय संविधान है।

लोकहित में अपने जीवन की आहुति दे देनेवाले यज्ञमय व्यक्ति ही इस शासनतन्त्र की सरकार के सदस्य बनने के अधिकारी हैं। इसके शासनाधिकारियों के लिए कठोर नैतिक बन्धन हैं। इन नैतिक कर्त्तव्यों और मानव–सेवा के व्रत से च्युत होते ही सम्राट् भी अपने अधिकार को खो बैठता है। त्याग और तपस्या का प्रतीक ब्रह्मबल उस पर नियन्त्रण रखता है तथा उसका उचित मार्गदर्शन करता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के विकास के लिए अनेक पृथक्–पृथक् विभागों, शासनाधिकारियों एवं सभा–समिति आदि संस्थाओं की योजना इसमें की गई है। दुष्ट वृत्ति के व्यक्तियों के नियमन के लिए समुचित दण्ड की व्यवस्था है तथा आक्रमणकारी शत्रुओं से राष्ट्र की सुरक्षा के निमित्त सुदृढ़ सैन्य–व्यवस्था भी।

सातवाँ अध्याय

वेद में मानवोपयोगी ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल एवं वाणिज्य

वैदिक वर्ण-व्यवस्था में वैश्यवर्ग कृषि, वाणिज्य एवं व्यवसायों द्वारा द्रव्योपार्जन कर राष्ट्र के आर्थिक विकास में निरन्तर रत रहता था। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को भी राष्ट्र के आर्थिक विकास से सम्बन्धित ही समझना चाहिए। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—इस वर्गचतुष्टय की सिद्धि वस्तुतः प्रत्येक आर्य का परम कर्त्तव्य समझा जाता था।

वेदों के अनुशीलन से पता चलता है कि वहाँ एक सुपुष्ट अर्थ-व्यवस्था का प्रतिपादन है। समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर स्थित था। वर्णाश्रम-व्यवस्था के मूल में श्रम-विभाजन (Division of Labour) का सिद्धान्त निहित था। उपभोग, उत्पादन आदि के कितने ही साधनों का विकसित रूप हमें वेदों में प्राप्त होता है। मानवोपयोगी अनेक उद्योगों व कलाओं का वर्णन वेदों में प्राप्त होता है। पृथ्वी के गर्भ में क्या-क्या सम्पत्तियाँ समाई रहती हैं, इसका मनोहारी वर्णन अथर्ववेद के भूमि-सूक्त (12.1) में हुआ है। वह वसुन्धरा है, विश्वंभरा है, हिरण्यवक्षा है। इस प्रकार वेद में पृथ्वी के सब साधन-स्रोतों का उपयोग करने का उपदेश दिया गया है। इसके अतिरिक्त कितने ही प्रकार के उद्योग वेद में वर्णित हैं। अथर्ववेद में मानव-शरीर के वर्णन में जिस 'अष्टचक्रा, नवद्वारा अयोध्या पुरी' का वर्णन है, उससे वेद की स्थापत्य एवं वास्तुकला का आभास सहज ही हो जाता है।

कृषि

"सभ्य व्यक्तियों को एक-दूसरे से बाँधनेवाली सबसे पहली ग्रन्थि संभवतः कृषि है। अपने जीवन-निर्वाह के लिए प्रत्येक चेतन प्राणी को भोजन की आवश्यकता होती है और कोई जाति भोजन के लिए शत-प्रतिशत प्रकृति पर निर्भर नहीं रह सकती। ऐसा होना बड़ा उत्तम है, अन्यथा मनुष्य को प्रकृति से ऊपर उठने की प्रेरणा न मिलती। मनुष्य की आन्तरिक शक्तियाँ सबसे पहले भोजन-व्यवस्था के लिए ही क्रिया में आती हैं और मनुष्य ने सर्वप्रथम जिस कला का आश्रय लिया था वह निश्चय ही कृषि होगी।"[1] वेदों से पता लगता है कि "वैदिक युग में कृषि-कर्म अत्यन्त ही पवित्र माना जाता था। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर खेत जोतने का, हल चलाने का और फसलों से भरे-भरे खेतों का वर्णन है।"[2]

ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त (4.57) में कृषि का वर्णन है तथा वहाँ क्षेत्रपति अर्थात् क्षेत्र के स्वामी कृषक की स्तुति की गई है। इस सूक्त के मन्त्रों में निम्नलिखित बातें सामने आती हैं—

1. वेद हमें भूमि जोतने की रीति बताते हैं।
2. कृषक का कार्य हेय नहीं है, इसका सब सम्मान करते हैं। कृषक क्षेत्रपति होता है। उसकी उपज पर निर्भर रहनेवाले लोग उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त (10.101.3-6) में क्रान्तदर्शी विद्वान् लोगों को हल चलाकर बीज बोने आदि की प्रेरणा दी गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विद्वान् ब्राह्मण लोग भी कृषि-कर्म में गौरव अनुभव करते थे।
3. वेदों में खेती के उत्तमोत्तम उपकरणों की चर्चा है। ऋग्वेद में कितने ही अन्य स्थलों पर कृषि से सम्बन्धित वस्तुओं का निर्देश प्राप्त होता है, जैसे—स्तेग, हल, लांटल, सीता, सीर तथा अस्त्र आदि। कृष्ट व अकृष्ट भूमि के लिए विभिन्न शब्द प्रयोग किये गए हैं, यथा—उर्वरा, क्षेत्र, फर्वर आदि।[3]

---

1. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय : 'वैदिक संस्कृति', पृ० 87
2. A.C Basu : Indo-Aryan Polity, p. 76-81
3. Ibid, p 82-85

वैदिक युग में उपजाऊ (उर्वरा) भूमि को बराबर नपे हुए खेतों (क्षेत्र) में बाँटा भी जाता था।[1] साधारणतया हल में दो बैल जोते जाते थे, किन्तु कभी-कभी छः[2], आठ, बारह[3] या चौबीस[4] भी जोते जाते थे।

4. खेती प्रतिवर्ष होनेवाला व्यवसाय है और इससे उत्तरोत्तर उत्तम फसलें उत्पन्न होती हैं।
5. हल की फाली गौरव की वस्तु होती है। इसकी तुलना मधुर दुग्ध देनेवाली गौ से की गई है।
6. वेदों के अनुसार कृषक मजदूर जैसा परिश्रम करता है परन्तु खेत की सफलता के लिए परमात्मा से सहायता माँगता है। इस प्रकार वह सदैव अपनी भौतिक समृद्धि को आध्यात्मिकता का रंग देता है।''[5]

अथर्ववेद के भूमि-सूक्त (12.1) में कृषि-योग्य भूमि का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है, जिस पर कोई भी कृषक गर्व कर सकता है। इसके कुछ मन्त्रों का वर्णन हम पीछे कर आए हैं। उक्त सूक्त से पता चलता है कि आर्य कृषकों को अपनी भूमि को उर्वरा बनाने का बड़ा ध्यान रहता था। अथर्ववेद के तीसरे मण्डल में एक पद 'करीषिणी' फलवती 'सुधाभिराम' आता है। 'करीष' का अर्थ है 'गोबर', और गोबर सर्वोत्तम खाद होता है। अथर्ववेद के एक दूसरे मन्त्र में[6] गोबर का इसी प्रकार का निर्देश पाया जाता है। ऋग्वेद में 'शकृत' शब्द गोबर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[7] अथर्ववेद से इस बात की पुष्टि होती है कि खेतों के लिए मवेशियों के खाद का भी प्रयोग होता था।[8]

---

1. **'क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेनं।'** —(ऋग्० 1.110.5)
2. अथर्व० 6.91.1
3. तैत्तिरीय सं० 1.8.7.1
4. काठक सं० 25.2
5. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय : 'वैदिक संस्कृति', पृ० 92-93
6. **संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।**
   बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन॥ —(अथर्व० 3.14.3)
7. ऋग्० 1.161.10
8. अथर्व० 3.14.3 4 इत्यादि।

बार-बार की बुआई से भूमि की उर्वरा-शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है, अतः अथर्ववेद के एक मन्त्र में वैज्ञानिकों और कृषकों को प्रेरणा की गई है कि उन्हें भूमि की शक्ति पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।[1] पृथिवी सूक्त के अगले मन्त्र में जल के नीचे की भूमि को कृषि-योग्य बनाने के विविध उपाय वर्णित किये गए हैं।

वेद में वर्षा के अतिरिक्त कुओं व नहरों से सिंचाई का वर्णन भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद में '**कूप**' और '**अवत**' शब्द कुएँ के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[2] ऋग्वेद में '**खनित्रिमा आपः**' पदों से सिंचाई-योग्य नहरों की सत्ता का भी आभास होता है।[3] इस प्रकार वेद मे कृषि के लिए केवल वर्षा आदि प्राकृतिक साधनों पर ही निर्भर न रहकर नहर आदि कृत्रिम साधनों से सिंचाई का वर्णन भी प्राप्त होता है।

श्री अविनाशचन्द्र दास 'ऋग्वेदकालीन भारत' (Rcgvedic India) नामक पुस्तक में खेती काटने की विविध वेदकालीन प्रक्रियाओं पर भी प्रकाश डालते हैं—"खेती पक जाने पर वह हँसिये (**सृणी**[4] तथा **दात्रा**)[5] द्वारा काटी जाती थी। उसकी पूलियाँ (**पर्षा**)[6] बनाई जाती थीं और खलियान (**खला**)[7] में छेती जाती थीं। तब छाज (**तितउ**)[8] से फटककर दाना पृथक् किया जाता था।

यव और धान्य आर्यों की मुख्य खेती रही होगी। ऋग्वेद में इन दोनों अनाजों की चर्चा अनेक स्थलों पर है।[9] यव (जौ) अब की तरह वसन्तकालीन उपज थी, जो शरद् ऋतु में बोई जाती है। इसे बोने के लिए अधिक वर्षा की आवश्यकता नहीं होती; इसके लिए

---

1. **यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।**
   सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ —(अथर्व० 12.1.7)
2. ऋग्० 1.105.17; 1.55.8; 4.17.16; 8.62.6 इत्यादि।
3. ऋग्० 7.49.2
4. ऋग्० 1.58.4; 10.101.3
5. ऋग्० 8.78.10
6. ऋग्० 10.48.7
7. ऋग्० 10.48.7
8. ऋग्० 10.71.2
9. ऋग्० 2 5 6· अथर्व० 8 7-20

शरत्कालीन थोड़ी वर्षा पर्याप्त होती है। परन्तु धान की बुआई के लिए अधिक वर्षा की आवश्यकता होती है और वर्षा के आरम्भ में ही इसकी बुआई हो जाती है। धान की उत्तम पैदावार के लिए, जो आर्यों का मुख्य खाद्यान्न था, नियमित वर्षा की आवश्यकता होती थी। इस नियमित वर्षा के निमित्त इन्द्र से प्रार्थना की जाती थी एव वार्षिक वा नैमित्तिक यज्ञों और सत्रों का अनुष्ठान किया जाता था।[1]

यजुर्वेद में हमें विभिन्न अन्नों के निम्नलिखित नाम मिलते हैं—

"धान, जौ, उड़द, तिल, मूँग, चने, प्रियंगु नामक छोटा धान, छोटा चावल, सावा चावल, नीवार (बिना खेती के उपजनेवाला धान), गेहूँ और मसूर जैसे समस्त अन्न मुझे यज्ञ, राष्ट्र-पालन और कृषि से प्राप्त हों।"[2]

"यदि आप इन अन्नों की तुलना वर्तमानकालीन अन्नों के साथ करें तो अत्युक्ति और पक्षपात के बिना यह कहा जा सकता है कि संसार ने इस दिशा में कोई विशेष उन्नति नहीं की है, आध्यात्मिक रूप से तो संसार का बड़ा पतन हुआ है। जिस समाज के पास इतने अधिक अन्न थे और जिसे इनकी उत्पत्ति और प्रयोग का उत्तमोत्तम ज्ञान प्राप्त था, क्या वह असभ्य रहा होगा?

"जिस समाज में इन अन्नों को उत्पन्न करनेवाले आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे, वह निश्चय ही बड़ा उच्च रहा होगा।"[3]

वैदिककालीन खान-पान

वैदिक आर्यों का भोजन बलदायक, जीवनवर्धक, तेजोवर्धक तथा पुष्टिकारक वस्तुओं से सम्पन्न होता था। आर्यों के खान-पान

1. Ganga Prasad Upadhyaya : Rigvedic Culture; Chapter VII, p 266-268
2. 'व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे
   मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे
   श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे
   मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' —(18.12)
3. प० वैदिक सस्कृति पृ० 100

का विशेष आहार अन्न था। शतपथ ब्राह्मण (3.9.1.8) के अनुसार अन्न से ही प्राण का धारण होता है, अन्न से ही सूक्ष्म विद्युत् स्वरूपवाली शक्ति शरीर में उत्पन्न होती है, इसलिए प्रशंसा करते समय इसे 'सोम' कहा गया है। मनुष्य के द्वारा पकाए हुए अन्न को 'भोज्य' की संज्ञा दी गई है। वैदिक साहित्य में 'यव' से बने नाना प्रकार के पकवानों का उल्लेख मिलता है, उदाहरणार्थ—'अपूप', इसे पुआ भी कहा जाता है। इसके निर्माण के भी कई प्रकार थे। ऋग्वेद (10.71.2) में सत्तू का वर्णन है, जो हमारे देहातों में आजकल भी प्रिय भोजन है। 'सत्तू' बनाने के लिए जौ को कूटकर उसकी भूसी अलग करके भूनकर पीसते थे। भूने हुए जौ (धानाः) को अकेले ही (ऋग्० 1.16.2, 3.35.3, वाज० सं० 19.21, काठक सं० 9.2, तै० सं० 6.5.11.4, शतपथ ब्राह्मण 4.4.3.9) अथवा सोमरस के साथ मिलाकर खाया जाता था। (ऋग्० 3.35.7, तै० सं० 6.5.11.4, अथर्व० 18.4.43) सत्तू को दही, घी, सोमरस, पानी अथवा दूध में मिलाकर भी खाया जाता था और एक विशेष 'भोज्य', जिसे 'करम्भ' कहते थे, बनाया जाता था। (ऋग्० 1.187.10, 3.52.1, वाज० सं० 19.21, तै० सं० 3.1.10.2) जौ से बने एक और पकवान को 'यवागू' कहा जाता था। इसे जौ के आटे को पानी में उबालकर बनाया जाता था (तै० सं० 6.2.5.2, काठक सं० 9.2), जौ को दूध में उबालकर भी खाने की प्रथा थी (ऋग्० 8.77.10)। इसके अतिरिक्त 'पक्ति' अर्थात् पकाई हुई रोटी का उल्लेख भी (ऋग्० 4.24.5) मिलता है।

यजुर्वेद और अन्य ग्रन्थों में पाँच प्रकार के चावल वर्णित हैं। चावल को पानी ('ओदन'—अथर्व० 4.14.7) अथवा दूध ('क्षीरोदन' ऋग्० 8.77.10, शतपथ ब्राह्मण 2.5.3.4) में उबालकर खाया जाता था। उबले हुए चावल को दही, तिल, घी, मूँग की दाल के साथ मिलाकर खाने की प्रथा भी प्रचलित थी। चावल, दूध और तिल के बनाए हुए एक पकवान को 'कृसर' कहते थे, जो बहुत प्रचलित था (षड्विंश ब्राह्मण 5.2)। वैदिक काल में आजकल की भाँति चिड़वे का, जिसे 'पृथुक' कहते थे, प्रयोग भी बहुत लोकप्रिय था (तै० ब्रा० 3.8.14.3)। भुने हुए चावलों को 'लाजा' कहते थे, जो पूजन स्वागत आदि कार्यों में प्रयुक्त होता था। भुने हुए चावलों

को उबालकर खाने की भी प्रथा थी। चावल के आटे से लड्डू अथवा बड़े बनाए जाते थे, जिन्हें 'पुरोडाश' कहते थे। यह यज्ञ की आहुतियों में विशेष रूप से प्रयुक्त होता था तथा यज्ञ-शेष के रूप में खाया भी जाता था। 'पुरोडाश' को घी में डुबोकर भी खाया जाता था। जंगली चावल, जिसे नीवार कहते थे, को भी इकट्ठा किया जाता था तथा उसे भी लोग खाते थे। दालों आदि और उनसे बने पकवानों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल न केवल अन्न-बहुल युग था, प्रत्युत पाक-विद्या में भी उन्नतिशील था।

अन्नों और दालों के अतिरिक्त वैदिक काल में फल-फूल तथा सब्जियाँ पर्याप्त मात्रा में खाई जाती थीं। आजकल की भाँति वैदिक काल में भी लोग अपने भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए मसालों एवं सुगन्धियुक्त पौधों, नमक (लवण) का प्रयोग करते थे। वैदिक काल में दूध का बहुत महत्त्व था। वैदिक आर्य दूध से दही बनाने की विधि भी जानते थे। मक्खन को गर्म करके घी बनाने की प्रथा बहुत प्रचलित थी। मिठास उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं मे मधु का महत्त्व था। आर्य 'सोम' के अत्यन्त अनुरागी थे।

उपर्युक्त वर्णन से यह प्रकट होता है कि वैदिक काल खाद्य-सम्पन्न युग था, जिमसें नाना प्रकार के अन्नों, दालों, फल-सब्जियों, दूध तथा पेय पदार्थों का प्रयोग विभिन्न रूपों में होता\था, पाक-विद्या भी विकसित रूप में थी। आर्य वर्ग न केवल विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनाते थे, प्रत्युत उनका आहार बलदायक एवं स्वास्थ्यवर्धक भी था। इसके अतिरिक्त उनके पकवान प्रायः कई वस्तुओं को मिलाकर बनते थे, जिसके कारण उनका भोजन सन्तुलित एवं स्वादिष्ट होता था।

पशुपालन

"वर्तमान आविष्कारों से बने यन्त्रों ने, जो अधिक उत्पादक और कम कष्टदायक हैं, पशुओं का स्थान ले लिया है। इसलिए पशुओं को अत्यधिक महत्त्व देने के विचार पर कदाचित् हमारे आधुनिक विज्ञानवेत्ता हँसें, परन्तु हमारी वैज्ञानिक सफलताएँ, चाहे हम उन पर कितना गर्व क्यों न करें, खरा सोना नहीं हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हमने अपने क्षेत्र से बहुसंख्यक चेतन प्राणियों

को बहिष्कृत करके उनको विकास के अवसरों से वंचित कर दिया है। उदार दृष्टि से देखें तो हमारा यह जगत् एक विशाल परिवार है, जिसमें मनुष्य की स्थिति केवल एक सदस्य की है, यद्यपि वह सबसे अधिक गुणसम्पन्न है। पशुओं में आपस में व्यापक भ्रातृत्व होता है। परिवार के बड़े लोगों को बड़ा स्थान इसलिए प्राप्त नहीं होता कि वे सबसे अधिक खाते हैं, अपितु इसलिए प्राप्त होता है कि वे परिवार के कम विकसित लोगों के विकास में अत्यधिक योग देते हैं। असभ्य लोगों को मारने या दास बनाने की प्रवृत्ति बन्द करना और इस प्रकार का आचरण करना जिससे धीरे-धीरे उनका विकास होकर वे सभ्य बन जाएँ, सभ्य राष्ट्र का कर्त्तव्य होता है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज का यह कर्त्तव्य होता है कि वे छोटे पशुओं के साथ इस प्रकार का व्यवहार करें, जिससे वे अपना विकास करने में समर्थ हो सकें। जिस गडरिये (अजापाल) ने सबसे पहले कुत्ते को अपनी भेड़ों की चौकसी करना सिखाया था, उसने उस कुत्ते और अपनी जाति के प्रति कम उपकार न किया था। वह बिजली का कोई यन्त्र बनाकर कुत्ते के कार्य को समाप्त कर सकता था। परन्तु इसका अर्थ होता उस कर्त्तव्य से गिरना जो मनुष्य का विशिष्ट जीव के रूप में छोटे जीवों के प्रति होता है।''[1]

वैदिक जीवन एवं आर्थिक विकास में पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वेद में गाय और अश्व दोनों पवित्र माने गए हैं तथा परमेश्वर से सुख-समृद्धि और योगक्षेम की प्रार्थना के साथ ही साथ घोड़ों और गौओं की मंगल-कामना भी की जाती थी।[2] कुछ लोगों का यह भी मत है कि हिन्दुओं को गौ और सेमेटिक जाति के लोगों को घोड़ा प्रिय था। यह बड़ा दुर्भावपूर्ण है। वेदों से इसका समर्थन नहीं होता। वेदों में इन दोनों पशुओं का समान रूप से ध्यान रखा गया है और दोनों ही के मंगल की कामना की गई है। ये दोनों घरेलू पशु थे। इनके स्वामी बड़े ध्यान से इनका पालन करते, उन्हें प्यार करते और रोगों से उनकी रक्षा करते थे।[3]

---

1. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय : 'वैदिक संस्कृति', पृ० 101-102
2. ऋग्० 7.54.2, 7.90.6, ऋग्० 10.108.7, 1.114.8, 1.103.5, 7.104 10, 8.36.5 इत्यादि।
3. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय 'वैदिक संस्कृति' पृ० 109

"तथापि मनुष्य के लिए घोड़े की अपेक्षा गौ की उपयोगिता अधिक होती है। वह बच्चों को दूध पिलाती है। घर पर रहती है। प्रसिद्ध कोषकार यास्क ने दुहिता शब्द का अर्थ पुत्री इसलिए किया है कि वह गौओं को दुहती है। इससे स्पष्ट है कि कन्याएँ घर पर गौओं को दुहा करती थीं और परिवार का पुरुष-वर्ग घोड़ों की अधिक देखभाल किया करता था। यदि परिवार के लोग इतने उपयोगी पशु को प्यार करते और उसकी महत्ता को कृतज्ञ-भाव से स्वीकार करते थे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।"[1]

गोपालन

वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। गौ उसकी एक बहुत प्यारी सम्पत्ति है। अनेक स्थानों पर वेद में प्रभु-भक्त याचक द्वारा अपने भगवान् से गृहस्थ के अभीष्ट ऐश्वर्य में गौओं की अभ्यर्थना की गई है। उदाहरण के लिए अथर्व 2 26 में वह कहता है—

"मैं गौओं के दूध का अपने शरीर में सिंचन करता हूँ, उनके घी से मैं अपने शरीर में बल और रस (वीर्यादि) सिंचन करता हूँ, उनके दूध और घी से हमारे घर के सारे वीर (पुरुष) सिंचित होते हैं, मुझ गोपति में गौएँ स्थिर होकर रहें।"

"मैं अपने इस घर (**अस्तकम्**) में गौओं का दूध लाता हूँ (**आहरामि**), धान्य और रस लाता हूँ, यहाँ वीर (पुरुष) आए हुए हैं और उनकी पत्नियाँ आई हुई हैं।"[2]

वैदिक गृहस्थ दूध-घी खाता नहीं, वह अपने-आपको उससे सींचता है। वह छटाँक-दो छटाँक या पाव-दो पाव दूध-घी से तृप्त नहीं होता, उसे उसके कटोरे-के-कटोरे और घड़े-के-घड़े चाहिएँ।

---

1. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय : 'वैदिक संस्कृति', पृ० 110
2. **इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु॥**
   सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
   संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ॥
   आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।
   आहृता वीरा आ (अथर्व० 2 26 2 4 5)

तभी तो हमारा घर 'वीरों' और वीर पत्नियों से भर सकता है। जिस घर के लोगों को अपने-आपको दूध-घी से सींचना हो तो उन्हें एक-दो गौओं से कहाँ सन्तुष्टि हो सकती है! उन्हें तो घर मे बहकर आती हुई गौओं की धारा की आवश्यकता है।

इसीलिए जब गौ-प्रिय वैदिक गृहस्थ (अथर्व० 3.12) मे अपने रहने के लिए सुन्दर शाला (घर) का निर्माण करता है तो उसको और-और ऐश्वर्यों से भरने के साथ '**गोमती**···**घृतवती पयस्वती**' (अथर्व० 3.12.2) और '**घृतमुक्षमाणा**' भी बनाता है। उसमें गौएँ रखकर उसे घी और दूध से भरना चाहता है, इतना भरना चाहता है कि वह हमारे लिए घी सिंचन करनेवाली (**उक्षमाणा**) बन सके। वह अपनी शाला के सम्बन्ध में इच्छा रखता है कि उसमें—

"सायंकाल को बाहर से चरकर बछड़े और उछलती हुई गौएँ आया करें।" "दही से लबालब भरे (**परिस्रुत**) कुम्भ और कलश रहा करें।"[1]

वह अपनी पत्नी को प्रतिदिन कहना चाहता है कि "हे नारि! इस कुम्भ में से अमृत से भरी हुई घी की धारा को ला और इन पीनेवालों को कान्तिमान् शरीरवाला बना (**सम्-अंग्धि**), हमारे द्वारा किये हुए इष्ट और आपूर्त के शुभ कर्म इस घर की रक्षा करते रहें।"[2]

न केवल वेद का प्रत्येक गृहस्थ ही अपने लिए वैयक्तिक रूप में भगवान् से गो-धन की याचना करता है, प्रत्युत कई स्थलों पर सारे राष्ट्र के लोगों के लिए भी गो-धन की याचना की गई है।

अध्वर्यु इस मन्त्र द्वारा अश्वमेध करनेवाले सम्राट् के राष्ट्र में अभ्युदय की प्रार्थना भगवान् से कर रहा है—"हे भगवन् (ब्रह्मन्), दूध देनेवाली गौएँ उत्पन्न हों, भार उठाने में समर्थ बैल हों, शीघ्रगामी घोड़े हों।"

---

1. **आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्यन्दमानाः॥**
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः॥ —(अथर्व० 3.12.3; 3.12 7)
2. **पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।**
इमां पातुनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ —(अथर्व० 3.12 8)

जिन गौओं का राष्ट्र के व्यक्तियों को वीर और बलिष्ठ बनाने में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसीलिए जो राष्ट्र के ऐश्वर्य का एक अत्यन्त आवश्यक अंग हैं, उन गौओं का राष्ट्र के घरों मे उचित भरण-पोषण हो रहा है कि नहीं, इसका सदा निरीक्षण रखना वेद में राज्य का भारी कर्त्तव्य बताया गया है। राजा के इस कर्त्तव्य का अनेक स्थानों पर निर्देश मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का 6.28 सूक्त देखिये। इसमें गो-पालन के सम्बन्ध में कई सुन्दर शिक्षाओं का वर्णन करते हुए राज-धर्म का भी निर्देश कर दिया गया है—

"गौएँ आवें। हमारे गोष्ठ (गौओं के रहने के स्थान) में बैठें और हमारे लिए मंगल करें। हममें रहती हुई रमण करें। यहाँ हमारे घर में ये गौएँ सन्तानोंवाली होकर अनेक प्रकार की होती रहें और इस प्रकार सम्राट् के लिए बहुत उषःकालों अर्थात् दिनों तक दूध देनेवाली बनी रहें।"[1]

"सम्राट् राज्य-संघटन के लिए अपना भाग दान करनेवाले और इस प्रकार राज्य की आवश्यकताओं की तृप्ति करनेवाले के लिए अपनी रक्षा देता है और समीप पहुँचकर देता है, उसके धन का अपहरण नहीं करता या नहीं होने देता; इसके धन को बार-बार बढ़ाता हुआ सम्राट्-रूप देव राज्य का भला चाहनेवाले इसको अभेद्य स्थान में रखता है।"[2]

"उन गौओं को धूल उड़ाकर आता हुआ शत्रु का घोड़ा प्राप्त नहीं हो सकता। वे गौएँ किसी प्रकार हिंसा या सूनागृह की ओर नहीं जातीं। उस यज्वा पुरुष की वे गौएँ अभय होकर फिरने के विस्तृत देशों में विचरण करती हैं।" मन्त्र में अर्वा का अर्थ हिंसक भी हो सकता है, क्योंकि 'ऋ' धातु के गति और हिंसा दोनों अर्थ होते हैं। तब अर्थ यह होगा कि "धूल उड़ाकर आता हुआ कोई व्याघ्रादि हिंसक पशु उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता।"[3]

"सम्राट् मुझे गौएँ देवे, गौएँ धन हैं, गौएँ उत्कृष्ट सोम का भक्षण हैं। हे मनुष्यो! जो गौएँ हैं वे परमैश्वर्य हैं, हृदय और मन से इस परमैश्वर्य को ही चाहता हूँ।"[4]

---

1 ऋग्० 6 28 1   2 ऋग्० 6 28 2

3 ऋग्० 6 28 4   4 ऋग्० 6 28 5

"हे गौओ, तुम पतले-दुबले पुरुष को भी स्निग्धता प्रदान करके मोटा कर देती हो। सुन्दरतारहित को भी सुन्दर अंगोंवाला कर देती हो। हे भद्रवाणी वाली गौओ, हमारे घर को कल्याणयुक्त कर दो। सभाओं में तुम्हारे बहुत अन्न का बखान किया जाता है।"[1]

"उत्तम घास को खाती हुई, उत्तम पानी पीने के स्थानों में निर्मल जल पीती हुई हे गौओ, तुम पुत्र-पौत्रों से युक्त होकर रहो। चोर और पाप करनेवाला तुम पर प्रभुता न कर सके। परमात्मा का प्रहण तुम्हें छोड़े रखे अर्थात् तुम शीघ्र न मरो, प्रत्युत दीर्घ आयुवाली होओ।"[2]

"इन गौओं में यह जो बैल के समीप जाकर मिलने का गुण या इच्छा है, और बैल के वीर्य में जो गौओं के पास जाकर मिलने का गुण है वह हे सम्राट्, तेरे पराक्रम में अर्थात् तेरे पराक्रम की अधीनता में मिले।"[3]

इसी प्रसंग में ऋग्० 10.169 सूक्त भी देखने योग्य है—

"सुख देनेवाला वायु गौओं की ओर चले, ये गौएँ बलवाली या रसीली ओषधियों को खाएँ, मोटा करनेवाले और जीवन देनेवाले जलों का पान करें; हे रुद्र, पैरोंवाले हमारे पशु के लिए अर्थात् गौओं के लिए सुख दीजिये।"[4]

"जो समान रूपवाली हैं, विभिन्न रूपवाली हैं, सर्वथा एक-समान रूपवाली हैं, यज्ञ के द्वारा सम्राट् जिनके नामों अर्थात् भेदों को जानता है, जिन्हें अंगिरा लोग तप द्वारा यहाँ बनाते हैं, उनके लिए हे मेघ! बहुत बड़ा सुख दीजिये।"[5]

"जो राष्ट्र के भाँति-भाँति के व्यवहारशील लोगों में अपने शरीर से उत्पन्न दूध को भेजती हैं, जिनके सब रूपों अर्थात् भेदों को सोम जानता है, हमारे लिए अपने दूध से सिंचन करती हुई और सन्तानों से युक्त उन गौओं को हे सम्राट्, हमारे गौ बाँधने के स्थान में प्राप्त करा।"[6]

इस प्रसंग में अथर्व० 3.14 सूक्त पर भी एक दृष्टि डाल लेनी

---

1. ऋग्० 6.28.6
2. ऋग्० 6.28.7
3. ऋग्० 6.28.8
4. ऋग्० 10.169.1
5. ऋग्० 10 169 2
6. ऋग्० 10 169 3

चाहिए। इसमें भी गोपालन के सम्बन्ध में अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं।

इन वाक्यों में कहा गया है कि गौओं के रहने का स्थान (गोष्ठ) ऐसा होना चाहिए जिसमें गौएँ सुखपूर्वक बैठ सकें और रह सकें। वह उनके लिए सब भाँति शिव अर्थात् कल्याणकारी होना चाहिए और उसमें पुष्टिदायक खान-पान आदि का गौओं के लिए पूरा प्रबन्ध रहना चाहिए।''[1]

इससे संकेतित है कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि हमारी गौओं को कहीं किसी तरह का भी डर न हो।[2]

इस वाक्य में कहा गया है कि अपने धन द्वारा खूब खिला-पिलाकर हमें अपनी गौओं को पुष्ट करना चाहिए जिससे उनकी संख्या हमारे घर में बढ़ सके।[3]

अर्थात् ''हे गौओ, मुझ गोपति के साथ मिलकर रहो'', इस वाक्य की ध्वनि यह है कि प्रत्येक गृहस्थ को अपने घर में गौएँ रखकर गोपति बनना चाहिए।[4]

इस शब्द द्वारा कहा गया है कि हमें अपनी गौवों को सदा नीरोग रखना चाहिए। रोगी गौओं का दूध नहीं पीना चाहिए, यह अर्थ इस शब्द से स्वयं ही निकल आता है।[5]

अर्थात्—''गौएँ सोममय अर्थात् सोम के गुणों से युक्त मधुर दूध अपने अन्दर रखती हैं।''[6] इस वाक्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद में गोपालन का इतना अधिक महत्त्व क्यों है।

---

1. **सं वो गोष्ठेन सुषदा।** —(अथर्व० 3.14 1)
   शिवो वो गोष्ठो भवतु। —(अथर्व० 3.14 5)
   अयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः। —(अथर्व० 3.14 6)
2. **अबिभ्युषीः।** —(अथर्व० 3.14-3)
3. **रायस्पोषेण बहुला भवन्तीः।** —(अथर्व० 3.14 6)
4. **मया गावो गोपतिना सचध्वम्।** —(अथर्व० 3.14 6)
5. **अनमीवाः।** —(अथर्व० 3.14 3)
6. जो लोग सोम का अर्थ शराब करते हैं उनकी धारणा का वेद के इस वाक्य से खण्डन हो जाता है। यहाँ गौ के दूध को सोम के गुणोंवाला कहा गया है। वास्तव में वेद का सोम एक ओषधि है जो शक्ति और स्फूर्ति देती है, बुद्धिवर्धक होती है और जिसमें मादकता बिलकुल नहीं होती।

अर्थात्—"धन-प्रदाता सम्राट् (इन्द्र), तुम्हें मेरे साथ जोड़े या मेरे यहाँ उत्पन्न करे (**संसृजतु**)।"[1] इस वाक्य द्वारा इस सूक्त में भी राज्य का कर्त्तव्य बता दिया गया है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिससे सोममय दूध का पान करानेवाला गोधन राष्ट्र के प्रत्येक गृहपति के घर में रह सके।[2]

गौओं की उत्तम नस्ल प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उनका उत्तम वृषभों के साथ संयोग कराकर सन्तानें उत्पन्न कराई जाएँ। वेद में इसके महत्त्व को बहुत अधिक समझा गया है। अथर्ववेद के नवम काण्ड का चतुर्थ सूक्त बड़े-बड़े 24 मन्त्रों का है। इस सूक्त में सन्तानोत्पादन के लिए नियुक्त किये जानेवाले वृषभ की महिमा गाई गई है और आलंकारिक ढंग से यह उपदेश किया गया है कि यदि किसी के घर में कभी बहुत उत्तम कोटि का बछड़ा उत्पन्न हो जाए तो उसे नगर की गौओं में सन्तान उत्पन्न करने के लिए दान कर देना चाहिए। उसे 'ऐन्द्र' बना देना चाहिए अर्थात् राज्य को सौंप देना चाहिए। वेद की दृष्टि में यह कार्य बड़ा पवित्र है, क्योंकि इससे राष्ट्र के लोगों का कल्याण होता है। इसलिए यज्ञ करके, ब्राह्मणों को दान करके उन द्वारा राष्ट्र के काम पर उस वृषभ को नियुक्त कर देना चाहिए।

सूक्त के 21वें मन्त्र में सम्राट् (इन्द्र) का कर्त्तव्य भी बताया गया है कि वह उत्तम वृषभ-धन राष्ट्र को प्रदान करे और इस प्रकार उत्तम दूध देनेवाली, सदा बछड़ों से युक्त धेनु हमें देता रहे। प्रजाजनों या राज्य (इन्द्र) की ओर से जो वृषभ सन्तानोत्पत्ति के लिए नियुक्त किया जाए वह "**साहस्र**" (अथर्व० 9.4.1) अर्थात् सहस्रों बच्चे उत्पन्न कर सकने में समर्थ हो, "**त्वेष**" (9.4.1) अर्थात् बड़ा तेजस्वी हो, "**ऋषभः**" (9.4.1) अर्थात् गतिशील, चञ्चल, फुर्तीला हो, "**पयस्वान्**' (9.4.1) अर्थात् बहुत दूध देनेवाली नस्ल की गौ का पुत्र हो जिससे उसकी सन्तानें भी बहुत दूध दे सकें, "**उस्त्रियः**" (9.4.1) उस्रा अर्थात् गौओं से सम्बन्ध कर सकने योग्य हो, "**पुमान्**" (9.4.3) अर्थात् पुरुषत्व-युक्त

---

1. **बिभृतीः सोम्यं मधु।** —(अथर्व० 3.14 3)
2. **सं व सृजतु""समिन्द्रो यो धनंजय।** (अथर्व० 3 14 2)

हो, "**अन्तर्वान्**" (9.4.3) अर्थात् गर्भ धारण कराने में समर्थ हो, """"**स्थविरः**" (9.4.3) स्थिर प्रकृति का हो अर्थात् अपने गुणों को स्थिर रखता हो।

ऐसा वृषभ नियुक्त करने का प्रयोजन यह है कि वह "**तन्तुमातान्**" (9.4.1) अर्थात् सन्तानरूप तन्तु को आगे फैला सके। क्योंकि यह वृषभ "**पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानाम्**" (9.4.4)—उत्तम बछड़ों का बाप और गौओं का पति होता है, "**प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः**" (9.4.4)—इसके वीर्य से ताजा दूध, पीयूष, आमिक्षा और घृत प्राप्त होते हैं, "**सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि**" (9.4.6) "**आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः**" (9.4.7)—इसके कारण सोम-जैसे दूध के घड़े भर जाते हैं और इसके वीर्य के कारण आज्य और घृत प्राप्त होता है, "**त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्**" (9.4.6)—यह रूपवान् बच्चे उत्पन्न करनेवाला होता है, और क्योंकि इसके कारण ही "**इन्द्र, वरुण, मरुत्**" आदि (9.4.8) राज्याधिकारी देवों के शरीरों में ओज भरनेवाला दूध प्राप्त होता है, इसलिए यह स्वयं भी एक दिव्य वस्तु है। वृषभ की इसी दिव्यता को ध्यान में रखकर सूक्त में उसका एक बड़ा सुन्दर आलंकारिक वर्णन किया गया है—उसे सभी देवों का रूप बना दिया गया है। स्थानाभाव से हम सूक्त के आलंकारिक वर्णन से युक्त और संख्या में प्रचुर मन्त्रों का यहाँ प्रतिपद अर्थ देने में असमर्थ हैं।

वेदकालीन आर्यों के जीवन में घोड़े का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। घोड़ा एक ईमानदार, सुन्दर, तेज गतिवाला, अदम्य उत्साहयुक्त साहसी एवं श्रेष्ठ पशु माना जाता था, इसलिए उपर्युक्त गुणों की तुलना के लिए उपमान के रूप में उसका प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद के एक सूक्त में बहुत ही सुन्दर शब्दों में घोड़े का स्तुत्यामक वर्णन किया गया है।[1]

वेद में संकेत है कि गाय, बैल, साँड तथा अश्व के अतिरिक्त भेड़, बकरी आदि भी पाली जाती थी।[2] वेद में मेष, मेषी, ऊर्णवती, अज-अजा, अजपाल, अभिपाल आदि शब्द प्रायः प्रयुक्त हुए हैं।

---

1. ऋग्० 1.163.1.13
2. A C Basu Indo-Aryan Po ity p 95 96

"वेदों के अनुसार '**ग्राम्य**' और '**आरण्य**' इन दो श्रेणियों में पशु विभक्त हैं। ग्राम्य पशुओं की बड़े ध्यान और प्रेम से रक्षा होनी चाहिए और आरण्य पशु यदि हानिकारक हों तो उनको नष्ट कर देना चाहिए अथवा उनको दूर रखना चाहिए। घरेलू पशुओं में केवल कुत्ता ही मांस-भक्षी होता है। वैदिक आर्य प्रत्येक प्रकार के जीवन का आदर करनेवाले थे। इन नियमों का उल्लंघन उसी समय होता था, जब कोई प्राणी दूसरे प्राणी के साथ अन्याय करता और उसके जीवन को संकट में डाल देता था। तुम उनको मार सकते हो—परन्तु अन्यों को मारे जाने से बचाने के लिए। स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो। जब तक तुम दूसरों को जीने देते हो, तब तक यदि तुम्हें कोई व्यक्ति सताता है तो वह तुम्हारे साथ अन्याय करता है। यही अहिंसा है जिसका प्रायः अंग्रेजी में (Non-violence) अनुवाद किया जाता है। यह अहिंसा विश्व-बन्धुत्व की भावना पर आश्रित विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत होती है।

"सभ्यता के विकास में पशुओं के योग की प्रायः अवहेलना की जाती है और इनको कम से कम महत्त्व दिया जाता है। आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप की अशुद्ध भावना के कारण ही ऐसा होता है। जिस व्यक्ति को सब प्राणियों में परमात्मा के और परमात्मा में सब प्राणियों के दर्शन होते हैं, उसे दुःख प्राप्त नहीं होता (यजुर्वेद 11.6)। जब तक इस वैदिक शिक्षा पर आचरण नहीं होता, तब तक संस्कृति की विभावना संकुचित बनी रहती है। पशु-हत्या से मनुष्य में हिंसक वृत्ति जागृत होकर उसकी पाशविक प्रवृत्तियाँ उच्छृंखल हो जाया करती हैं। स्मरण रखना चाहिए कि हमारा आचरण सूक्ष्म तन्तुओं से बनी हुई रस्सियों के समान होता है जिस पर यदि उचित ध्यान न रखा जाए तो वह क्षणभर में ही टूट जाती है।"[1]

"रेल में प्रतिदिन यात्रा करनेवाले व्यक्ति श्रीयुत वाट और ज्यौर्ज स्टीफन्सन के आविष्कारों का ठीक-ठीक मूल्य नहीं आँक सकते। हम इन वस्तुओं को प्रतिदिन देखते हैं। आज हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कभी कोई समाज वाष्प इन्जिन से अनभिज्ञ रहा होगा। इसी भाँति तनिक अपने को उस स्थिति में रखो

---

1 प० वैदिक सस्कृति पृ० 117 1 8

जब मनुष्य में और घोड़े में, गौ और मनुष्य में किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न था। उस समय मनुष्य भी थे और घोड़े भी थे। परन्तु मनुष्य यह न जानता था कि घोड़े से क्या और किस प्रकार की सहायता ली जाए। घोड़ा नितान्त बनैला था। वह मनुष्य की बात नहीं सुनता था और न चाबुक और लगाम के सामने आत्म-समर्पण करना ही जानता था। वह एक प्रकार से स्वच्छन्द था। वह अपने स्वामी को प्यार करना या युद्ध के यश में भागीदार बनना भी न जानता था। जिस व्यक्ति ने घोड़े को सबसे पहले पालतू अर्थात् उसे अपने घर में स्थान देकर उसे सम्मिलित जीवन का अंग बनाया था, उसने कितना महान् कार्य किया था, जरा इस पर विचार करो। क्या यह आविष्कार आजकल के आविष्कारों से बढ़िया न था? किसी मजदूर को किसी कारखाने में काम पर लगाकर तुम न केवल अपना काम चलाते और उसे जीविकोपार्जन में समर्थ ही बनाते हो, अपितु तुम इससे भी अधिक उसका उपकार करते हो। तुम उसे ऐसे वातावरण में रखते हो जिससे वह नई-नई बातें सीखकर अपनी बीज-शक्तियों को विकसित करके सभ्य बन सके। तीन वर्ष तक काम करने के बाद किसी कार्यालय से निकला हुआ व्यक्ति वैसा नहीं होता जैसा वह काम पर लगने के दिन होता है।

"अब वह अपने काम में निपुण और अनुभवी है और इस प्रकार अधिक सभ्य है। यही बात पालतू पशुओं पर लागू होती है। जब मैं प्रयाग या दिल्ली की गलियों में किसी खुली हुई गाय या बैल को घूमते हुए देखता हूँ तो उसमें और सुदूर ग्रामों की गायों और बैलों में घोर अन्तर देखकर आश्चर्यचकित रह जाता हूँ। वे अधिक सीधे-साधे, लोगों से अधिक हिले हुए और बहुत कम तंग करनेवाले होते हैं। भीड़ से भरे नगरों में निरन्तर रहने के कारण उन्हें नागरिकता के कर्त्तव्यों का थोड़ा-बहुत ज्ञान स्वभावतः हो जाता है। यदि तुम प्रयाग की किसी तंग गली में से किसी गौ के पास होकर निकलो तो न तो वह मारेगी और न तंग करेगी। अपने रास्ते चली जाती है और तुम्हें अपने रास्ते जाने देती है। क्या यह नागरिकता का अनजाने में प्राप्त होनेवाला शिक्षण नहीं है?"[1]

---

1 पं० वैदिक संस्कृति पृ० 102 104

वेद में उद्योग-धन्धे

संस्कृति और समाज के भौतिक विकास में उद्योग-धन्धे कृषि-कर्म के अनिवार्य सहायक और पूरक अंग होते हैं। खेती के लिए और समाज को अच्छे ढंग से चलाने के लिए विविध प्रकार के साधन और वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। ये साधन और वस्तुएँ उद्योग-धन्धों से ही उत्पन्न होती हैं। ऋग्वेद में एक प्रार्थना आती है—'हे प्रभो! मेरी बुद्धि को लोहे से बने शस्त्र की धार के समान अति तीक्ष्ण बना।''[1] इससे स्पष्ट है कि उद्योग-धन्धों से निर्मित इन वस्तुओं का वेद में निर्देश अवश्य है। ऋग्वेद में इसका स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है। वहाँ कहा गया है—''हमारे कर्म और बुद्धियाँ नाना प्रकार की हैं। मनुष्य के कर्म भी विविध प्रकार के हैं। बढ़ई लकड़ी काटना चाहता है। वैद्य रोगी को चाहता है। वेदज्ञ यज्ञ करनेवाले को चाहता है। उसी प्रकार हे ऐश्वर्यवन्! तू ऐश्वर्यशाली पद के लिए आगे बढ़। प्रजा पर ऐश्वर्य की वर्षा कर।''[2]

''ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन नागरिक जीवन पूर्णतया विकसित था। नगरों में बड़े-बड़े भवनों का निर्माण किया जाता था, जिन्हें हर्म्य, प्रहर्म्य, सद्म, प्रसद्म, दीर्घ प्रसद्म आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। नगरों में पुर् (किले) भी रहा करते थे[3], जिनका उपयोग पणियों के विरुद्ध युद्ध के अवसर पर किया गया था। उस समय बड़े-बड़े रथ भी बनाए जाते थे, जिनका उपयोग युद्ध में किया जाता था तथा जो आवागमन के मुख्य साधन थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल के विकसित नागरिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न उद्योग-धन्धों को उन्नत किया गया था, और ये उद्योग-धन्धे आर्थिक विकास के मुख्य अंग थे।''[4]

---

1. 'चोदय धियमयसो न धाराम्।' —(ऋग्० 6.47.10)
2. नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
   तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ —(ऋग्० 9.112 1)
3. 'एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।' —(ऋग्० 7 95 1)
4. प० शिवदत्त ज्ञानी वेदकालीन समाज पृ० 249

वेद में गृह-निर्माण-कला

गृह-निर्माण-कला का काल-क्रमागत इतिहास नहीं मिलता, परन्तु वेदों में इसका उत्तम वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में आता है—"नवनिर्मित मकान में हवन करने के पदार्थों को रखने का स्थान, अग्निहोत्र का स्थान, स्त्रियों के रहने का स्थान, पुरुषों और विद्वानों के रहने-बैठने, संवाद करने और सभा करने का स्थान होना चाहिए तथा स्नान, भोजन, ध्यान आदि का स्थान पृथक् होना चाहिए। इस प्रकार की कमनीय गृहशाला सुखदायक होती है।"[1]

"दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व-पश्चिम में एक-एक शाला-युक्त घर अथवा जिसके पूर्व-पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में एक-एक शाला और इनके मध्य में पाँचवीं बड़ी शाला या बीच में एक बड़ी शाला और दो-दो पूर्व-पश्चिम तथा एक-एक उत्तर दक्षिण में शाला हो।"[2]

ऋग्वेद में वास्तोष्पति-शिल्पी को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—"हमें यह सन्तोष प्रदान कर कि तू हमें रोगों से मुक्त घरों को देनेवाला है" आदि।[3]

पारस्कर गृह्य सूत्र में गृह-शिल्पियों की तीन श्रेणियाँ मिलती हैं—कर्त्ता, विकर्त्ता, विश्वकर्मा।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में घर के विविध सुखों का वर्णन किया गया है—"हे गृहस्थो! हम तुम्हारे निवास के लिए ऐसा घर बनाते हैं जिसमें सूर्य की किरणें खूब आएँ। ऐसे घर में दैवीय प्रकाश का उदय हो जिससे तुम मोक्ष को प्राप्त होओ।"[4]

---

1. हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
   सदो देवानामसि देवि शाले॥ —(अथर्व० 9.3 7)
2. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
   अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये॥
   —(अथर्व० 9.3.21)
3. वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्स्वावेशी अनमीवो भवा नः।
   यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥
   —(ऋग्० 7.54 1)
4. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।
   अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परमं पदमव भाति भूरि (ऋग्० 1 154 6)

वेदों में राजाओं और शासकों के सैकड़ों खम्बोंवाले बड़े-बड़े प्रासादों का भी वर्णन आया है। साथ ही लौह-स्तम्भों पर बने, आकाश में चमकते हुए स्वर्ण-मण्डित घरों का उल्लेख भी पर्याप्त मिलता है।[1]

वैदिक काल में बड़े-बड़े नगर भी विद्यमान थे। ऋग्वेद में लोहे की दीवारों से घिरे नगरों का वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

वेद में गृह के निम्नलिखित नामों का प्रयोग है—

1. **गयः**— पवित्र स्थान जिसमें बैठकर धार्मिक एवं शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। इस निमित्त बना गृह या उसका कोष्ठ।
2. **कृदरः**— शस्यागार, अन्न का कोष्ठ—गृह में बना हुआ अन्न-कोष्ठ या बड़े-बड़े अन्न के भण्डार-गृह या खत्तियाँ।
3. **गर्त्तः**— ऐसा प्रशंसनीय चल-गृह जिसमें अच्छे प्रकार से निवास, शयनादि हो सके।
4. **हर्म्यम्**— विशाल, अनेक कोष्ठवाली, अनेक मंजिलयुक्त सुन्दर, सुसज्जित कोठी, बँगला या महल आदि।
5. **अस्तम्**— छिपा हुआ स्थान गुप्ति आदि जिसे दूसरे व्यक्ति पहचान न सकें। तलघर आदि भी इसी श्रेणी में हैं।
6. **पस्त्यम्**— निवास-स्थान।
7. **दुरोण**— परगृह।

---

1 राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते॥
—(ऋग्० 2.41.5)

अक्रविहस्ता सुकृते परस्पा यं त्रासाथे वरुणेळास्वन्तः।
राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्रस्थूणं बिभृथः सह द्वौ॥ —(ऋ० 5.62.6)
हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्यश्वाजनीव।
भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले वा सनेम मध्वो अधिगर्त्यस्य॥
—(ऋग्० 5.62.7)

2 ऋग्० 7 3 7 7 15 14

8. **नीडम्**— निश्चित रहने का, नित्य शयन का स्थान; पक्षियों का घोंसला आदि भी इसीके अन्तर्गत हैं।

9. **दुर्याः**— कठिनता से प्रवेश्य या कठिनता से स्वाधिकार में प्राप्त होने योग्य या प्राप्त हुआ गृह, या ऐसा गृह जिसके लिए संघर्ष करना पड़े अथवा जिसमें प्रवेश के लिए अनेक बन्धन हों।

10. **स्वसरणि**— वे गृह जिनमें स्वयं यथासमय जाना होता है, अर्थात् जिन गृहों से अपने प्रयोजन सिद्ध होते हैं और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जाना पड़ता है।

11. **अमा**— समीपस्थ कोष्ठ या गृह।

12. **दम**— वह गृह जिसमें अपनी इच्छा, आकांक्षा एवं उत्सुकता लगी हुई है, जिसके प्रति उदासीन भावना नहीं है।

13. **कृत्तिः**— वे गृह जहाँ दुःखादि का छेदन होता है, रोगादि के नष्ट होने के स्थान औषधालय, आतुरालय, अस्पताल, आरोग्य-भवन आदि।

14. **योनिः**— आकर, खदान गृह, प्रसव गृह, मकान के मध्य का वह स्थान जिसमें से प्रवेश एवं निर्गमन होता है, अथवा वे स्थान जहाँ से उत्पत्ति का प्रवाह चलता हो। विद्युत् जेनरेटर स्थान, वस्तुओं के मूल निर्माण-स्थान के कोष्ठ इसी श्रेणी में आते हैं।

15. **सद्म**— कष्टप्रद गृह।

16. **शरणम्**— आश्रय-स्थान।

17. **वरुथम्**— गृह का ऐसा गुप्त स्थान जिसमें बाहर के आक्रमण से रक्षा हो सके।

18. **छर्दिः**— गृह का वह स्थान जहाँ पर त्याज्य या निष्प्रयोजन वस्तुएँ रखी जाती हैं।

19. **छदिः**— गृह का वह स्थान जिसमें तीन ओर से दीवारें

हों और एक ओर से पूरा खुला भाग हो और उस पर छत हो।

20. छाया— गृह का वह स्थान जो चारों ओर से खुला हो, परन्तु ऊपर छाया के लिए छत हो।

21. शर्म— युद्ध में शरणस्थान को शर्म कहते हैं।

22. अज्य— वह मकान या घर जो लोकोपकार के लिए दानादिपूर्वक धार्मिक या पुण्य भावना से बनाया जाता है।[1]

वेद में वस्त्रकला

संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो वस्त्र धारण करता है। वस्त्र धारण करना सभ्यता का द्योतक है। वस्त्र-धारण का सांस्कृतिक महत्त्व भी है। स्पेंसर ने वस्त्र पहनने की भावना को शृंगार-प्रियता से उद्‌भूत माना है। किन्तु वस्त्र-धारण मनुष्य के सांस्कृतिक परिष्कार का भी द्योतक है। शृंगार की भावना मनुष्य मे कालान्तर में उत्पन्न हुई होगी।

"वैदिक काल का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धा सूत कातना व कपड़ा बुनना था। ऋग्वेद में कितने ही स्थानों पर चरखे द्वारा सूत कातने व कपड़ा बुनने का उल्लेख आता है।[2] ऋग्वेद में कपड़ा बुननेवाले को '**वय**' कहा गया है[3]। **पूषा** को ऊन का कपड़ा बुननेवाला कहा गया है। '**सिरि**' शब्द भी कदाचित् उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। '**तन्तु**', '**तन्त्र**', '**ओतु**', '**तसर**', '**मयूख**' आदि शब्द, जिनका प्रयोग ऋग्वेद में आता है, बुनने की कला से सम्बन्धित थे।[4]

वैदिक काल में वस्त्र-धारण की प्रथा थी और कई-कई वस्तुओं से कई प्रकार के वस्त्र बनाए जाते थे—ऐसे अनेक संकेत

---

1 पं० वीरसेन वेदश्रमी : 'वैदिक सम्पदा', पृ० 138-39

2 A.C. Basu : Indo-Aryan Polity, p. 116

3 2.3.6

4. '**नाहं तन्तुं न वि जानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।**'

—(ऋग० 6.9;2, 3; 10.71.9, 10.86 5)

उपलब्ध होते हैं :

1. हे पवित्र यज्ञ के योग्य विद्वान्! भव्य वस्त्रों को धारण करके हमारे इस यज्ञ को कर।[1]
2. अच्छे श्वेत वस्त्र पहनना—यह हमारी पुरानी पैतृक प्रवृत्ति है।[2]
3. माताएँ पुत्र के लिए वस्त्र बुनती हैं।[3]
4. सुन्दर कल्याणसूचक संग्राम योग्य वस्त्रों को पहने हुए।[4]
5. तन्तुवाय भेड़ की ऊन के सुन्दर स्वच्छ वस्त्र बुनता है।[5]
6. कवच धारण करते हुए।[6]
7. तू ऊन के सदृश नीवि अधोवस्त्र है।[7]

वेद में अन्य उद्योग

"इसके अतिरिक्त रथ बनाने के लिए विभिन्न धातुओं को गलाने, आभूषण बनाने, हथियार बनाने और ऐसे अन्य कितने ही उद्योग-धन्धों का अप्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में आता है। युद्ध के लिए रथ, यातायात व खेती के लिए गाड़ी बनाने की कला से सम्बन्धित बहुत-सी उपमा व रूपक के प्रयोगों से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद-काल में बढ़ई का उद्योग-धन्धा बहुत विकसित था। वह लकड़ी का सब प्रकार का काम करता था।[8] धातुओं का काम करनेवाला भट्ठी में कच्ची धातुओं को गलाकर उनसे बहुत-सी आवश्यक वस्तुएँ बनाता था। घरेलू आवश्यकताओं के बर्तन आदि 'अयस्' धातु के बनाए जाते थे। 'अयस्' धातु के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। इसको कदाचित् तांबे, काँसे या लोहे से

---

1. वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जां पते।
   सेमं नो अध्वरं यज॥ —(ऋग्० 1.26 1)
2. भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः। —(ऋग्० 3.39.2)
3. वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति। —(ऋग्० 5.47 6)
4. भद्रा वस्त्रा समन्या वसानः। —(ऋग्० 9.97 2)
5. वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्। —(ऋग्० 10.26 6)
6. द्रापिं वसानः। —(ऋग्० 9.86.14)
7. सोमस्य नीविरसि। —(यजु० 4.10)
8. ऋग्० 1 161 9; 3 60 2; 10 86 5

सम्बन्धित किया जा सकता है।[1] धातु के बर्तनों के अतिरिक्त लकड़ी व मिट्टी के बर्तन भी बनाए जाते थे, जिनका उपयोग भोजन आदि के लिए किया जाता था। चमड़े को कमाने व उससे विभिन्न वस्तुओं को बनाने का उद्योग भी विकसित हुआ था।[2] बैल के चमड़े से धनुष की रस्सी, रथ को बाँधने की रस्सी, घोड़े की लगाम की रस्सी, कोड़े की रस्सी आदि अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं।[3] बैल के चमड़े की थैलियाँ भी बनाई जाती थीं।[4] इसके अतिरिक्त इस युग में बहुत-से घरेलू व कुटीर उद्योग भी विकसित हुए थे, जैसे कपड़े सीना, घास आदि से चटाई बनाना आदि।

ऋग्वेद-काल में उपरिलिखित उद्योग-धन्धे विकसित किये गए थे, और इन धन्धों को करने की लोगों को पूरी स्वतन्त्रता थी। वे अपनी इच्छानुसार किसी भी उद्योग-धन्धे को कर सकते थे। ऋग्वेद में वर्णन आता है—"मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता अनाज पीसनेवाली हैं।"[5] हम नाना विचारवाले अपने-अपने ढंग से द्रव्य-प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं।

"यजुर्वेद[6] में वैदिक काल के विभिन्न उद्योग-धन्धों को करनेवालों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जैसे—सूत, शैलूष, रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, रज्जु-सर्ज, मृगयु, श्वनी, भिषक्, हस्तिप, अश्वप, गोपाल, अविपाल, अजपाल, सुराकार, हिरण्यकार, वणिक्, ग्वाली आदि। ये सब मिलाकर तेइस उद्योग-धन्धे होते हैं। यदि इन पर आलोचनात्मक विचार किया जाए तो वेदकालीन आर्थिक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। इन उद्योग-धन्धों में समाज के विभिन्न वर्ग प्रतिबिम्बित होते हैं, जिनको आर्थिक दृष्टि से विभिन्न श्रेणियों में रखा जा सकता है। उद्योग-धन्धों को अग्रांकित विभागों में

---

1. Vedic Age (Bhartiya Vidya Bhawan) p. 396
2. ऋग्० 8.5.38
3. ऋग्० 6.75.11; 1.121.9; 6.47.26; 6.46.14; 6.53.9
4. ऋग्० 10.106.10
5. 'कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणी नना।' —(ऋग्० 9.112 3)
6. यजु० 30 6 7 11 17 20

विभाजित किया जा सकता है—

(1) मणिकार, हिरण्यकार, रथकार, हस्तिप व अश्वप।

(2) गोपाल, ग्वाली, तक्षा, धनुष्कार, इषुकार, ज्याकार, भिषक् व कर्मार्।

(3) सूत, शैलूष, कौलाल, अविपाल, अजपाल व सुराकार।

(4) रज्जु-सर्ज, मृगयु व श्वनी।''[1]

वेद में यातायात

व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए यातायात-व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। आवागमन के साधनों के साथ व्यापार का अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है।

पृथ्वी पर यातायात के साधारण साधनों—अश्व, वृषभ तथा रथ—के अतिरिक्त वेद के कुछ संदर्भों में पृथ्वी पर चलनेवाले यन्त्रों का संकेत भी प्राप्त होता हैं, यथा—

हिरण्यशृङ्गोऽयोऽ अस्य पादा मनोजवा। (यजु० 29.20)

जिस यान पर सुवर्ण के समान अग्नि प्रकट करनेवाले शृंग लगे हैं, जिसके पैर लोहे के हैं और जो मनोजवा (मन के समान तेज गति से गमन करनेवाला) है। यह वर्णन लोहे के पहियेवाला तेज गति का और जिसमें अग्नि का प्रयोग हो, ऐसे वाहन, रथ, यान आदि का है। इसी प्रकार एक स्थान पर वर्णन आता है—

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः॥
(ऋग्० 4.36.1)

बिना घोड़ों का, बिना लगाम का प्रशंसनीय तीन चक्र या पहियेवाला रथ इस मन्त्र में बताया है। बिना घोड़ों का रथ यान्त्रिक यान-वाहन आदि ही हो सकते हैं।

वेद में सौ से अधिक चप्पुओंवाली बृहद् नावों का वर्णन है—

सुनावमा रुहेयमस्रवन्तीमनागसम्।
शतारित्राᳪ स्वस्तये॥ (यजु० 21.7)

इससे भी बड़ी नाव का वर्णन इस मन्त्र में है—

---

1 द्र० वेदकालीन समाज पृ० 250 252

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥

(ऋग्० 10.63.10; यजु० 21.6)

हम कल्याण के लिए उत्तम रक्षा, त्राण करनेवाली, सुविस्तीर्ण, प्रकाशवाली, दोषरहित, उत्तम सुख देनेवाली, सुप्रणेत्री, सुन्दर चप्पुओंवाली, त्रुटिरहित, स्रवित न होनेवाली दिव्य नौका पर सवार हों।

इस मन्त्र में '**पृथिवी**' शब्द विस्तृत का द्योतक है अर्थात् जो नाव बहुत विस्तृत है। '**द्यां**' का तात्पर्य प्रकाश, विविध प्रकाश से युक्त है। '**सुशर्माणम्**' का तात्पर्य सुख देनेवाली या उत्तम गृह, निवासादि वाली है। '**दैवीं नावम्**' शब्द स्पष्ट उस नाव की अपूर्वता, उत्तम विशेषताओं की ओर संकेत कर रहा है। बड़े पोत या जहाजों के तुल्य पोतों का यह वर्णन है। वेद में पृथिवी तथा समुद्र के यातायात-साधनों का उल्लेख होने के अतिरिक्त समुद्र के भीतर चलनेवाली नौकाओं, पनडुब्बियों का भी उल्लेख आता है—

यास्ते पूषन् नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः ॥

(ऋग्० 6.58.3)

हे पूषन्, जो तेरी नावें समुद्र के गर्भ में भीतर चलती हैं और अन्तरिक्ष में भी चलती हैं, उनके द्वारा दूत-कर्म को प्राप्त होता है। दूत-कर्म के द्वारा दूर स्थानों से सम्बन्ध एवं गुप्त समाचारों का ज्ञान होता है। समुद्र के भीतर का ज्ञान ऐसी पनडुब्बियों से ही हो सकना है जो समुद्र के भीतर स्वच्छन्दता से चल सकें। इस मन्त्र में पनडुब्बी को '**हिरण्ययी**' कहा है अर्थात् जो प्रकाशयुक्त है। प्रकाशयुक्त पनडुब्बी से समुद्र के अन्तस्तल तथा उसके समीप के क्षेत्र का दर्शन हो सकता है। '**कृतश्रव**' का तात्पर्य है जिसमें वार्तालाप, श्रवण आदि के साधन लगे हैं जिनके द्वारा समुद्र के अन्दर के शब्दों का भी श्रवण हो सकता हो और बाहर के भी शब्दों का, बाहर से वार्तालाप का भी सम्बन्ध हो। पूर्व-मन्त्र में '**पूषा**' की नौका का वर्णन था जो अन्तरिक्ष में भी चलती है और समुद्र के भीतर भी। प्रकृति में प्रकृत तत्त्वों की नौका आदि का वर्णन, उनका अन्तरिक्ष एवं समुद्र के गर्भ में नौका रूप से विचरण का वर्णन

करके वेद उस प्रकार के यन्त्रादि बनाने की प्रेरणा देता है जिसमें वे कार्य संगत हो सकें। निम्नलिखित वेदमन्त्र में अन्तरिक्ष एवं समुद्र की नावों का उल्लेख है। ये नावें दोनों प्रकार की हो सकती हैं अर्थात् दोनों स्थानों में चलनेवाली पृथक्-पृथक् और दोनों स्थानो पर एक ही चलनेवाली हों, जैसा कि—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥ (ऋग्० 1.25.7)

'वे यान-विमान जिनसे अन्तरिक्ष में विचरण करते हुए कहीं उतरें, उनके निर्माण व संचालन आदि को भी जानें।' इस प्रकार वेद में अनेक प्रकार से पृथिवी, समुद्र एवं अन्तरिक्ष में जाने के साधनों का वर्णन किया है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत। (यजु० 12.4)

'तू गरुत्मान् सुपर्ण है। अच्छे पंखवाला, ऊँची उड़ान भरनेवाला है, इसलिए अन्तरिक्ष से भी ऊपर के स्थान द्युलोक में गमन करके द्युलोक के सुखविशेष के स्थानों पर उतर।'

यजुर्वेद में विभिन्न उद्योग-धन्धों की जो सूची दी गई है, तथा ऋग्वेदादि में भी विभिन्न उद्योग-धन्धों का जो वर्णन आता है, उससे यह आभास होता है कि वे उद्योग-धन्धे संगठित रूप में विकसित किये गए थे। किसी विशेष संगठन के बिना इतने अधिक उद्योग-धन्धे विकसित भी नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त बौद्धकाल (ई० पू० 600 वर्ष) में यजुर्वेद में वर्णित सब उद्योग-धन्धों का संगठित स्वरूप वर्तमान था। अतएव यह संभव है कि वैदिक युग में भी व्यापार-व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि संगठित रूप में विकसित किये गए हों।

डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार के मतानुसार[1] पाणि, श्रेष्ठिन् गण आदि शब्द वैदिक साहित्य में वर्णित हैं, जिनसे तत्कालीन संगठित आर्थिक जीवन का बोध होता है और यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक संगठन वेदकालीन सामाजिक व्यवस्था की विशेषता थी।

---

1 R.C Mazumdar Corporate L fe in Ancient India Cl I

वेद में आयुर्वेद

वेद अन्य अनेक विधाओं के समान ही आयुर्वेद के ज्ञान का भी स्रोत है। अथर्ववेद के आठ नामों में से 'भेषजवेद' और 'यातुवेद' ये दो नाम इस बात के द्योतक हैं कि अथर्ववेद में आयुर्वेद का विषय प्रचुर रूप से विद्यमान है।

वैदिक ऋषि आयु को दीर्घ करने का बार-बार उपदेश देते हैं। उनका विश्वास है कि आचार-विचार एवं आहार-व्यवहार के द्वारा आयु को बढ़ाया जा सकता है तथा नीरोग रहा जा सकता है। तथापि यदि किसी कारणवश रोगों का आक्रमण हो ही जाए तो औषधादि द्वारा उसका प्रतिकार आवश्यक हो जाता है।

वेद में मानव-शरीर का वर्णन

''आयुर्वेद का मूल आधार शरीर-विज्ञान है। चिकित्सा के लिए सर्वप्रथम शरीर के सभी अंगों और उनकी विशिष्ट क्रियाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। अथर्ववेद में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है। प्रसिद्ध पार्ष्णी सूक्त (अथर्व० 10.2) में मानव-शरीर के पूर्ण ढाँचे का सांगोपांग नख-शिख वर्णन दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अस्थि-पंजर सम्मुख रखकर नामोल्लेखपूर्वक एक-एक अस्थि का वर्णन किया जा रहा हो। निम्नलिखित मन्त्र मे विद्वानों द्वारा 360 अस्थियों का उल्लेख स्वीकार किया गया है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्ठिश्च खीला अविचाचला ये॥

(अथर्व० 10.8.4)

''बारह परिधियाँ, एक चक्र, तीन धुरे—कौन यह जानता है ?[1] वहाँ तीन सौ आठ अविचल कीलें और खूँटियाँ गड़ी हुई हैं।'' चरक (4.6.6) ने भी 360 हड्डियाँ मानी हैं। एक अन्य सूक्त (अथर्व० 2.33) में भी अवरोह से शरीर के अंगों का नामोल्लेख हुआ है। इस सूची में बाहर से अदृश्य हृदय, यकृत् आदि अंगों का भी परिगणन किया गया है। अथर्व० 1.17.3 में दोनों प्रकार की

---

1 2 आँखें, 2 कान, जिह्वा, नासिका, 2 हाथ, 2 पाँव, गुदा, जनेन्द्रिय 12; चक्र—मानव शरीर मूर्धा धड़ टाँगें 3 धुरे

नाड़ियों (धमनियों और शिराओं) का उल्लेख है और उनकी संख्या क्रमशः एक सौ और एक सहस्र बताई गई है—**शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्**। "आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वर्णित सात मूल धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का उल्लेख अथर्व० (4.12.2, 5) में भी हुआ है। इसके अतिरिक्त गर्भ-विज्ञान और प्रसवशास्त्र का भी अथर्ववेद में सविस्तार वर्णन हुआ है।"[1] वेद के विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर वैद्य रामगोपाल शास्त्री ने 121 मानवीय अंगों की सूची तैयार की है।[2] वेद में मुख्य रूप से ज्वर, मास, गलास, अपचित, जायान्य, हरिमा, मूत्ररोध, क्षेत्रिय, आस्राप, विषूर्च और उन्माद—इन रोगों का वर्णन आया है।

विसल्य, विद्रधि, अलजी, अप्वा (प्रवाहिका), हृत्कम्पन तथा वायु रोगों का गौण रूप में वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त रोगो का नाम न देकर उन अंगों का नाम दिया है जिनमें रोगों को दूर करने का वर्णन आता है। वे अंग ये हैं—नेत्र, नासिका, कर्ण, चिबुक, शिर, मस्तिष्क, जिह्वा, ग्रीवा, पृष्ठवंश, अंस, भुजा, आन्त्र, गुदा, उण्डुक, हृदय, मूत्रप्रणाली, यकृत्, प्लाशि, उरु, जानु, श्रोणि, योनि, लोम, नख, पर्व, क्लोम, पित्ताशय, फुफ्फुस, प्लीहा, उदर, नाभि, अस्थि-मज्जा, स्नायु, धमनी, हेरा (शिरा), हस्त, अँगुली, त्वचा, मूर्धा और कपाल। इन रोग-नामों और अंगों को लिखकर भी वेद ने "अज्ञात यक्ष्माः" (जिसका अर्थ है कि 'जिन रोगों का पता नहीं') पाठ दिया है। इससे सिद्ध है कि रोग अनन्त हैं।[3]

वेद में यक्ष्मनाशन

"वेद में रोग का पर्याय यक्ष्मा है। वेद के देशी और विदेशी कई भाष्यकारों ने आयुर्वेद का ज्ञान न होने के कारण यक्ष्मा पद से राजयक्ष्मा (क्षय) रोग का अर्थ लिया है, जो सर्वथा अशुद्ध है। अथर्ववेद काण्ड 3, सूक्त 11, मन्त्र 1 में पाठ आया है कि—

---

1. डॉ० कृष्णलाल : अथर्ववेद में शारीरिक एवं मानसिक चिकित्सा; पृ 39-40—आर्यसमाज (वसन्त विहार) स्मारिका (1973-74)
2. द्र० : 'वेदों में आयुर्वेद'
3. रामगोपाल शास्त्री · 'वेदों में आयुर्वेद' पृ० 6 · भूमिका ·

'अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'। इस पाठ में राजयक्ष्मा के साथ 'अज्ञात यक्ष्मा' (जिसका अर्थ है अज्ञात रोग) यह पद स्पष्ट करता है कि यक्ष्मा का अर्थ राजयक्ष्मा नहीं। अथर्ववेद 9.8.10 में **'यक्ष्माणां सर्वेषां'** पाठ आया है, यह पाठ भी सिद्ध करता है कि वेद को यक्ष्मा पद से रोगार्थ ग्राह्य है, अन्य नहीं।''[1]

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 163वें सूक्त में शरीर के अनेकानेक अंगों से यक्ष्मनाशन का वर्णन आया है। अथर्ववेद में कहा है—''अंग-अंग, लोम-लोम में जो तेरा यक्ष्म है, पर्व-पर्व और त्वचा का यक्ष्म, उसे हम कश्यप की (विबर्हा) पद्धति से सर्वशरीर में फैले हुए को जड़ से उखाड़ते हैं।'' (अथर्व० 2.33.7)

रोगोत्पत्ति के कारण

वेद में रोगों के तीन कारण आए हैं। पहला कारण शरीर का भीतरी विष है, जो शनैः-शनैः संचित होता रहता है और समय पाकर शरीर में विकार उत्पन्न करता है। दूसरा कारण वेद ने कृमि तथा जीवाणु माने हैं। अदृश्य जीवाणु शरीर में नाना प्रकार के रोगों का कारण बनते हैं। इस प्रकार के जीवाणु-सम्बन्धी वेदमन्त्र को पढ़कर निश्चय होता है कि यह जीवाणुवाद (Germs Theory) प्राचीन काल में विदित था। तीसरा कारण वेद ने त्रिदोष माना है।

रोग के दूसरे कारण कृमि हैं। अथर्ववेद[2] में बताया है कि अन्न, जल, दूध आदि पदार्थों में प्रवेश करके जब कृमि शरीर में पहुँचते हैं, तो पुरुष को रोगी कर देते हैं। अथर्ववेद[3] में लिखा है कि जलादि पीने के अनन्तर उच्छिष्ट पात्रों में कुछ कृमि लगे रहते हैं। वे उच्छिष्ट पात्र में अन्न खानेवाले के शरीर को हानि पहुँचाते हैं।[4] राजयक्ष्मा रोग के कृमि एक शरीर से दूसरे शरीर में पक्षी की भाँति उड़कर प्रवेश करते हैं। ऋग्वेद' में लिखा है कि स्त्रियों को मृतवत्सा और बन्ध्या बनाने का कारण भी कृमि हैं।

---

1. रामगोपाल शास्त्री : 'वेदों में आयुर्वेद', यक्ष्मनाशन प्रकरण, पृ० 25
2. अथर्व० 5.29.6, 7
3. अथर्व० 16.6.7
4. ऋग्० 10 162 2

वेद में कृमियों का वर्णन बहुत विस्तार से आता है; ये जल, स्थल, अन्तरिक्ष और द्यौ में फैले हुए हैं।

जीवाणु (जर्म्स), उदर-कृमि तथा कीट, पतंग आदि इन सब प्रकार के कीटजीवों के लिए, वेद में केवल 'कृमि' पद का ही प्रयोग आता है।

जीवाणु (कृमि) अपक्व, अर्धपक्व, सुपक्व और विपक्व भोजन में प्रवेश कर, शरीर को हानि पहुँचानेवाले कृमि (अथर्व० 5.29.6); जल, दूध, मट्ठे आदि में प्रवेश करनेवाले (अथर्व० 5.29.7); उच्छिष्ट बर्तनों में लगे रहनेवाले जीवाणु जो खान-पान द्वारा शरीर में पहुँचकर हानि पहुँचाते हैं (यजु० 16.62)—**येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्**'। गौ के शरीर में प्रवेश कर, उसका दूध सुखानेवाले (अथर्व० 8.3.15); गर्भाशय में पहुँच, योनि को चाटकर रोगी करनेवाले, गर्भपात करनेवाले, गर्भस्थ बच्चे को मारनेवाले, स्त्रियों को मृतवत्सा और बन्ध्या बनानेवाले जीवाणु (ऋग्० 10.162.2, 4); पुरुष का रुधिर चूसनेवाले (अथर्व० 5.29.10); मांस-शोषक (अथर्व० 5.29.4); और शरीर-वृद्धि का निरोध करनेवाले (अथर्व० 2.25.3); नेत्र, नासिका और दाँतों में पहुँचकर हानि करनेवाले (अथर्व० 5.23.3); मस्तिष्क में पहुँचकर मानसिक रोग उत्पन्न करनेवाले (ऋग्० 10.162.6); मनोहनम् (अथर्व० 5.29.10)। एक पुरुष से दूसरे के शरीर में पक्षी की नाईं उड़कर (जायान्य) राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न करनेवाले कृमि (अथर्व० 7.76.4); शयन के बिस्तरों पर लगे रहनेवाले कृमि 'शयने शयानम्' (अथर्व० 5.29.8)।

दूसरे प्रकार के कृमि जो पर्वत, वन, ओषधि और जलों में रहते हैं—'**ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः**' (अथर्व० 2.31.5)। उदारवेष्टा आदि कृमि जो मनुष्य और पशुओं की आँतों में उत्पन्न होते हैं—'**अन्वाँत्र्यम्**' (अथर्व० 2.31.4)। मल-मूत्रादि गन्दे स्थलों में उत्पन्न होनेवाले '**खलजाः शकधूमजाः**' (अथर्व० 8.6.15); मच्छरादि कृमि जो विषैले देह से रोगी बनाते हैं, '**भेषज्यथो मशकजम्भनी**', '**शकस्यारसं विषम्**' (अथर्व० 7.56.2, 3)। इस प्रकार के अनेक दृष्ट, अदृष्ट कृमियों का वर्णन वेद में आता है। उनके गुण-कर्म से वेद में उनके अनेक नाम दिये हैं। उस

नामावलि को वैद्य ध्यान से पढ़ें।

वेद में कृमियों की चिकित्सा भी बहुत स्थलों में पाई जाती है। विषैले दृष्ट-अदृष्ट कृमि जो अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न करते है, उनका नाशक सूर्य है। इन विषैले कृमियों के सब प्रकार के विष को वह अपने प्रकाश द्वारा नष्ट करता है (ऋग्० 1.161.8)। सूक्त में सूर्य का नाम ही **'अदृष्टहा—अदृष्टान् क्रिमीन् हन्तीति'** अदृष्ट कृमियों को हनन करनेवाला लिखा है। इसके अतिरिक्त वेद में विभिन्न प्रसंगों में कृमिनाशक इन वस्तुओं का प्रयोग विहित है—

1. अग्नि, 2. जल, 3. मरुत्, 4. मेघ, 5. विद्युत्, 6. सूर्य, 7. अजश्रृङ्गी, 8. अपामार्ग, 9. आञ्जन, 10. औक्षगंधि, 11. कार्षार्य, 12. कष्ट, 13. गुग्गलु, 14. नलदी, 15. पीला, 16. पृश्निपर्णी, 17. प्रतिसर, 18. प्रमन्दनी 19. शतावर, 20. शंख, 21. सर्षप, 22. सहस्रचक्षु, 23. सीसक।[1]

वेद में ज्वर-वर्णन

वेद में ज्वर के लिए तक्मा पद आया है। **'तकि कृच्छजीवने'** धातु से तक्मा पद बना है, जिसका अर्थ है जीवन को कष्ट वा दुःख देनेवाला। आमाशयस्थाग्नि की विकृति ही ज्वर का कारण है, **'शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्'** (अथर्व० 1.25.2); (शकल्येषि), जठराग्नि में यदि तेरा (**जनित्रम्**) जन्म है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में बताया गया है कि आमाशयाग्नि कैसे ज्वर उत्पन्न करती है।[2]

गुण-भेद से वेद में ज्वर के लिए निम्नलिखित नाम आते हैं—

शीघलोकः, सहस्राक्षः, अर्चि, तपुः, शृष्मी, तक्मा, ग्रभीता, शोचि, हुडूः, शोकः, अभिशोकः, वरुणस्य पुत्रः, व्यालः, विगदः, व्यंग, अमर्त्यः, पाप्मा, अभिशोचयिष्णु, रुदः, हरितस्य देवः, अभ्रजा, वातजा, शुष्मः, परुष, अंगज्वरः, अङ्गभेद, शीतः, रुरः, तृतीयकः, वितृतीय सदन्दिः, शारदः, वार्षिकः, ग्रैष्मः, विश्वशारदः, अन्येद्यु., उभयद्युः, अरुणः, बभ्रुः, वन्यः, व्यवन, नोदनः, अव्रतः, घुष्णः।

---

1. वैद्य रामगोपाल शास्त्री : 'वेदों में आयुर्वेद'
2. अथर्व० 1 25 1

वेद में ज्वर के अनेक प्रकार के लक्षण तथा ओषधियों का वर्णन प्राप्त होता है।[1]

शरीर में रक्त-संचार (Circulation of blood) का वर्णन बहुत संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित रूप में प्राप्त होता है। धमनी और हिरा (शिरा) में किस प्रकार शुद्ध और अशुद्ध रक्त का प्रवाह होता है—इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के मन्त्रों को देखकर निश्चय होता है कि जो लोग यह कहते हैं कि रक्त-संचार का विचार विदेशी विद्वानों ने दिया है, वह ठीक नहीं।

वेद में शल्य-वर्णन

शल्य-चिकित्सा का वर्णन वेद में बहुत ही संक्षिप्त रूप से आया है, तथापि अश्वियों द्वारा बड़े-बड़े शल्य-कर्म के चमत्कार दिखाए गए हैं। कुछ ओषधियाँ भी लिखी हैं जो व्रण-रोपक और भग्नास्थियों को जोड़नेवाली हैं।

ऋग्वेद में अश्विकुमारों की शल्य-क्रिया वेद के अध्येता को आश्चर्य में डाल देती है। विश्पला की लोह-जंघा का वर्णन भी वहाँ आया है। अथर्ववेद में चोट, अस्थि-भंग तथा अंग-भंग आदि के लिए ऐसी शल्य-क्रिया का वर्णन हुआ है, जिससे शरीरांग पूर्ववत् प्रतीत हों। मूत्रशलाका से मूत्र-निःसारण का भी उल्लेख हुआ है।

वेद में विष-चिकित्सा

वेद में विष (अथर्व० 10.4.22) के पर्याय मदावती[2] और दुष्टनुः[3] आते हैं। यह स्थावर और जंगम दो प्रकार का लिखा है। स्थावर विष पृथिवी, पर्वत, ओषधि तथा कन्दों में आता है।

ओषधि विष का नाम अभ्रिखात है। यह कुदालों से खोदकर बाहर निकाला जाता था, इसलिए इसका नाम (अभ्रि) कुदाल से (खात) खोदी जानेवाली रखा गया। यह बिकाऊ था और (पवस्त)

---

1. अथर्व० 9.8.5, 6; 6.30.1; 1.12.2; 5.23.13 इत्यादि।
2. अथर्व० 4.7.4
3 अथर्व० 4 7 3

तृणविशेष तथा (इर्शाजिन) मृगछालों को मूल्यरूप विनिमय में देकर लिया जाता था।

जंगम विष वेद में सर्प, वृश्चिक, मशक, कीट, पतंग, कृमि, जलचारी विषैले जीव तथा जीवाणुओं में मिलता है। कुछ प्राणियों के शृंग और मल-मूत्रादि में भी होता है। दोनों प्रकार का विष शरीर में अग्निवत् दाह[1] उत्पन्न कर देता है, इससे शरीर में व्रण हो जाते हैं।[2] यह मदोत्पादक और मूर्च्छित करनेवाला है। इससे शरीरवर्ण दूषित हो जाता है, इसलिए विष का नाम ही वेद ने 'दुष्टनुः' रखा है।

वेद ने विष की अनेक ओषधियाँ लिखी हैं—

1. सूर्य विषनाशक है।[3]

2. मधूः नामक वीरुध सर्प, वृश्चिक तथा मशक-विषनाशक हैं।

पैद्व ओषधि का मूल सर्वविषनाशक है। इसका नाम ही वेद में 'अहिघ्न्यः' आता है।[4] इस ओषधि का वर्ण श्वेत है।[5]

जंगम विष का प्रभाव दूर करने के लिए वेद में आयती, परायती, अवघ्नती तथा पिंषती नामक ओषधियों का वर्णन आता है।[6]

वेद में औषध-विज्ञान

रोग-शान्ति के लिए वेद में प्राकृतिक, खनिज, समुद्रज, प्राणिज तथा उद्भिज्ज द्रव्यों का औषधरूप में प्रयोग मिलता है।

प्राकृतिकों में सूर्य, चन्द्र[7] अग्नि[8], मरुत्[9], जल[10], मूला आदि

---

1. द्राविति प्लुषी। —(ऋग्० 1.191.1)
2. खातमखातम्। (अथर्व० 5.13.1)
3. सूर्ये विषमा सजामि। —(ऋग्० 1.191.10)
4. इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः। —(अथर्व० 10.4.7)
5. अव श्वेत पदा जहि। —(अथर्व० 10.4.3)
6. ऋग्० 1.191.2
7. अथर्व० 6.83.1
8 5 29 1
9 ऋग्० 2 33 13· 1 23·7 8
10 अथर्व० 2 24 1

नक्षत्र[1], खनिज द्रव्यों में आञ्जन[2] तथा सीसा[3], समुद्रज में शंख[4], प्राणियों में मृगशृंग[5], और उद्भिजों में अनेक वीरुधों का वर्णन आता है। प्राकृतिक, प्राणिज, खनिज तथा समुद्रज द्रव्यों का वर्णन बहुत संक्षेप में आता है; उद्भिज ओषधियों का वर्णन विस्तृत रूप से मिलता है। ओषधि[6] के पर्याय वीरुध[7], भेषजी[8] तथा वनस्पति[9] आते हैं।

ये ओषधियाँ जीवन प्रदान करनेवाली हैं। सुचारु रूप से प्रयुक्त की हुई ओषधियाँ निष्फल नहीं होतीं। सब प्रकार के रोग और सब घातक कृमियों के प्रभाव को नीरस करती हैं।[10] इनके सेवन से दीर्घायु प्राप्त होती है।[11]

भिषक् का बल ओषधियाँ हैं। जिसके घर में इनका संग्रह है और जो इनका ठीक प्रयोग जानता है, वही बुद्धिमान् भिषक् है। जिस समय वैद्य हाथ में ओषधि को पकड़ता है, रोग उसी समय दूर भागना आरम्भ कर देता है। भिषक् को अपनी जीवन-यात्रा के लिए, ओषधियों से धन, गौ, अश्व, वस्त्रादि प्राप्त होते हैं।

ओषधियों का एक विशेषण '**अपक्रीताः**'[12] आता है, जिसका अर्थ है—ये अमूल्य हैं, अर्थात् ये क्रयण से प्राप्त नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त वेद में ऐसे भी पाठ आते हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि कुछ ओषधियाँ धन से मोल ली जाती थीं और कई ओषधियों को पदार्थ-विनिमय से प्राप्त किया जाता था। कुष्ठौषधि धन से खरीदी जाती थी। वरणावती ओषधि पवसा तथा मृगचर्मों के विनिमय से प्राप्त की जाती थी। एक स्थान पर इसे बिकाऊ भी लिखा है।[13]

ओषधियों के गुणों का ज्ञान पुरुषों को पशु, पक्षी आदि प्राणियों से होता है—ऐसा वेद ने निर्देश किया है। उन प्राणियों में

---

1. अथर्व० 19.7.3; 19.8.1-2
2. अथर्व० 4.9.9
3. अथर्व० 1.16.4
4. अथर्व० 1.10.4
5. अथर्व० 3.7.1
6. अथर्व० 8.7.3
7. 8.7.2
8. 8.7.8
9. 8.7.16
10. ऋग्० 10.97.1-23
11. अथर्व० 8 7 14
12. अथर्व० 8 7 11
13. अथर्व० 4 7 6

गौ, अजा, अवि[1], वराह, नकुल, सर्प, गन्धर्व[2], गरुड, रघट, हंस आदि[3] का नाम आता है। इन नामों के अतिरिक्त **'सर्वे पतत्रिणः'** सब उड़नेवाले पक्षी और **'मृगाः'** सब जंगली मृग लिखे हैं।

यह पाठ सिद्ध करता है कि अपनी चिकित्सा के लिए प्रायः सभी पशु–पक्षियों को स्वाभाविक ज्ञान होता है; वे उस स्वाभाविक ज्ञान से, अपनी रोग–निवृत्ति के लिए किन्हीं ओषधियों का प्रयोग करते हैं। उनमें रहनेवाले तथा उनकी जीवन–विद्या को जाननेवाले पुरुष भी ओषधि–ज्ञान के लिए उनसे बहुत–कुछ सीख लेते हैं।

वेद में वाजीकरण और गर्भाधान प्रकरण भी पर्याप्त विस्तार से आता है।

इस प्रकार वेद में रोग–निवारण के लिए औषधरूप में सूर्य, जल, अग्नि, विद्युत्, वायु, मूला नक्षत्र का वर्णन मिलता है। आंजन, शख, मृगशृंग तथा सीसक के अतिरिक्त शेष सब रोगों की चिकित्सा के लिए वनस्पतियों का प्रयोग आता है। कई ओषधियाँ धनों से बिकती थीं। एक बात वेद में विशेष आई है कि एक रोग के लिए एक ही ओषधि का प्रयोग एक समय में मिलता है, सम्मिलित ओषधियों का नहीं।

नीचे लिखी सत्रह ओषधियों का वर्णन विस्तार से आता है— (1) अजशृंगी, (2) अपामार्ग, (3) अरुंधति, (4) कुष्ठ, (5) केश हरणी, (6) क्लीव करणी, (7) तलाशा, (8) तौविलिका, (9) दशवृक्ष, (10) पाय, (11) पिप्पली, (12) पृश्निपर्णी, (13) रोहिणी, (14) लाक्षा, (15) सहस्रचक्षु, (16) सहस्रपर्णी, (17) सोमलता।

शरीर पर मणि बाँधने का वर्णन भी वेद में मिलता है। यहाँ पर मणि से सूर्यकान्तादि मणि नहीं, प्रत्युत वनस्पतियों की मणियाँ अभिप्रेत हैं। ये मणियाँ रोगनाशक, शत्रुनाशक और बलवर्धक मानी गई हैं।

वेद में मानसिक चिकित्सा

मानसिक चिकित्सा का महत्त्व भी वेद में प्रतिपादित किया

---

1. 8.7.25
3. 8.7.24
3. 8.7.23

गया है। जिस प्रकार आज भी प्रायः चिकित्सक अनेक रोगों का मानसिक कारण मानते हैं और इच्छा-शक्ति या मनःस्वास्थ्य के बल पर रोगों के उपचार में विश्वास करते हैं, उसी प्रकार रोगरूपी शत्रुओं को मन और चित्त द्वारा दूर करने का संकल्प अथर्व० 3.6 8 में व्यक्त किया गया है—

प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा।

यहाँ मन और चित्त का भेद विशेष ध्यान देने योग्य है। एक अन्य मन्त्र (अथर्व० 5.30.8) में रोगी का मन दृढ़ करने तथा इच्छा-शक्ति प्रबल करने के उद्देश्य से उसे सम्बोधित किया गया है कि तुम डरो नहीं, तुम मरोगे नहीं, मैं तुम्हें कष्टरहित बनाता हूँ। मै तुम्हारे अंगों से अंग-ज्वररूप रोग को बाहर कर रहा हूँ—

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव॥

मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का एक और उदाहरण हरिमा (पाण्डु) रोग के प्रसंग में है, जहाँ रोगी के सब ओर लाल या पीली वस्तुएँ रखने का विधान है—

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि। (अथर्व० 1.22.2)

सम्भवतया उन वस्तुओं को देखकर रोगी पीतत्व से मुक्त हो जाता है, या वे वस्तुएँ रोगी के पीतत्व को अपने वर्ण में समाहित कर लेती हैं।[1]

इस प्रकार वेद में जहाँ मनुष्य के आर्थिक विकास के लिए अनेक प्रकार के उद्योगों, शिल्पों, कलाओं और वाणिज्य आदि का वर्णन प्राप्त होता है, वहाँ मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक रोगों के निदान तथा चिकित्सा के लिए सुविकसित आयुर्वेद का भी सन्निवेश किया गया है। आयुर्वेद के मूलभूत सभी सिद्धान्त हमें वेद में उपलब्ध हो जाते हैं। वैदिक संकेतों से यह भी स्पष्ट है कि उनमें वर्णित वास्तुकला, स्थापत्यकला तथा विमानादि बनाने की कला एवं विज्ञान अत्यन्त उन्नत कोटि के हैं। आवश्यकता इस बात की है कि वेद में आए वैज्ञानिक संदर्भों को गम्भीर गवेषणा द्वारा उद्घाटित किया जाए।

---

1. डॉ० कृष्णलाल : 'अथर्ववेद में शारीरिक एवं मानसिक चिकित्सा', पृ० 41-42 (वसन्त विहार) स्मारिका (1973 74)

उपसंहार

इस चराचर जगत् में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो विवेक-बुद्धि से समन्वित है। वही ज्ञान की प्राप्ति कर तदनुसार शुभ कर्मों का सम्पादन कर कल्याण-पथ का पथिक बनने का अधिकारी है। मनुष्य-योनि एवं मनुष्यत्व की महत्ता को विश्व के सभी धर्मग्रन्थों, विचारकों और दार्शनिकों ने एक स्वर से सोद्घोष स्वीकार किया है।

सम्पूर्ण सृष्टि में मानव की श्रेष्ठता और मानव-शरीर की दुर्लभता के कारण समय-समय पर मानव-कल्याण को लेकर अनेक प्रकार के अध्ययनों, आन्दोलनों, दर्शनों व चिन्तनधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ है। सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल का मूल मनुष्य ही है। इस मानव-हित को लेकर पाश्चात्य जगत् में 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में, 'मानववाद' दर्शन की एक विचारधारा के रूप में प्रारम्भ हुआ। मानववाद समष्टिगत होकर व्यष्टि-कल्याण की चिन्तन-धारा है। वह समस्त मानव-जाति को लक्ष्य मानकर व्यष्टि-मानव के कल्याण का जीवन-दर्शन है। मानवीय गुणों के प्रति जागरूकता ने पुनर्जागरण-काल में मानव-गौरव की स्थापना की और साहित्यकारों, नीति-शास्त्रियों, शिक्षा-विशारदों, धार्मिक नेताओं तथा राजनीतिक और सामाजिक चिन्तकों को आकृष्ट किया। बीसवीं शताब्दी के प्रो० शिलर ने कहा कि मानव-अनुभव ही इस संसार में चिन्तन का विषय, समस्त मूल्यों का मापदण्ड और समस्त वस्तुओं का निर्माता है। इस प्रकार मानववाद आधुनिक काल का एक प्रसिद्ध और बृहत् दर्शन बन गया और साम्यवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद तथा अन्य अनेक रूपों में मानव-हित के उद्देश्य को लेकर समाज के चिन्तकों के मनन का विषय

बना। मानव-हित के लिए मानववाद को धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, भौतिकवादी एवं राजनीतिक आदि अनेक दर्शनों की प्रतियोगिता में आना पड़ा। पश्चिम में काण्ट, सार्त्र, शिलर, जाक मारितां, श्वाइत्ज़र, कारलिस लेमांट, जॉन स्टुअर्ट मिल आदि तथा भारतीय विचारकों में भी श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, श्री पी०टी० राजू, श्रीमती ऐलन राय तथा श्री शिवनारायण राय आदि कितने ही विद्वानों ने मानववाद को अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया।

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने व्यावहारिक बुद्धि की मुख्यता का उल्लेख किया तथा शिलर उसे मानते हुए प्रेय की धारणा को प्रधान और सत्य व यथार्थ की धारणाओं को गौण मानते हैं। सार्त्र व्यक्ति स्वातन्त्र्य को आवश्यक मानते हैं और उनका अस्तित्ववाद मानव-केन्द्रित होकर रह गया है। फ्रेंच विचारक जाक मारितां आन्तरिक मानवीय गुणों का विकास करने पर बल देते हुए भौतिक जीवन के आनन्द को क्षुद्र मानते हैं और त्यागमय वीरोचित जीवन की कामना को मानववाद में आवश्यक बतलाते हैं। वे मानववाद में धर्म और ईश्वर के साथ नैतिक और सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति को अनिवार्य मानते हैं। इसके विपरीत जॉन स्टुअर्ट मिल आदि अनेकानेक दार्शनिक मानववाद का मूल भाव ऐसी नैतिकता को मानते हैं जो ऐहिक जीवन, भौतिकवाद तथा सांसारिक सुख तक सीमित है तथा जो प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता का भौतिक दृष्टि से ही मूल्यांकन करती हैं—आध्यात्मिक अथवा पारलौकिकता के लिए उसमें कोई स्थान नहीं।

प्रो० पेरी ने शिक्षा-सम्बन्धी तत्त्व पर अपनी परिभाषा में प्रकाश डाला। प्रो० लेमांट ने सृजनात्मक स्वतन्त्रता और मानव-मानव में मैत्री-भावना को अपने मानववाद में स्थान दिया है। डॉ० अलबर्ट श्वाइत्ज़र ने मनुष्यमात्र की समानता को महत्त्व दिया है। इस समानता के लिए नैतिक गुणों का विकास और उनका पोषण अनिवार्य माना है। श्री अब्राहम का मत भी मानववाद में अलौकिक तथा दैवी विशेषताओं का संकेत करता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण वक्तव्य का अभिप्राय यह है कि अभी बीसवी सदी में पश्चिम में पनपे का कोई निश्चित एव

नियत परिभाषा नहीं बन पाई है। तथापि, यह एक ऐसा जीवन-दर्शन है जो लोकमंगल की भावना, ममत्व की भावना तथा भेदभावों, पूर्वाग्रहों एवं अन्धविश्वासों से उन्मुक्त होकर औदात्य और त्याग का दिव्य सन्देश देता है तथा मानव के अन्तःबाह्य परिष्कार के द्वारा उसे मानवोचित गुणों से युक्त करके पूर्ण विकास की ओर अग्रसर करता है। किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, वर्तमान मानववाद के चिन्तकों एवं पोषकों ने मानव-कल्याण के विभिन्न तत्त्वों पर प्रायः एकांगी दृष्टि से ही विचार किया है। जिन चिन्तकों ने मनुष्य के भौतिक और आत्मिक उभयविध विकास की आवश्यकता को अनुभव किया, वे भी मानव-जीवन की कोई ऐसी निश्चित योजना प्रस्तुत नहीं कर सके जिसका अवलम्बन करके मानव व्यष्टि एवं समष्टिगत अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि कर सके।

इसके विपरीत वैदिक संस्कृति के प्रणेता तत्त्वदर्शी महर्षियों ने आत्मानुभूति व अन्तर्दर्शन से इस समस्त चराचर सृष्टि के मूल में निहित सृष्टि की निमित्त-कारण, सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी उस परमसत्ता का साक्षात्कार किया जिसके नियन्त्रण में यह निखिल ब्रह्माण्ड चल रहा है। उसके नियम—ऋत—अटल एवं शाश्वत हैं। प्राणिमात्र उसी परमपिता की सन्तान-रूप है। ईश्वर दयालु एवं न्यायकारी है। वास्तविक दया के लिए न्याय-व्यवस्था परमावश्यक है—यह बात लोकसिद्ध है। अतः उसकी अटल न्याय-व्यवस्था—कर्मसिद्धान्त—के फलस्वरूप ही प्राणी विभिन्न योनियों में संसरण करता है। वस्तुत समस्त प्राणियों में निहित आत्मा एक है। वह अजर और अमर है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्मानुसार ही विभिन्न शरीरों को प्राप्त होता है। अतः सब प्राणियों में एक आत्मतत्त्व के दर्शन करना तथा सबको परमपिता की सन्तान समझकर उनमें भ्रातृभाव रखना वैदिक दर्शन की शिक्षा है। इसके साथ ही वैदिक कर्म-सिद्धान्त सब प्रकार की नैतिकताओं का मूल है।

वैदिक तत्त्वद्रष्टाओं का विश्वास है कि निरन्तर संस्कार से प्राणी शनैः-शनैः ऊँचा उठता हुआ अन्ततः परमात्म-साक्षात्कार कर मोक्ष व अपवर्ग का अधिकारी बनता है। किन्तु वैदिक दर्शन

सब प्राणियों में भ्रातृत्व भाव सबकी उन्नति में ही अपनी

उन्नति समझने का आधार प्रस्तुत करता है। यहाँ हिंसक पशुओं की हिंसक वृत्ति का भी नियमन कर उनकी शक्तियों का प्राणि-हित मे उपयोग कर उन्हें भी आत्म-विकास के पथ पर ले-आया जाता है।

किन्तु मनुष्य के ही बुद्धि-समन्वित प्राणी होने से वैदिक ज्ञान व दर्शन का केन्द्रबिन्दु तो मनुष्य ही है। अन्य प्राणी तो 'भोग-योनि' में जन्म लेने से अन्तःप्रवृत्तियों से ही विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। केवल मनुष्य ही 'कर्म-योनि' में जन्म ग्रहण कराता है और बुद्धिपूर्वक शुभ कर्मों में प्रवृत्त होकर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के बन्धन को काटकर मोक्ष-पद का अधिकारी बन सकता है। किन्तु इस मुक्ति के लिए वैदिक धर्म इस संसार को तुच्छ या दुःखरूप मानकर इससे भागने का सन्देश नहीं देता। यह विश्व भी ब्रह्मरूप ही है और प्रत्येक मनुष्य को इसका भोग करना ही है। क्योंकि सब प्राणी आपस में भाई-बन्धु हैं, अतः समस्त भौतिक पदार्थों का उपभोग एवं ज्ञान-विज्ञान का उपयोग सबने मिलकर करना है—यह विचार उसमें त्यागपूर्वक उपभोग करने की दिव्य प्रेरणा—**त्यक्तेन भुंजीथाः**—उत्पन्न करता है।

भौतिकता और आध्यात्मिकता का सन्तुलन और सामंजस्य वैदिक संस्कृति की ऐकान्तिक विशेषता है। यहाँ मानव-जीवन को एक अविच्छिन्न इकाई मानकर उसके शारीरिक, मानसिक एव आत्मिक—सर्वविध—विकास की योजना बनाई गई है। वैदिक आश्रम-व्यवस्था जहाँ व्यक्ति के पूर्ण विकास की व्यवस्था है, वहाँ वैदिक वर्ण-व्यवस्था मानव के सामूहिक विकास की। दोनों एक-साथ चलती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपास्य यम-नियमों में भी जहाँ 'नियम' प्रधान रूप से व्यष्टि के उत्कर्ष का मूल हैं, वहाँ यमों की भूमि पर ही समस्त मानव-कल्याण का प्रासाद प्रतिष्ठित है। अस्तित्ववादी भी सत्य, अहिंसा आदि का किसी न किसी रूप में आश्रय लेता है; किन्तु उसका आधार बालुकामय ही होता है और उस पर निर्मित मानव-कल्याण का महल किसी भी समय धराशायी हो सकता है। यही कारण है कि विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की रट लगा-लगाकर भी समय-समय पर व्यक्तियों और राष्ट्रों ने मानव-जाति को युद्ध और हिंसा की आग में झोंका है।

वैदिक संस्कृति का प्राण है 'यज्ञ' यह मात्र कर्मकाण्ड व

बाह्य न होकर मनुष्य की आत्मा का अंग भी है और व्यक्ति को—सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय—त्याग की प्रेरणा देता रहता है।

एक ईश्वर में अटूट विश्वास एवं उसकी उपासना, परमात्मा की अटल व्यवस्था—'ऋत तत्त्व' के अनुसार सत्यमय जीवन, सब प्राणियों में समदृष्टि, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति मानना, अष्टांग-योग द्वारा व्यष्टि-समष्टि का सर्वविध उत्कर्ष करना ही वैदिक समाज-व्यवस्था का तथा वैदिक शासन-व्यवस्था का भी मूलमन्त्र है।

वेद में मानव के नैतिक और आत्मिक विकास के लिए जहाँ एक सुनियोजित आचारशास्त्र (Ethics) का विधान है, वहाँ मानव के भौतिक अभ्युदय के लिए विविध प्रकार के विज्ञान, शिल्प, उद्योग एवं कलाएँ भी वेद में वर्णित हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है।

इस प्रकार यद्यपि मानव-कल्याण की प्रबल भावना से ही पश्चिम में मानववादी चिन्तनधारा प्रवृत्त हुई, किन्तु वह अभी अपनी विकास-परम्परा में ही है और मानव-हित के लिए उसके सर्वविध विकास और चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई निश्चित एवं एकसूत्र में ग्रथित समाज-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था और आचारशास्त्र (Ethics) नहीं दे सकी। हमारा विश्वास है कि ऊपर वर्णित वैदिक धर्म ही मानववाद का सच्चा सुन्दर स्वरूप और शान्ति का शाश्वत मार्ग प्रशस्त करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

आधारभूत वैदिक ग्रन्थ

1. **ऋग्वेद-संहिता**—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
2. **ऋग्वेद-भाष्य**—स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
3. **ऋग्वेद-भाष्य** (वेदार्थ प्रकाश)—सायण, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
4. **ऋग्वेद-भाषाभाष्य**—पं० जयदेव विद्यालंकार, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
5. **यजुर्वेद-संहिता**—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
6. **यजुर्वेद-भाष्य**—स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
7. **यजुर्वेद-भाष्य**—उव्वट, महीधर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
8. **यजुर्वेद-भाषाभाष्य**—पं० जयदेव विद्यालंकार, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
9. **सामवेद-संहिता**—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
10. **सामवेद-भाषाभाष्य**—पं० जयदेव विद्यालंकार, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
11. **अथर्ववेद संहिता**—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
12. **अथर्ववेद-भाषाभाष्य**—पं० जयदेव विद्यालंकार, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
13. **शतपथ ब्राह्मण**—पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, मेहरचंद लछमनदास, दिल्ली (हिन्दी अनुवाद-सहित)
14. **ऐतरेय ब्राह्मण** (श्रीषड्गुरु शिष्यविरचित सुखप्रदावृत्ति सहितम्)—अनन्तशयन संस्कृतग्रन्थावलिः।

15 **ऐतरेय ब्राह्मण (स०)**— सामश्रमी 1895

पंचविंश ब्राह्मण (सं०)—आनन्दचन्द्र, कलकत्ता, 1870
तैत्तिरीय ब्राह्मण (सं०)—सत्यव्रत सामश्रमी, मैसूर, 1921
गोपथ ब्राह्मण (सं०)—गास्ट्रा, लीडेन, 1919
ईशादि नौ उपनिषद्—शांकर-भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर
छान्दोग्य उपनिषद्—शांकर-भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर
बृहदारण्यक उपनिषद्—शांकर-भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर
ईशोपनिषद् भाष्य—पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, दिल्ली
एकादशोपनिषत्—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
उपनिषद्-रहस्य (1.10)—नारायण स्वामी, सार्वदेशिक प्रकाशन
आश्वलायन श्रौतसूत्र (सं०)—डा० मंगल देव शास्त्री, बनारस
आश्वलायन गृह्यसूत्र—(हरदत्त भाष्य-सहित), त्रिवेन्द्रम्, 192
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (सं०)—चिन्नस्वामी, बनारस, 1928
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (सं०)—चिन्नस्वामी, बड़ौदा, 1955
बोधायन गृह्यसूत्र (सं०)—श्री निवासाचार्य, मैसूर, 1904
भरद्वाज गृह्यसूत्र—सोलामन, लीडेन, 1913
द्राह्यायण गृह्यसूत्र (सं०)—गणेश शास्त्री, पूना, 1914
कात्यायन श्रौतसूत्र (सं०)—विद्याधर शर्मा, बनारस, 1928
कौशिका गृह्यसूत्र (सं०)—चिन्नस्वामी, मद्रास, 1944
काठक गृह्यसूत्र (सं०)—कैलेण्ड, लाहौर, 1915
गोभिल गृह्यसूत्र (सं०)—सी० भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1935
मानव गृह्यसूत्र—बड़ौदा, 1926
पारस्कर गृह्यसूत्र—चौखम्बा, बनारस
निरुक्तम् (दुर्ग-वृत्ति)—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः
वेदार्थ-दीपक निरुक्त-भाष्य—चन्द्रमणि विद्यालंकार, गुरुकुल
निघण्टु तथा निरुक्त—लक्ष्मणसरूप, (अनु०) सत्यभूष
मोतीलाल बनारसीदास
निरुक्त शास्त्रम्—भगवद्दत्त, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

वेद-विषयक सहायक ग्रन्थ

[illegible] भूमिका—स्वामी दयानन्द, अजमेर
स्वामी दयानन्द अजमेर

4. **वैदिक कर्त्तव्य-शास्त्र**—पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी
5. **वैदिक वीर गर्जना**—पं० रामनाथ वेदालंकार
6. **वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व**—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
7. **वैदिक सम्पत्ति**—रघुनन्दन शर्मा, बम्बई, 1969
8. **वैदिक सम्पदा**—पं० वीरसेन वेदश्रमी, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली
9. **मेरा धर्म**—आ० प्रियव्रत वेदवाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी
10. **वेदोद्यान के चुने हुए फूल**—आ० प्रियव्रत वेदवाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी
11. **वैदिक युग और आदिमानव**—आ० वैद्यनाथ शास्त्री, सार्वदेशिक सभा दिल्ली
12. **दर्शनतत्त्व विवेचन**—आ० वैद्यनाथ शास्त्री, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली
13. **मोक्ष का वैदिक मार्ग**—आ० वैद्यनाथ शास्त्री, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली
14. **वैदिक ज्योति**—आ० वैद्यनाथ शास्त्री, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली
15. **वैदिक इतिहास विमर्श**—आ० वैद्यनाथ शास्त्री, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली
16. **वैदिक संस्कृति और सभ्यता**—डॉ० मुंशीराम शर्मा, ग्रन्थम्, कानपुर
17. **वेदकालीन समाज**—डॉ० शिवदत्त ज्ञानी, चौखम्बा, वाराणसी
18. **वेद-रहस्य (3 भाग)**—अरविन्द, (अनु०) आ० अभयदेव, पाण्डिचेरी
19. **वेद-विद्या**—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
20. **वेद-रश्मि**—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
21. **भारतीय संस्कृति का विकास**—डॉ० मंगलदेव शास्त्री, काशी विद्यापीठ
22. **वेदों में आयुर्वेद**—वैद्य रामगोपाल शास्त्री, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर
23. **वेद-सार**—आ० विश्वबन्धु, होशियारपुर
24. **वैदिक व्याख्यानमाला** (भाग 1-4)—सातवलेकर, पारडी (गुजरात)
25. **वैदिक विनय**—आ० अभयदेव, गुरुकुल कांगड़ी
26. **वैदिक संस्कृति**—पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली
27. **वैदिक साहित्य में नारी**—डॉ० प्रशान्तकुमार, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली
28. **वैदिक सिद्धान्त**—पं० चमूपति
29. **वैदिक संग्रह**—डॉ० कृष्णलाल, विभु प्रकाशन, दिल्ली
30. **हिन्दू संस्कार**—राजबलि पाण्डेय
31. **वैदिक साहित्य और संस्कृति**—बलदेव उपाध्याय, वाराणसी
32. **वैदिक वाङ्मय का इतिहास**—पं० भगवद्दत्त, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर
33. **वैदिक कोश**—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री, बनारस, 1965

34. **वैदिक देव शास्त्र**—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री (अनु०), मेहरचंद लछमनदास, दिल्ली
35. **वैदिक धर्म एवं दर्शन**—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री (अनु०), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
36. **वेदकालीन राज्य व्यवस्था**—डॉ० श्यामलाल पाण्डेय, हिन्दी समिति, लखनऊ

अन्य सहायक ग्रन्थ

1. **भारत और विश्व**—डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
2. **मानव और धर्म**—डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
3. **मानव और मानवता**—आनन्द स्वामी
4. **भारतीय दर्शन**—बलदेव उपाध्याय, बनारस
5. **भारतीय दर्शन**—उमेश मिश्र, दरभंगा
6. **भारतीय दर्शन का विकास**—डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री
7. **संस्कृति का दार्शनिक विवेचन**—डॉ० देवराज
8. **मीमांसा सूत्र**—जैमिनि
9. **वेदान्त सूत्र**—व्यास
10. **सांख्य सूत्र**—कपिल
11. **न्याय सूत्र**—गौतम
12. **योग सूत्र**—पतंजलि
13. **श्रीमद्भगवद् गीता**
14. **रामायण**—वाल्मीकि
15. **महाभारत**—व्यास
16. **श्रीमद्भागवत**—व्यास
17. **शिव संहिता**
18. **मनुस्मृति**
19. **याज्ञवल्क्य स्मृति**
20. **उत्तराध्याय सूत्र**—भगवान् महावीर
21. **नीतिशास्त्र**—शान्ति जोशी
22. **पंचयज्ञप्रकाश**—पं० बुद्धदेव विद्यालंकार
23. **कम्यूनिज़्म**—पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
24 **गुरुकुल पत्रिका** (वेदयोगांक) फाल्गुन-चैत्र (2029 30)

25. जीवन-ज्योति—पं० चमूपति
26. कल्याण (मानवता अंक)
27. बाइबल
28. कुरान

अंग्रेजी ग्रन्थ

1 *A History of English Literature*—Emile Legouis & Loı Cazamien
2 A History of Europe—Henri Pırenne
3. *A History of Middle Ages*—Sir Sidney Painter
4. A History of Political Theory—G H. Sabine
5. A History of Western Morals—C. Brinton
6. Albert Schweitzer : *An Introduction*—Jacques Feschotte
7. Albert Schweitzer—George Seaver
8. An Idealist View of Life—S. Radhakrishnan
9 An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge N K. Dewaraja
10. Aryasamaj, Its Cult and Creed—Acharya Vaidyana Shastri
11 *Biographies of Words and House of Aryans*—Maxmull
12. Brief View of the Caste System of the North-West Pro inces & Oudh—Nesfield
13. Colliers Encyclopaedia, Vol X
14. Confucius : His Life and Time—Lui Wuchi
15. Contemporary British Philosophy—J.H. Muirhead
16. *Contribution of Aryasamaj in the Making of Modern I dia* (1875–1947)—Radhey Shyam Pareek, Sarvadeshik
17. Corporate Life in Ancient India—A.C. Mazumdar
18. Creative Unity—Rabindranath Tagore
19. Dayanand Commemoration Volume, Ajmer
20. Dayanand and Veda—Shri Aurobindo
21. Dravidian Studies—T. Sriniwas Ayangar
22. Encyclopaedia Americana, Vol XIV
23. Encyclopaedia Britannica, Vol XI
24. Encyclopaedia of Religion—Vergilius Fern
25 Encyclopaedia of Social Sciences

Essays on Indology—Dr. Satya Vrat, Meh
Lacchmandas, Delhi
Existentialism and Humanism—Jean Paul Sartre
Fountain-Head of Religion—G.P Upadhyaya
Greek Political Thinkers—William Abenstein
Hindu Polity—K P. Jaiswal
Hindu Superiority—Harbilas Sharda, Ajmer
History of Ancient Sanskrit Literature—Ma
Panini office, Allahabad
History of Indian Literature, Vol. I, Part I, Winterr
Humanism as a Philosophy—Corliss Lamont
Humanism : Greek Ideal and its Survival—Moses
Humanistic Ethics—Cardner Wilhomy
Humanity and Deity—William Marshall Urban
Humanity of Man—Ralph Barton Perry
Hymns from the Rigveda—Macdonell
Ideas of Great Philosophers—S.S. Frost
India : What Can It Teach Us—Prof. Maxmuller
Indian Inheritance—Dr. A.C. Bose (Bhartiya
Bhawan)
Indo-Aryan Polity—A C Basu
In Man's Own Image—Ellen Roy & S. Roy
Lectures in Ethics—Immanual Kant
My Experiments With Truth—M.K. Gandhi
Mythology of the Hindus—Charles Coleman
New Frontiers for Freedom—Erwin D. Casham
Nichomachau Ethics, Part IV
On the Vedas (1956)—Shri Aurobindo, Pondicherr
Origin and Spread of Tamils—Shri Ramchandra D
Original Sanskrit Texts—Muir
Path to Peace—Dr James Cousins
Philosophy of Zoroastrianism and Comparative S
Religion—Furdun Dada
Pragmatism—William James
Reason in Action—Hector Hawton
Recovery of Faith—S. Radhakrishnan
Religion des Veda, Berlin (1894)

59. **Religion of Man**— Rabindranath Tagore
60 **Rigvedic India and Rigveda Culture**—A.C.Das
61. **Rigvedic Culture**—Ganga Prasad Upadhyaya
62. **Rigveda Unveiled**—Dwij Dass
63. **Sciences in Vedas**—Acharya V N. Shastri, (Sarvadeshi Delhi, 1970)
64. **Short History of the Christian Church**—C.P.S Clarke
65. **Some Fundamental Problems in Indian Philosophy**— Kunhan Raja
66. **Studies in Indology**—Dr. D.N. Shastri (Meharchar Lacchman Das, Delhi)
67. **Superiority of the Vedic Religion**—W D. Brown
68. **The Arctic Home in the Vedas**—B.G Tilak
69. **The Authority and Individual**—Bertrand Russel
70. **The Bible in India**—Jacolliot, Vol.II
71. **The Call of the Vedas**—Dr. A.C. Bose (Bhartiya Vid Bhawan, Bombay)
72. **The Complete Works of Swami Vivekanand,** Vol, VI
73. **The Concept of Man**—S. Radhakrishnan & P.T. Raju (Ed tors)
74. **The Crisis of Human Person**—J.B. Coates
75. **The Elements of Folk Psychology**—Wilhelm Wundt
76. **The Ideal of Human Unity**—Shri Aurobindo
77. **The Meaning of Life in Hinduism and Buddhism**—Fl H. Ross
78. **The Mind of Africa**—W.E. Abraham
79 **The Myth of the State**—Ernst Cassirer
80. **The Oldest Book of the Aryan Race**—B.G. Tilak
81 **The Perrenial Philosophy**—Aldous Huxley
82. **The Philosophy of Ernst Cassirer**—P.A. Schilpp
83. **The Position of Woman in Hindu Civilization**—D Altekar
84. **The Pragmatic Humanism of F.C.S. Schiller**—Reube Ahel
85. **The Principles of Morality and the Depths of Mor Life**—Wilhelm Wundt
86 **The Religion of Hindus**—Kenneth W Morgen

87 **The Religion of the Rigveda**—Griswold
88. **The Religion of the Veda**—Bloomfield
89. **The Rigveda and Vedic Religion**—Clayton
90. **The Social Philosophers**—Saxe Commins & Robert N. Linscott
91. **The Teachings of the Vedas**—Rev. Morris Philip
92. **The Vedic Age,** (Itihas Samiti, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay; London—George Allen of Unwin Ltd)
93. **The Wisdom of Confucius**—Lin yu Tang
94. **To Himself**—Marcus Antonius
95. **True Humanism**—Jacques Maritain
96. **Truth in God**—M.K. Gandhi
97. **Vedic Concordance**—Bloomfield
98. **Vedic Heritage**—Satya Vrat Siddhantalankar
99. **Vedic Index of Names and Subjects**—Prof Macdonell and A.B. Keith
100. **Vedic India**—Ragozin
101. **Webster's Twentieth Century Dictionary** (2nd edition)
102. **Wisdom of Ancient Indians**—Schlegel
103. **Women**—M.K. Gandhi

❑❑

लेखक की अन्य पुस्तकें

VEDIC HUMANISM (Path to Peace)
SANDHYA-AGNIHOTRA (Bilingual)
शान्ति का शाश्वत मार्ग (हिन्दी) (वैदिक मानववाद)
विश्वशान्ति नो मूलमंत्र : गायत्री (Gujarati)
मोक्षनो साचो मार्ग : ओंकार (Gujarati)
By
An eminent scholar of international fame
Dr. Dilip Vidyamartand
M.A. Ph. D.

- An exquisite publications
- A guiding light for humanity
- From these books you will get new light and new outlook
- Place your order and reserve your copy today
- For more information please contact:
    1. Phone : (630) 753 9967, (630) 886 4740 (USA)
       E-mail : vedalankar@hotmail.com
    2. Govindram Hasanand, Delhi-6 (India)
       Phone : 3914945, 3977216
       E-mail : ajayarya@ndb.vsnl.net.in

ईश्वरीय वाणी

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म-राजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥ *यजुर्वेद 26.2*

मैं परमेश्वर इस कल्याणकारिणी वेदवाणी का अर्थात् संसार को मुक्ति और सुख—दोनों देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का सब मनुष्यों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र स्त्रियादि सबके लिए उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो।